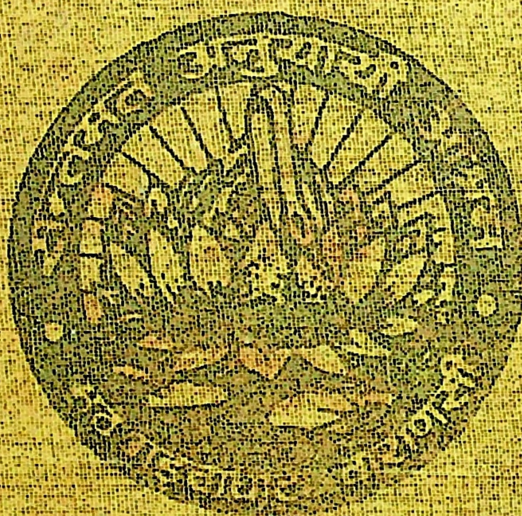
॥ श्रीसद्गुरवे नमः ॥

सन्त-सद्गुरु और उपनिषद्

प्रेरणास्रोत

श्री १०८ श्रीस्वामी सतगुरुसरनानन्दजी महाराज

परमहंस



महेशदत्त शुक्ल



सन्तमतानुयायी आश्रम

म० गड़वाघाट

वाराणसी

विद्यानुरागी परमादरणीय श्री रमेशचन्द्र
रूँगटाजी को सादर उपहृत ।
[illegible]
१८.१२.६७

॥ श्रीसद्गुरवे नमः ॥

सनातन-धर्म-रहस्य-पुष्प-१३

सन्त-सद्गुरु और उपनिषद्

प्रेरणास्त्रोत

श्री १०८ श्री सतगुरुसरनानन्दजी महाराज परमहंस

लेखक

महेशदत्त शुक्ल

सनातनधर्म-प्रबोधिनी कुटीर

(मूलस्थान—मठ गड़वाघाट)

वाराणसी

गुरुपूर्णिमा, सं० २०५४, सन् १९९७ ई०

प्रकाशक –
महात्मा रामप्रकाशानन्द
सनातनधर्म-प्रबोधिनी कुटीर
सी० ४/८३, सराय गोवर्धन, वाराणसी।
ⓒ ३५०२५४ .

संस्करण – प्रथम
प्रतियाँ २२००
मूल्य –

संगणक द्वारा साजसज्जा :-
ए० के० कम्प्यूटर्स
तेलियाबाग, वाराणसी।

मुद्रक :-
पूर्वांचल प्रिंटिंग प्रेस
(आफसेट)
सी०२८/६० तेलियाबाग, वाराणसी।
ⓒ ३४२४०६

शुद्धिपत्र

[असावधानी के लिए हृदय से क्षमा चाहते हुए विनम्र प्रार्थना है कि निम्नलिखित अशुद्धियो को शुद्ध करके ही पुस्तक पढ़ने की कृपा करें।]

पृष्ठ	पंक्ति	अशुद्ध	शुद्ध
प्रका०१	१२	- - - दत्तजी से	- - - दत्तजी ने
२	अन्तिम	की मूल	का मूल
२२	१८	नास्त्यअणीयान्	नास्त्यणीयान्
३७	११	सं मानव-देह	से। मानव-देह
४८	१	भसति	भासति
५३	२२	ज्ञान का स्वरूप वतलाते हुए ज्ञान – कहा गया	ज्ञान – ज्ञान का स्वरूप वतलाते हुए कहा गया
५६	१२	कर्मेन्द्रियाँ	इन्द्रियाँ
६०	१५	समझा देता है। वह	- - देता है वह
७०	२८	सिद्धयन्ति	सिद्ध्यन्ति
७०	२६	गुरूदेशमाकर्ण्य	गुरूपदेशमाकर्ण्य
७२	१४	महापुरुषो	महापुरुष
१०१	१७	व्रह्मण के	व्राह्मण के
१०३	६	पाञ्चभौतिकत्वेन	पाञ्चभौतिकत्वेन
१०५ टि० ७		जाते जिससे	जाते हैं जिससे
१०६	१७	कृत्वाऽऽमसात्	कृत्वाऽऽत्मसात्
१४०	८	सहो	सहारे
१५४	६	हर्ष-षोक	हर्ष-शोक
१६२	१६	हँसे – वोले	हँसे-वोलें
१६८	२२	कर जीव ॥	कर घीव ॥
१६६	२५	भटकता है	भटकत है
१७७	२	ाीजे कैंड़ा ॥	लीजैं कैंड़ा ॥
१७८	१७	एक प	एक पठान
१७६	१३	परमात्मा स्वरूप	परमात्मस्वरूप
१८६	४	इसिलिये	इसलिये
२२०	११	उनके का	उनके स्वागत का
२२६	५	सरल और उपाय	सरल उपाय
२३५	७	लगा करता –	लगा करता।
२५५	१२	क मावैं ॥	कमावै ॥
२६८	६	मुझसे	मुझमे
२६२	१७	का	की ओर
२६३	२३	एकरते	करते
३०३	८	मूर्धानि	मूर्धनि

प्रकाशकीय

मनुष्य का सब प्रकार का कल्याण सदा से तत्त्ववेत्ता महापुरुषों द्वारा होता आया है, इस वात से संसार के सभी लोग सहमत भी हैं और परिचित भी। किन्तु इस तथ्य के प्रतिपादक निगमागम ग्रन्थों का पढ़ना-समझना कम होता गया और परमार्थ से सम्बन्ध रखनेवाली उदात्त परम्पराएँ दोषयुक्त होती चली गईं। फलतः उन्हीं परम्पराओं में उलझे तथा पूर्वाग्रहों से जकड़े हुए लोग कल्याण-प्राप्ति के सही-सच्चे उपाय से वंचित हो गए।

वाराणसी के सन्तमत-अनुयायी आश्रम मठ गड़वाघाट में सुदीर्घकाल से तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरुदेव परानाम के उपदेश द्वारा जीवों का उद्धार कार्य करते आ रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक के लेखक पं० महेशदत्त शुक्ल तथा भूमिका-लेखक आचार्य पं० राममूर्ति त्रिपाठी अपनी छात्रावस्था से ही इस आश्रम से सम्बद्ध रहे हैं तथा दोनों संस्कृत भाषा के विद्वान् भी हैं।

सद्गुरुदेव की प्रेरणा से महेशदत्तजी से उपनिषदों से सन्तमत में प्रतिष्ठित मान्यताओं के समर्थक प्रसंग और वचन संकलित किए और सर्वमान्य तत्त्वदर्शी सन्त-महापुरुषों की वाणियाँ भी संगृहीत कर उन मान्यताओं को परिपुष्ट करने वाली इस शोधपूर्ण पुस्तक की रचना कर दी। शुक्लजी के व्यक्तित्व में गुरु-निष्ठा और विद्वत्ता के मणिकाञ्चन संयोग (मणि या रत्न और सोने के मेल) ने परमार्थ के शुद्ध स्वरूप की, लक्ष्य की ओर उन्मुख एक समृद्ध पृष्ठभूमि का निर्माण किया है। इस आध्यात्मिक पृष्ठभूमि पर ही यह रचना प्रतिफलित हुई है। लेखक के इस शोधपूर्ण कार्य के लिए हृदय से स्वाभाविक ही साधुवाद निकल पड़ते हैं।

आश्रम से प्रकाशित तथा उत्तरप्रदेश-सरकार द्वारा पुरस्कृत 'सन्त-मत : साधना और सिद्धान्त' नामक वैदुष्यपूर्ण ग्रन्थ के रचयिता आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी उच्चकोटि के लब्धप्रतिष्ठ विद्वान् हैं तथा सन्तमत के मर्मज्ञ भी। सद्गुरु दरवार के प्रति आपकी अटूट आस्था है। अत्यधिक व्यस्त रहते हुए भी आपने इस पुस्तक पर सारगर्भित भूमिका लिखकर आश्रम की जो सेवा की है इसके लिए आप साधुवाद के पात्र हैं।

पूर्वांचल प्रिंटिंग प्रेस के मालिक तथा कर्मचारी-गण इस आश्रम के अनन्य भक्त हैं। उन्होंने निष्ठापूर्वक जिस तीव्रता और मनोयोग से पुस्तक को समय से मुद्रित कर दिया इसके लिए वे भी प्रशंसा के पात्र हैं।

मति कीरति गति भूति भलाई। जव जेहि जतन जहाँ जो पाई ॥
सो जानव सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ ॥

सन्त तुलसीदासजी के इस उद्घोष पर पर्याप्त प्रकाश डालना तथा जन-मानस में इस तथ्य का महत्त्व अंकित करना पुस्तक-प्रकाशन का उद्देश्य है। आशा है सहृदय जिज्ञासुजन इसे पढ़कर तथा इसके अनुरूप आचरण कर अवश्य लाभान्वित होंगे।

गुरुपूर्णिमा
२० - ७ - १९९७

— रामप्रकाशानन्द

विषय-सूची

विषय पृष्ठ

उपनिषत्खण्ड

सन्त-वाणी-खण्ड

***

भूमिका

उपनिष्द् की समस्त ज्ञानगंगाएँ आचार्य अथवा श्रीसद्गुरु की ही गंगोत्री या गोमुख से प्रवाहित हुई हैं। बृहदारण्यक उपनिषद् में ऐसे विद्वानों को उपहास-भाजन रूप में प्रस्तुत किया गया है जिन्हें केवल बुद्धि के स्तर का शास्त्रज्ञान है, जो मात्र बहुश्रुत हैं, पर उसका रस अपरोक्षीकृत नहीं हुआ है, उसका आस्वाद प्राप्त नही हुआ है। श्वेतकेतु ऐसा ही उन्मद पोथी-पण्डित था। एक वार राजसभा में अपने वैदुष्य की धाक जमाने के उद्देश्य से श्वेतकेतु पाञ्चालनरेश प्रवाहण के दरवार में गया। प्रवाहण ने उससे जीवन-मरण की समस्या से सम्बद्ध पाँच प्रश्न किए, जिनका उत्तर उससे नहीं बन पड़ा। लौटकर अपने पिता और गुरु आरुणि के पास गया, पर उन्होंने भी उन प्रश्नों के सम्बन्ध में अपनी अनभिज्ञता प्रकट की। फिर दोनों विनत भाव से पाञ्चालनरेश प्रवाहण के पास पहुँचे। उस पहुँचे हुए आचार्य या सद्गुरु ने उन्हें पात्र समझकर पञ्चाग्निविद्या का उपदेश दिया और वे कृतकृत्यता का अनुभव करके चले गए।

श्रीसद्गुरु अनुभव की आग शिष्य में संक्रान्त कर देता है, शिष्य के भीतर प्रसुप्त शक्ति को जगा देता है, आत्मप्रत्यभिज्ञा करा देता है, अपनी पहचान करा देता है। शुद्ध दार्शनिक विचार एक भयावह जंगल है, जहाँ यात्री अपने गन्तव्य से भटक जाता है और जाना कहाँ है पर पहुँच कहाँ जाता है। शास्त्र विजय-पराजय के लिए नहीं लिखे गए हैं, वे सच्ची राह पर चलने के लिये लिखे गए हैं। गन्तव्य तक पहुँचना रागतः होनेवाले प्रवृत्ति-निवृत्तिरूप प्रयत्न से सम्भव नहीं है, स्वैरभाव या स्वेच्छाचार से सम्भव नहीं है, गीताकार के शव्दों में 'कामकारतः' सम्भव नहीं है। गन्तव्य तक पहुँचकर शास्त्र का मर्म जाननेवाले श्रीसद्गुरु के निर्देशानुसार चलने से ही सम्भव है। शास्त्र का मर्म भी मात्र वहुश्रुतता से नहीं जाना जा सकता, उसके

लिये आन्तर प्रज्ञा जरूरी है। कलछुल दाल में ही वरावर पड़ी रहती है, पर दाल का स्वाद क्या वह कभी जान पाई है ! महाभारतकार कहता है –

यस्य नास्ति निजा प्रज्ञा केवलन्तु वहुश्रुतः।
शास्त्रार्थं न विजानाति दर्वी सूपरसं यथा ॥

छान्दोग्य उपनिषद् में इस सत्य का प्रतिपादन अनेक प्रकार की आख्यायिकाओं से किया गया है। एक आख्यायिका है – दृप्त बालाकि गार्ग्य और अजातशत्रु की। काशिराज अजातशत्रु तत्त्वज्ञ था, उसमें गुरुभाव प्रतिष्ठित था, और गार्ग्य था अभिमानी। गार्ग्य ने अजातशत्रु से कहा – 'मैं तुम्हें ब्रह्म का उपदेश करता हूँ।' राजा अजातशत्रु ने उसे उसी क्षण एक सहस्र सुवर्णमुद्राएँ भेंट कर दीं। इस घटना के आख्यान से श्रुति तत्त्वज्ञ महात्माओं की उस वृत्ति की सूचना देती है जो दूसरों का दोष नहीं देखती। ठीक ही है, वे सन्तजन प्रत्यग्भावापन्न होते हैं – उलटे हुए नहीं, पलटे हुए होते हैं। उपनिषद् के इस आख्यान से तत्त्वज्ञानी श्री सद्गुरुदेव की महत्ता भी प्रकट होती है। यह उसकी गुणग्राहिता ही है कि विद्वान् वक्ता के प्रति, जिसने अभी केवल प्रतिज्ञा ही की है, अपनी अनुपम उदारता व्यक्त कर दी।

और आगे सुनें तत्त्वज्ञ श्री सद्गुरु की महिमा। आगे हुआ यह कि गार्ग्य ने जिन-जिन आदित्यादि के अभिमानी पुरुषों में व्रह्मत्व का आरोप किया, तत्त्वज्ञ अजातशत्रु ने उन्हें परिच्छिन्न देवमात्र वताकर उनकी उपासना का भी विशिष्ट फल बताते हुए उस सबका निषेध कर दिया। इस प्रकार अपनी मति की गति के कुण्ठित हो जाने से गार्ग्य का अभिमान विगलित हो गया और उसने तत्त्वज्ञान के लिये उस तत्त्वज्ञ श्रीसद्गुरु अजातशत्रु की शरण पकड़ी। उस तत्त्वज्ञ सन्त ने एक और चमत्कार किया। तत्त्वज्ञ अजातशत्रु गार्ग्य का हाथ पकड़कर महल के भीतर ले गया और सोए हुए एक पुरुष के पास जाकर प्राण के अभिमानी चन्द्रमा के 'सोम, राजन्' इत्यादि नामों से पुकारा। पर इन नामों से पुकारने पर वह पुरुष नहीं उठा। तब उस तत्त्वज्ञ सन्त ने उसे हाथ से दवाया और वह तुरन्त उठकर खड़ा हो गया। इस आख्यान से श्रुति या उपनिषदें यह वताती हैं कि जितने भी नाम-रूपाभिमानी देव हैं वे वस्तुतः विज्ञानमय आत्मा नहीं हैं। विज्ञानात्मा नाम-रूप से परे है, वह सन्तों का 'अनामा' पुरुष है। ये देव उसी की विभूतियाँ हैं। इन्द्रियों को प्रेरित

करने के कारण ये उनके प्राण हैं, पर वह अनामा, निःअच्छर, सन्त-सद्गुरु अनामा पुरुष उन प्राणों का भी प्राण है।

यह रहस्यमय ज्ञान, जिसे सन्तों ने पाया है, जो उपनिषदों में भलीभाँति वर्णित हुआ है, कल्प-कल्पान्तर से चलता चला आ रहा है। ज्ञान की यह परम्परा अनादि है। अशरीरी 'सवद' ही शरीरी होता है लोकमंगल के लिये, और वही देव सदाशिव श्रीसद्गुरु स्वयं गुरु-शिष्य-भावापन्न होकर इस परम्परा को चलाता रहता है। श्रीसद्गुरु की कृपा से जिसमें पात्रता आ जाती है उसे ही वह अकुण्ठभाव से उपदेश देकर विकुण्ठ वना देता है। श्वेताश्वतर इसी परम्परा की विभूति थे, इसी परम्परा में वे तत्त्वज्ञ हुए थे। उनकी दृढ धारणा है –

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

– जिस साधक की परमदेव परासत्ता में परमभक्ति होती है, तथा वैसी ही अपने शरीरी सवदरूप श्रीसद्गुरु में होती है उसी सच्चे पात्र सत्शिष्य में, उसी के हृदय में ये रहस्य प्रकाशित होते हैं।

अभिप्राय यह कि जिज्ञासु शिष्य को अपने श्रीसद्गुरु के प्रति पूर्ण श्रद्धालु और भक्त वनना चाहिए। जिसमें पूर्ण श्रद्धा और भक्ति होती है, वहीं यह गूढ़ भाव या अर्थ खुलता है। कुमारिल और शवरस्वामी ने जिन संस्कारों की वात कही है, जिनसे मलापनयन और अतिशय का आधान होता है, वे संस्कार श्रद्धा और भक्ति से ही उपजते हैं। तभी साधक शिष्य में सत्पात्रता आती है और तभी कृपालु की कृपा चरितार्थ होती है।

श्रीसद्गुरु शरीरधारी 'सवद' हैं। प्रस्तुत कृति उन्हीं का श्रद्धापूर्वक स्मरण है, उन्हीं की महिमा का गान है – विनयसिक्त स्तवन है, भावभरित व्याख्यान है, उन्हीं का यशोगान है, उन्हीं के नाम-रूप का वखान है, उन्हीं के लोकोत्तर चरित की प्रस्तुति है, उसी अकारण-करुणा-वरुणालय जगतारन की लोकमंगलविधायिनी लीला का निरूपण है।

शक्तिसमवेत परा सत्ता अशरीरी 'सवद' है। उस अखण्ड, पूर्ण अद्वैत सत्ता में एक से अनेक होने की अनुपम क्षमता है। वह जगत्नाट्यरसिक है, सृष्टि उसी की आनन्दसमुच्छल अभिव्यक्ति है, यह सव उसी का एकल अभिनय है, वह एक

ही अपनी क्षमताविशेष से विभिन्न जीवों की भूमिका ग्रहण करता है – जीवभाव स्वरूपविस्मृति का ही दूसरा नाम है। स्वरूपविस्मृत जीव के अचेतन में अपने मूलरूप को पाने की विस्मयावह बेचैनी है, व्याकुलीभाव है, पर्युत्सुकीभाव है, इसीलिये देश-काल के चौखटे में चाहे जितना भी विषयरस छलछला उठे, अचेतन स्तर की अतृप्ति उतनी ही तीव्र हो उठती है, तड़प वढ़ जाती है, जीव अविश्रान्त भाव से इस बेचैनी को हटाने, उस परम विश्रान्ति या स्वरूपभूत पूर्णता को पा लेने के लिये अनवरत छटपटाता रहता है, पर क्या विडम्बना है ! वह चाहता क्या है, और खोजता कहाँ है ? अद्भुत है उसकी लीला। चाहता है अपने ही मूलरूप को पाना, अपने को ही पाना, पर उसके प्रयत्न के सारे उपकरण औंधे हैं, अन्तःकरण तथा वहिःकरण सभी उल्टे पड़े हैं और ऊपर से जन्म-जन्मान्तर से अर्जित, उपचित वासनाराशि का दुर्निवार धक्का !

स्वरूपविमुख या स्वरूपविस्मृत जीव अनात्म या विषय की चिलचिलाती रेत में अविश्रान्त भाव से अहर्निश दौड़ता रहता है, पर स्वरूप की प्यास विरूप कैसे मिटाएगा ? विरूप, अनात्म या विषय इसीलिये विषय है कि वह विषिन्वन करता है, बाँध देता है – 'विषिन्वन्ति आत्मानमिति विषयाः'। खोज में भूला ही तो भटकता है। अनात्म, विषय, अपूर्ण में पूणंता ? नहीं। वह तो वहाँ स्वप्न ही है, स्वप्न क्या, दुःस्वप्न है। वासना के धक्के से उल्टी दिशा में दौड़ते जीव को तृप्ति का भ्रम प्रदा करनेवाला सुख का जलविन्दु उसकी आशादूर्वा की नोक से देखते-देखते ढुलक जाता है। यह प्रक्रिया कभी समाप्त नहीं होती। मन अविश्रान्त भाव से निरन्तर धावमान रहता है इसीलिये उसे चंचल कहा गया है। उसकी स्थिरता दुष्कर ही नहीं सुदुष्कर लगती है। भला आज तक कोई वायु को अपनी मुट्ठी में बाँध सका है ?

कठोपनिषद् का ऋषि कहता है –

पराञ्चि खानि व्यतृणत् स्वयम्भूस्तस्मात् पराङ् पश्यति नान्तरात्मन्।
कश्चिद् धीरः प्रत्यगात्मानमैक्षदावृत्तचक्षुरमृतत्वमिच्छन् ॥

– स्वयम्भू ने जीव के सम्पूर्ण (जन्य) ज्ञानोपयोगी उपकरणों को पराङ्मुख बनाया है, औंधा कर दिया है, स्वरूप से विमुख कर विरूप की ओर मोड़ दिया है। यही कारण है कि वह अनात्म, विरूप या विषय को ही, आत्मेतर को ही, 'पर' को ही

देखता है, उसी में 'स्व' को, अपने को पाने की चिराकांक्षा को पूर्ण होते देखना चाहता है। उसकी चिराकांक्षा है अतृप्ति से तृप्ति की ओर जाने की, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाने की, मृत्यु से अमरता की ओर जाने की, असत् से सत् की ओर जाने की, पर यह हो कैसे ?

तथागत से जुड़ी एक घटना प्रसिद्ध है। किसी वेश्या में आसक्त कुछ मनचले वैभवशाली युवकों ने उसके बिछुड़ जाने से व्यग्र होकर सामने आते हुए तथागत से पूछा – 'भन्ते, इधर से होकर कोई वेश्या गई है ? आपने देखा है ?' तथागत ने कहा – 'उसे नहीं, अपने को खोजो। कहाँ अचिर में चिर को, अपूर्ण में पूर्ण को, अविश्रान्ति में विश्रान्ति को ढूँढ़ रहे हो !' विषय-वेश्या के पीछे वेहोश दौड़ते जीव की यही स्थिति है। श्रीसद्गुरु ही तथागत है। वही विषयासक्त जीव को चेताता है। भूलना-भुलाना अपने अधीन है, पर सही ठिकाने पर पहुँच जाना अपने बूते का नहीं है। इसके लिये एक मात्र श्रीसद्गुरु ही शरण हैं –

वह दिला दें याद, गर भूला है तू ।
औ करें आजाद, गर वंदा है तू ॥

इस छटपटाते जीव की दुर्वार वेदना और व्याकुलता को देखकर नित्यावतार शरीरी 'सवद' श्रीसद्गुरु, अकारण-करुणा-वरुणालय, मार्गदर्शक द्रवित हो उठता है और उसे अपनी शरण में ले लेने के लिये उतना ही व्याकुल रहता है। उसकी कृपावृष्टि निरन्तर होती रहती है, पर हाय रे जीव, तेरा तो वर्तन ही औंधा है तो अव क्या हो ?

समस्या है वर्तन के सीधा होने की, पात्रता की। ससुराल से लौटने पर वृषभानु ने दुलारी राधा से पूछा – 'वेटी, नये घर में सव ठीक तो है? कोई अभाव तो नहीं ?' राधा ने कहा – 'पिताजी, कोई अभाव नहीं, सव तरफ पूर्णता ही पूर्णता है, दूध-दही का समुद्र उमड़ता रहता है, पर एक कमी है, और वह कमी है पात्र की। वह आपकी ओर से चाहिए।'

राधाभाव, कान्ताभाव ही पात्र है, पात्रता है, वह वृषभानु ही दे सकता है। मतलव, वरसती कृपा की दुग्धधारा को समेट रखने के लिये कान्ताभाव की पात्रता चाहिए। यह पात्रता आते-आते ही आती है। इसके लिए धैर्य चाहिए, उतावली नहीं। ऐसा धैर्य किसी-किसी मे ही होता है। वही साधनीभूत करणों की चेतना को उलट पाता है, अनात्म की ओर से आत्मा की ओर मोड़

पाता है, परागूभाव[1] से प्रत्यगूभाव की प्राप्ति कर पाता है। श्री अरविन्द ने इसी प्रत्यग्भावापन्न चेतना को चैत्यपुरुष[2] कहा है, जो तल में प्रसुप्त रहता है।

श्रीसद्गुरु पात्र शिष्य को नाम-दान करता है, उसके जप और उसके अर्थ-भावन की प्रक्रिया बताता है। शिष्य वही शिष्य है जिसमें पत्नीभाव आ जाय। जिस प्रकार पत्नी पति के समक्ष सर्वात्मना निरावरण हो जाती है उसी प्रकार शिष्य को भी श्रीसद्गुरु के समक्ष सर्वात्मना खुला रहना चाहिए, तभी वह पति को, श्रीसद्गुरु को धारण कर पाता है, उसे भीतर पा लेता है। व्यक्त पति पत्नी में अव्यक्त भाव से, सम्भावना रूप से स्थित आत्मरूप, निजरूप को आकार प्रदान कर देता है। इसी को सन्तों ने कहा है –

ब्रह्म झलकै सीस।

शिष्य का यह रागमय समर्पण सम्पूर्ण बीच को, अन्तर को, भेद को मिटा देता है, दोनों को एकात्म कर देता है –

ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति।

द्रुतिशील[3] चित्त का भक्त इस भूमि पर नहीं रमता, वह इससे भी आगे जाता है। यह स्तर रूक्ष-चिन्तनवाले ज्ञानियों का है। ज्ञानी 'अहं ब्रह्मास्मि' की

१- परागूभाव (विषय की ओर प्रवाहित चेतना)। परागू और प्रत्यगू – ये दोनों परस्पर विपरीतार्थक हैं। ज्ञानेन्द्रियों से उत्पन्न चेतना यदि अनात्म या विषय की ओर जाती हैं तो यह चेतना का परागूभाव हैं, वहिर्मुखीभाव है, उलटना या औंधा होना है। निष्काम कर्म से, लोकमंगल की भावना से, परार्थ-सम्पादन की भावना से यदि मल (वासना) शान्त होता है तो वहीं चेतना आत्मा की ओर पलट जाती है। यही चेतना का प्रत्यगूभाव हैं, अपनी ओर पलटना है।

२- चैत्यपुरुष (आत्मविकास के प्रति जागरूक चेतना)। उत्तलीय कामनामय पुरुष के विपरीत है – चैत्यपुरुष। वासना के धक्के से तरंगित चेतनामय पुरुष उत्तलीय – सतही कामनामय पुरुष और तल में प्रसुप्त आत्मविकास की ओर उन्मुख चेतना चैत्यपुरुष है।

३- द्रुतिशील (पिघलनेवाला)। वेदान्त दर्शन मानता है कि भौतिक अवयवों से घटित अन्तःकरण पिघलता भी है और सिमटता भी है। पहले प्रकार की विशेषता भक्तों के चित्त की होती है और दूसरे प्रकार की विशेषता विषयलिप्त अज्ञानियों की होती है। ज्ञानी का चित्त विषयलिप्त नहीं होता, पर कल्पित भेद की भूमि पर रमण की इच्छा के न होने से उसमें द्रुतिशीलता भी नहीं होती। उसके यहाँ आराध्य-आराधक भाव

भूमि पर रहता है, भक्त इस भावभूमि को वर्दाश्त नहीं कर पाता। वह कैसे मान सकता है कि वह और श्रीसद्गुरु एक हैं ! ऐसी समझ ठीक होने पर भी भक्त के लिये बिल्कुल ठीक नहीं है। उसका तर्क है कि तरंग की सत्ता समुद्र की सत्ता से भिन्न नहीं है, पर इससे यह तो सिद्ध नहीं होता कि तरंग का समुद्र है। सत्ता एक होने पर भी तरंग समुद्र की हैं, न कि समुद्र तरंग का। रहस्यदर्शी मर्मी साधकों ने कहा है –

सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्।
सामुद्रो हि तरङ्गः क्वचन समुद्रो न तारङ्गः ॥

यह सही है कि प्रेम प्रिय और प्रेमी का भेद समाप्त कर देता है परन्तु प्रेमी अपनी ओर से अपने से प्रिय का दर्जा बड़ा ही मानता है। ज्ञानी भक्त अपने सद्गुरु को कैसे अपने से एक मान सकता है ? वह सदा 'वही' होकर नहीं, 'उसका' होकर रहना चाहता है।

प्रीत सद्गुरु की तू हरदम धार यार।
औलियाओं का बना इस ही से कार ॥

हल्लाज मंसूर ने 'अनलहक' कहकर यही अपराध किया था। 'परमसत्ता मैं ही हूँ' कहकर उसने परानुभूति में 'मैं'पन का समावेश कर दिया था, यह उनका दुर्निवार अपराध था। इसी से आगे आनेवाले सन्तों ने कहा कि हकीकत यह है कि कतरा और दरिया में कोई फर्क नहीं, पर हल्लाज मंसूर का यह बड़बोलापन है कि वह दोनों को एक कह देता है, अपने को 'वही है' समझ लेता है।

क़तरा अपना भी हकीकत में है दरिया लेकिन।
हमको मंजूर तनकजुरफिए[1] मंसूर नहीं ॥

ज्ञानी की दृष्टि से 'तुभ्यं मह्यं नमो नमः' ठीक है, पर ज्ञानी भक्त इसे कभी भी ठीक नहीं समझता।

ग्रन्थ के मूल लेखक आचार्य पं० महेशदत्त शुक्ल भावसिक्त आविष्ट दशा में ये सारी वातें कभी वोध के स्तर पर और कभी अबोधपूर्वक झर-झर कहते चले जाते हैं। भारतीय मेधा 'मौलिक' कहने का दम्भ नहीं भरती, पर प्रामाणिक अवश्य कहना चाहती है, इसलिये वह ऋषियों, रहस्यदर्शियां, सन्तों और भक्तों के आप्त

ही नहीं है – अतः चित्त के लगाव के लिए द्रुतिशीलता की अपेक्षा ही नहीं है। स्वरूप-वोध या तत्त्ववोध ही उसका लक्ष्य है।

१- तनकजुरफिए (फारसी शव्द) – बड़बोलापन।

वचनों और बानियों की निरन्तर सहायता लेती है, उनका साक्ष्य देती चलती है। सम्पूर्ण ग्रन्थ में लेखक की यही पद्धति विद्यमान है। यहाँ का कथन न तो 'उत्सूत्र' है और न ही अनपेक्षित।

यह अकारण नहीं है कि श्री सद्गुरु के स्तवन और स्मरण से सारा भारतीय वाङ्मय भरा पड़ा है – क्या वेद, क्या पुराण, क्या महाकाव्य, क्या दर्शन, क्या सूत्र और क्या संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा भाषाबद्ध भारत का विशाल वाङ्मय। बात यह है कि उपकृत उपकारी का कृतज्ञ होता है, और ऐसे उपकारी से उपकृत व्यक्ति, जो दैहिक, दैविक और भौतिक – त्रिविध-ताप-परितप्त जीव को अपनी अहैतुकी कृपा से उवार लेता है, अपने उवारनेवाले को कैसे भूल सकता है ! असल में उसके स्मरण-रस से उपकृत का रोम-रोम, रक्त का कण-कण, चेतना का पूर्ण घट इतना सिक्त रहता है कि वह अभिव्यक्ति के प्रत्येक द्वार से उमड़-उमड़कर वह जाने को व्याकुल होता है, प्रवाहित होने को फड़फड़ाता रहता है। प्रस्तुत ग्रन्थ का लेखक कैसे अपवाद हो सकता है ? उसके द्वारा जो कुछ हुआ है, होना ही चाहिए।

इस अवसर पर गड़वाघाट आश्रम की देह में आत्मा की तरह विद्यमान ज्योतिर्मय श्रीसद्गुरुदेव के स्मरण से रोमाञ्च हो जाता है जो स्वयं लेखक की चेतना में प्रेरणास्रोत वनकर उसे सक्रिय करते रहते है, गाते खुद हैं और श्रेयभाजन उसे वनाते हैं। यदि उनसे निरन्तर प्रेरणा न मिलती रहती, प्रोत्साहन और आशीः का पाथेय न मिलता रहता, तो यह गौरव-भावगर्भ सारस्वत यात्रा कैसे सम्पन्न हो पाती !

अन्ततः उसी ज्योतिर्मय कल्याणमूर्ति श्रीसद्गुरु का वारम्वार स्मरण करता हुआ लेखनी को विराम देता हूँ।

गुरुपूर्णिमा
२० - ७ - १९९७

तुच्छातितुच्छ सेवक –
राममूर्ति त्रिपाठी

प्राक्-कथन

छात्रावस्था से ही वाराणसी के विशुद्ध सन्त-दरवार मठ गड़वाघाट आश्रम का अनुपम वात्सल्य सुलभ रहा। ब्राह्मण-परिवार के कर्मकाण्डी संस्कारों से जकड़ा हुआ संस्कृत का यह छात्र तत्कालीन पूज्य स्वामीजी के सामने उपास्य, उपासना आदि के संवन्ध में नित-नये प्रश्न लेकर उपस्थित होता और स्वामीजी के स्नेह में पगे युक्तिपूर्ण उत्तर इस छात्र के मन में सहजता से उतरकर तत्काल उनका समाधान कर देते।

उस प्रसंग में पूज्य स्वामीजी ने कहा था कि 'उपनिषद् नाम इसी व्रह्मविद्या का है। तुम जो पूछते हो इस सवका उत्तर उपनिषदों में लिखा है। तुम तो संस्कृत पढ़ते हो, पण्डितजी हो, स्वयं पढ़कर देख लो, मैं कोई झूठी बात नहीं कहता।'

उपनिषदों के प्रति जिज्ञासा का यह बीज दार्घकाल के वाद अंकुरित हुआ। पूज्य स्वामीजी की कृपा से समय मिलते ही एक सौ वीस उपनिषदों के संग्रह (मूल) का वाचन सम्भव हो सका। पूज्य स्वामीर्जा की उस समय की वाणी का लोकोत्तर असीम महत्त्व समझने में उपनिषदों का यह वाचन वड़ा सहायक सिद्ध हुआ। घूम-फिरकर तीन शव्दों पर ही दृष्टि स्थिर हो गई -- ज्ञान, सद्गुरु और सेवा।

मुण्डकोपनिषद् का कथन है कि मनुष्य को दो विद्याओं का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए – परा और अपरा, ऐसा ब्रह्मज्ञानी महापुरुषों का कथन है। अपरा विद्या के अन्तर्गत ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद ये चारों वेद तथा शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष, ये वेदांग माने जाते हैं। परा विद्या वह है जिसके द्वारा उस अक्षरब्रह्म का ज्ञान प्राप्त किया जाता है –

द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्माह यद् ब्रह्मविदो वदन्ति। तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदो ह्यथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्यौतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते।

— मुण्डकोप० १।१।४-५

यहाँ अक्षर ब्रह्म का वही ज्ञान विवक्षित है जो परा विद्या द्वारा प्राप्त किया जाता है। श्रीकृष्ण इसी ज्ञान की महिमा बतलाते हुए कहते हैं कि अर्जुन, ज्ञान जैसी पवित्र कोई दूसरी वस्तु संसार में नहीं है —

नहि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

— श्रीमद्भगवद्गीता ४।३८

ऋग्वेद का तो महावाक्य ही है —

'प्रज्ञानं ब्रह्म'।

अर्थात् सबसे ऊँचा ज्ञान ही ब्रह्म है। उसी ज्ञान को प्राप्त करने की सम्पूर्ण प्रक्रिया वह महान् ज्ञानयज्ञ हैं जिसमें अन्य सभी कर्म समा जाते हैं, विलीन हो जाते हैं —

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

— वही, ४।३३

अविद्या को मिटानेवाले इसी ज्ञान के विषय में वेद की स्पष्ट घोषणा है कि

ऋते ज्ञानान्न मुक्तिः।

अर्थात् इस ज्ञान के बिना जीव को संसार से, जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति मिल ही नहीं सकती।

जब हम सोचते हैं कि वह पवित्र ज्ञान हमें कैसे प्राप्त हो, तो एक सीधी सी बात बड़ी सरलता से समझ में आती है कि वह ज्ञान जिस पुरुष के पास होगा उसी से, उस ब्रह्मज्ञानी पुरुष से ही हम उसे प्राप्त कर सकते हैं। रामायण, गीता, भागवत आदि पवित्र आध्यात्मिक ग्रन्थों को पढ़ लेने या उनके पाठमात्र से वह ज्ञान उत्पन्न हो जायगा, ऐसा समझना ठीक नहीं होगा क्योंकि वे ग्रन्थ इसलिये पवित्र माने जाते हैं कि उनमें उस पवित्रतम ज्ञान की महिमा लिखी है, उसे प्राप्त करने के सुनिश्चित अनुभूत उपाय लिखे हैं, ज्ञान उनमें कहाँ। ज्ञान तो उन्हें अपनाने पर, उनके अनुसार चलने से ही प्राप्त होगा, उनके पाठ मात्र से नहीं। सन्त तुलसीदास नाना-पुराण-निगमागम-सम्मत अपना सुनिश्चित मत व्यक्त करते हुए मानस में कहते हैं —

बिनु सतसंग बिबेक न होई।

— सत्य-असत्य का ज्ञान बिना सत्संग के हो ही नहीं सकता।

इस प्रसंग में श्रीमद्भागवत, एकादश स्कन्ध का बारहवाँ अध्याय अवश्य देखना चाहिए जिसमें केवल सन्त-सद्गुरु की उपासना का ही महत्त्व बताया गया है।

उपर्युक्त ज्ञान आत्मा में इस प्रकार नहीं रहता जैसे घड़े में जल। वह पुष्प में गन्ध, दूध में जल की भाँति समाया हुआ, एकरूप होकर रहता है, इसीलिये ज्ञान को आत्मरूप तथा आत्मा को चिन्मय, ज्ञानरूप माना जाता है।

ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने के उपर्युक्त उपाय का संकेत ब्रह्म के परिचायक महावाक्य 'प्रज्ञानं ब्रह्म' में ही समाहित है। प्रज्ञान अर्थात् प्रकृष्ट ज्ञान, सर्वोत्कृष्ट ज्ञान, सर्वश्रेष्ठ वस्तु का ज्ञान। यतः ब्रह्म से श्रेष्ठ कोई अन्य तत्त्व नहीं है, अतः ब्रह्म का ज्ञान ही ब्रह्म है, यह सिद्ध होता है। अब, क्योंकि, वह ब्रह्मज्ञानरूप ब्रह्म जिस आत्मा में समाया हुआ है वह आत्मा किसी शरीर से अवच्छिन्न है अर्थात् किसी शरीर में समाई हुई है अतः ऐसे शरीर को ही हम ब्रह्म का शरीर, ब्रह्म का स्वरूप मानने के लिये बाध्य हैं। उसके अतिरिक्त ब्रह्म का कोई अन्य एकदेशी स्वरूप हमें प्राप्त नहीं है। ब्रह्मज्ञानमयी आत्मा से युक्त उस शरीर को माध्यम बनाए बिना हम उस शरीर के भीतर विराजमान ब्रह्मज्ञानमयी आत्मा से अपनी आत्मा का तादात्म्य कैसे स्थापित कर पाएँगे ! इसीलिये वेद का सीधा सुस्पष्ट कथन है —

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

— मुण्डकोप० ३।२।९

— यह सुनिश्चित है कि जो मनुष्य उस परम ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।

इसीलिये हमें भूलकर भी ऐसे महापुरुष को, तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु को साधारण मनुष्य मानने की भूल कभी नहीं करनी चाहिए। सन्त दयाबाई कहती हैं —

सतगुरु ब्रह्मसरूप हैं, मनुषभाव मत जान ।

मनुषभाव मानैं दया, ते हैं पसू समान ॥

इस प्रकार के विचार से स्पष्ट है कि सन्त दयाबाई तथा दूसरे भी तत्त्वदर्शी विशुद्ध सन्तों ने इस आशय की जो बातें कही हैं वे उनकी स्वानुभवसिद्ध बातें हैं। उनका

कथन अर्थवाद (बढ़ा-चढ़ाकर की गई प्रशंसा) मात्र नहीं, अपितु यथार्थ है, सर्वथा सत्य है।

इस कोटि के विशुद्ध सन्त-सद्गुरु का मिलना अतिशय कठिन है। मिल भी जायँ तो उन्हें पहचान पाना दुष्कर है क्योंकि वे भी हमारे जैसे मनुष्य होते हैं। वेशभूषा के आधार पर उन्हें पहचाना नहीं जा सकता, क्योंकि एक जैसे हजारों दिखाई पड़ते हैं। उन्हें पहचाना जा सकता है मात्र ज्ञान के आधार पर, अथवा से स्वयं कृपा कर जिसकी पहचान में आ जायँ।

अव प्रश्न यह है कि ऐसे सन्त-सद्गुरु मिल भी जायँ और हम उन्हें पहचान भी लें तो उनकी आत्मा में समाया वह ज्ञान हमें कैसे प्राप्त हो ? यही वतलाते हुए श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, यदि तू वह सर्वोच्च ज्ञान प्राप्त करना चाहता है तो तत्त्वज्ञानी महापुरुषों के सम्मुख जाकर सच्चे समर्पण-भाव से उन्हें साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर, अपनी जिज्ञासा प्रकट करते हुए वार-बार उनसे प्रश्न कर तथा मन लगाकर उनकी सेवा कर, तव तेरे द्वारा की गई सेवा से सन्तुष्ट हुए वे महापुरुष तुझे उस परमज्ञान का उपदेश देंगे —

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया ।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

— श्रीमद्भगवद्गीता ४।३४

सर्वस्व-समर्पण के भाव से युक्त सेवक जब ज्ञानप्राप्ति की उत्कण्ठा प्रकट करता है और सद्गुरुदेव की आज्ञा मानते हुए निष्कपट सेवा द्वारा अपनी सत्पात्रता प्रमाणित कर देता है तो उससे सद्गुरुदेव का हृदय द्रवित हो जाता है, शिष्य को समुचित प्रतिदान के लिये विह्वल हो उठता है, और तव बोधमय सद्गुरुदेव आत्मज्ञान के दान द्वारा शिष्य की आत्मा को अपनी ज्ञानमय आत्मा से एकाकार कर उसे कृतकृत्य कर देते हैं, उसे ब्रह्मज्ञानी बना देते हैं। उपनिषद् कहता है —

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः ।

— वह स्वयं जिसका वरण कर लेता है उसी के द्वारा पाया जा सकता है।

सद्गुरुदेव ऐसे पारसमणि होते हैं जो शिष्यरूपी लोहे को सोना नहीं, पारसमणि ही बना देते हैं।

सर्वात्मना समर्पित तथा निरभिमान होकर सच्ची दीनता के साथ की गयी निश्छल सेवा ही वास्तविक सेवा है। सेवार्थक 'भज' धातु से बने भजन और भक्ति शब्द मूलतः सेवा के ही पर्याय हैं। ऐसी आदर्श सेवा तभी सम्भव है जव भक्त

का मन अपने सुख का ध्यान छोड़कर निरन्तर सेव्य की रुचि का अनुसरण करते हुए उसको सुखी करने के उपायों में तन-मन से डूबा रहे। ऐसी निष्काम सेवा या भक्ति ही सेव्य को द्रवित करने का मुख्य साधन है जिसमें भक्त सेव्य के सुख को ही अपना सुख मान लेता है। तभी तो कहा गया है कि सेवा धर्म का पालन योगियों के लिये भी दुष्कर है —

सेवाधर्मः परमगहनो योगिनामप्यगम्यः।

सद्गुरुदेव से उपदेश (दीक्षा) द्वारा परानाम प्राप्त कर उनके निर्देशानुसार स्मरण-ध्यान करते-करते जैसे-जैसे अभ्यास में दृढ़ता आती जाती है वैसे-वैसे मन-बुद्धि पर छायी दूषित संस्कारों की मलिनता छँटने लगती है और सद्गुरुदेव की दिव्यता का आभास होने लगता है। तब शिष्य अपने सद्गुरुदेव के प्रति कृतज्ञता के भाव से भर उठता है, उनके असीम दया, क्षमा, उदारता आदि उत्कृष्ट गुणों के निरन्तर स्मरण से शिष्य के मन में सद्गुरुदेव के प्रति प्रेम उत्पन्न हो जाता है, सेवा-स्मरण-ध्यान सव सहज हो जाते हैं। सेवा में प्रेम का समावेश होने पर सद्गुरुदेव से एकात्मता स्थापित होने के वाद ही सद्गुरुदेव की आत्मा में समाया हुआ ज्ञान शिष्य की आत्मा में संक्रान्त हो जाता है (उतर आता है), सद्गुरुदेव का चिदानन्दमय दिव्य स्वरूप शिष्य के अन्तःकरण में उद्भासित हो उठता है और शिष्य ब्रह्मज्ञानी हो जाता है, अपने सद्गुरुदेव की कृपा से वह ब्रह्म का प्रत्यक्ष वर्तमान स्वरूप हो जाता है। अव सद्गुरुदेव उसे ही जीवोद्धार कार्य के लिये, जीवों को दीक्षा द्वारा भक्तिवीज परानाम का उपदेश देने के लिये अधिकृत कर देते हैं और फिर उसे ही हम 'वन्दे वोधमयं नित्यं गुरुं शङ्कररूपिणम्' तथा 'नर रूप हरि' कह कर प्रणाम करने लगते हैं। जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होकर परमपद प्राप्त करने की यही एकमात्र सनातन प्रक्रिया है। तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु की आज्ञा का सर्वात्मभाव से पालन करना — यही ज्ञानयोग है, यही कर्मयोग है, यही भक्तियोग है और इससे होनेवाली सर्वोच्च आध्यात्मिक उपलब्धि ही ईश्वर-साक्षात्कार है, ब्रह्मज्ञान, आत्मज्ञान या तत्त्वज्ञान है, जीव और ब्रह्म की एकता है, शिव-शक्ति का संयोग है, परमपद का लाभ है।

उपनिषदों में जहाँ-तहाँ विभिन्न शब्दों में यही बातें सूत्ररूप में संकेतित हैं जिन्हें विद्वान् पुरुष ही समझ सकते हैं। उपनिषदों के पराविद्या के आचार्य ऋषि-महर्षिगण अपरा विद्या के भी पारंगत आचार्य हुआ करते थे। समय ऐसा था कि अपरा विद्या का विद्वान् होने के वाद भी विभिन्न परीक्षणों में उत्तीर्ण होने पर ही

व्यक्ति को पराविद्यादान का पात्र माना जाता था। कालक्रम से परिवर्तित दशा में आज वेदों की तो बात दूर है, वेदाङ्गों में से किसी एक अंग के भी पारंगत विद्वान् उँगलियों में गिनने योग्य होंगे। अतः परमदयालु सन्तों ने अधिक से अधिक जीवों के उद्धार की दृष्टि से यह मान लिया कि यदि कोई मनुष्य लौकिक कामनाओं की पूर्ति के लिये भी परानाम का उपदेश पाना चाहता है तो वह इसका पात्र है। मनुष्य होना ही पर्याप्त है। सेवा-भक्ति, साधना-अभ्यास में क्रिया अपेक्षित है, सेव्य के प्रति श्रद्धा-विश्वास तथा प्रेमभाव अपेक्षित है, विद्वान् होना आवश्यक नहीं।

इस दृष्टि से अपने सद्गुरुदेव के आदेशानुसार वे जितने अधिक जीवों को परानाम का उपदेश देकर चौरासी के चक्र से मुक्त कर देते हैं उतना ही अधिक सन्तोष उन्हें प्राप्त होता है। तभी तो परानाम का उपदेश लेनेवाले हम जीवों की अपेक्षा उपदेश देनेवाले सन्त-सद्गुरुदेव जीवों की कल्याण-कामनावश अधिक तत्पर दिखाई देते हैं।

मठ गड़वाघाट आश्रम (वाराणसी) के हमारे प्रथम स्वामिवर्य का मनोमुग्धकारी क्षोभ दर्शनीय है, जब वे कहते हैं कि आज गंगा की बाढ़ से आश्रम घिरा हुआ है, कोई यहाँ पहुँच नहीं सका, एक भी जीव को उपदेश नहीं हो पाया, आज का दिन नागा ही चला गया –

सावन चढ़े तीन चार रोज, गंगा घेरे चारी ओर,
सत्संग अस्थनवाँ रे सावनवाँ।
पानी अथाह, तामें लहर अपार,
बचावै करतार रे सावनवाँ।
सत्संगी अकुलाने, पानी देख हिम्मत हहरानी,
का होनिहार रे सावनवाँ।
कोई कोई आरतबस आवै, काम करि जावै,
फिर न आइब ऐसे दिनवाँ, रे सावनवाँ।
डगमग नैया करै जोर, खेवनहार करै ललकार,
डोलावो न आपन देहियाँ रे सावनवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत भजै करतार,
उपदेस बिना नागा गयल ऐसे दिनवाँ रे सावनवाँ॥

– दासनदास भजनमाला भाग ४, भजन १६६१

उपर्युक्त कारणों से वर्तमान युग के सेवा-भक्ति के मर्मज्ञ, श्रद्धा-विश्वास के धनी, सद्गुरुदेव की छोटी से छोटी इच्छा पर अपना सर्वस्व न्यौछावर कर देनेवाले सत्-शिष्यों ने आदर्श सेवा-आराधना से सन्तुष्ट अपने सद्गुरुदेव से पराविद्या का ज्ञान तो प्राप्त कर लिया किन्तु अनपेक्षित होने के कारण अपरा विद्या का ज्ञान उनसे छूट गया। इन परम दयालु सन्तों ने अशिक्षित एवं अल्पज्ञ मनुष्यों की कल्याण-कामना से सरल-सुवोध, सीधी-सादी प्रचलित स्थानीय भाषाओं में उपनिषदों के उन सनातन तथ्यों को स्वानुभूत सार-संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर दिया। उदाहरण के लिये –

सतगुरु सिख की आतमा, सिख सतगुरु की देह।
लखा जो चाहै अलख को, इन ही में लख लेह॥

ऊपर का सम्पूर्ण कथ्य मात्र इसी का तो विस्तार है।

सत्य के सम्वन्ध में वर्तमान सन्तमत में उन्हीं बातों की मान्यता दिखाई देती है जिनका उपनिषदों में विवेचन है। जैसे – जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में (शरीर के भीतर) है, परमात्मा का साक्षात्कार मनुष्य-शरीर के भीतर ही नासिकामूल से ऊपर दोनों भौंहों के मध्य मस्तक के भीतर ध्यान द्वारा होता है, प्रत्यक्ष वर्तमान सन्त-सद्गुरु ही ब्रह्म के सगुण साकार स्वरूप हैं जिनके द्वारा निर्दिष्ट विधि के पालन से भौतिक-आध्यात्मिक सभी मनोरथ पूर्ण होते हैं, सद्गुरु से दीक्षा द्वारा प्राप्त नाम ही भक्तिवीज अथवा योगवीज है जिसका स्मरण-ध्यान ही सच्ची उपासना है, इसका फल जन्मान्तर में नहीं, इसी जन्म में प्राप्त होता है, जो जितना चलेगा उतनी दूरी पार करेगा, तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु का शब्द कान में पड़ जाने मात्र से जीव तब तक केवल मनुष्य-योनि (कर्मयोनि) में ही जन्म लेता जायगा जब तक उसकी साधना पूर्ण न हो जाय, आदि। उपनिषदों में वर्णित षट्चक्रवेध की प्रक्रिया में साधक के लिये आहार-विहार का सन्तुलन तथा इन्द्रिय-निग्रह आवश्यक होता है, विघ्नों से स्वयं जूझते रहना पड़ता है, कर्त्तापन का अभिमान मिटना दुष्कर होता है अतः परम-दयालु सन्तों ने आकाशतत्त्वप्रधान सहस्रार में ही साधना को केन्द्रित कर उसे सबके लिये सरल कर दिया। इसीलिये इस साधनाविधि को विहंगम-मार्ग कहा जाने लगा।

वर्तमान सन्तमत की आधारभूत मान्यताएँ उपनिषदों में कहाँ किस प्रकार निरूपित हैं, यह देखने के लिये जव आरम्भ से उपनिषत्संग्रह के पन्ने पलटना आरम्भ किया तो जिस क्रम से जो सामग्री मिलती चली गयी उसी क्रम से उसका संकलन कर इस पुस्तक में सवसे पहले प्रस्तुत किया गया, तदनन्तर श्री वियोगी

हरि द्वारा सम्पादित सन्तसुधासार तथा अन्य ग्रन्थों में कालक्रम से मुद्रित सन्त-वाणियों के स्पष्ट, सुबोध तथा उपयोगी मुख्य अंश उसी क्रम से प्रस्तुत किए गए हैं। दोनों के अध्ययन से प्राप्त निष्कर्ष अन्तिम कुछ पृष्ठों में उपन्यस्त है।

उद्देश्य यही है कि गर्मी की दोपहर में दूर बालू पर चमकती हुई सीप को चाँदी का टुकड़ा समझते रहने के भ्रम में ही हमारा यह अमूल्य जीवन व्यर्थ न वीत जाय, एतदर्थ प्रत्यक्ष वर्तमान तत्त्वदर्शी विशुद्ध सन्त-सद्गुरुदेव की खोज कर उनसे परानाम का उपदेश प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है, क्योंकि अपने प्रयत्नों से हम इस भ्रम को नहीं ही मिटा सकते। सन्त तुलसीदास का सुनिश्चित मत है –

सदगुरु मिले तें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाय।

हम कितने भी बड़े विद्वान् हों, पूजा-पाठ, जप-तप, धर्म-कर्म करनेवाले, महान् दानी, त्यागी – कुछ भी क्यों न हों, सवका प्रभाव हमारे जीव पर चिरकाल से छाए कुसंस्कारों की ऊपरी सतह पर से ही फिसल जाता है। ये मनमुखी आचरण हमारे मोह की प्रबलता को दूर नहीं कर सकते। सद्गुरुदेव के अनुभवसिद्ध उपदेश से, गुरुमुखी आचरण से ही जन्म-जन्मान्तरों से वद्धमूल भ्रम दूर हो सकता है। ऐसा न होता तो सत्संग को इतना अधिक आवश्यक क्यों माना जाता। 'राम-राम' तो हम विना सत्संग किए, घर में वैठे, चाहें तो दिन-रात रटते रह सकते हैं।

तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरुदेवों के निजी अनुभव के विपरीत कोई तर्क प्रस्तुत नहीं किया जा सकता। उनका उपदेश मान लेने में ही सव प्रकार से हमारा कल्याण है। सद्गुरु का उपदेश मानवमात्र के लिये है, वह किसी भी भूभाग का, किसी भी जाति-धर्म-वर्ग या समाज का क्यों न हो। किसी भी व्यक्ति के किसी भी सांसारिक व्यापार से उसका कोई सम्वन्ध नहीं है, फलतः किसी का कोई भी व्यापार या व्यवहार उससे बाधित नहीं होता। सद्गुरु के उपदेश का सीधा सम्वन्ध मनुष्य के मन से है –

मनसैवेदमाप्तव्यम्।

– कठोप० २।१।११

सद्गुरु के उपदेश में मात्र विधि (ऐसा करो) है, निषेध कुछ भी नहीं है। उसमें कोई नियम या बन्धन भी नहीं है। सद्गुरु से परानाम का उपदेश प्राप्त करते ही हमारी चेतना का प्रवाह ऊर्ध्वमुख हो जाता है। यही तो अभीष्ट है। प्रस्तुत पुस्तक इन्हीं भावों को जन-जन तक पहुँचाने का सात्त्विक प्रयास है।

इसका लेखक 'लेखक' नहीं है। अक्षरज्ञान होने मात्र से ही तो कोई 'लेखक' नहीं वन जाता। लेखन-कला के कुछ नियम, कुछ तौर-तरीके होते हैं, जिनका कोई ज्ञान नहीं। छात्रावस्था के वाद चिट्ठी-पत्री आदि छोड़कर कभी कुछ लिखा ही नहीं। पढ़ना ही पूरा नहीं हो पाया, तो लिखने की वात कहाँ उठती है। तथापि प्रातःस्मरणीय सद्गुरुदेव के आदेश से लेखनी उठा ली। प्रभु की मौज से जो भाव-विचार जिस क्रम से मन में आते चले गए वे वैसे ही लिपिबद्ध होते चले गए – कोई क्रम नहीं, न विषय-विभाग, न विन्यास-कौशल। अतः पाठकों से विनम्र प्रार्थना है कि सभी प्रकार की त्रुटियों को एकमात्र लेखक की अकुशलता समझकर उसे क्षमा करें – 'गुणगृह्या वचने विपश्चितः'।

इस कृति में जिन वन्दनीय उपनिषत्कारों तथा तत्त्वदर्शी महापुरुषों के वचन उद्धृत हैं उन्हें हृदय से नमन करते हुए उनके प्रकाशकों के प्रति आभार व्यक्त करता हूँ।

अन्तर्यामितया इस कृति के प्रेरणास्रोत अपने स्वामी पूज्य सद्गुरुदेव की वन्दनीय महिमा, उदारता तथा दयालुता की इयत्ता मेरे लिये अनिर्वचनीय है, जो मेरे सम्पूर्ण दोषों को जानते हुए भी अपनी चरणछाया में मुझे ससम्मान प्रतिष्ठा प्रदान किए हुए हैं। उनके चरणों में अनन्त दण्डवत् प्रणाम स्वीकृत हों।

गुरुपूर्णिमा
सं० २०५४ वै०

विनयावनत –
– एक तुच्छ सेवक
(महेशदत्त शुक्ल)

सन्दर्भ-ग्रन्थ

❊ ईशादिविंशोत्तरशतोपनिषदः, मूलमात्र, पंचम संस्करण, निर्णयसागर प्रेस, मुम्वई, सन् १९४८

❊ श्रीमद्भागवतमहापुराण

❊ श्रीमद्भगवद्गीता

❊ श्रीरामचरित मानस

❊ विनयपत्रिका

❊ भजनसंग्रह, गीताप्रेस, गोरखपुर

❊ संत-सुधा-सार, वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण, सन् १९५३

❊ संक्षिप्त संत-सुधा-सार, वियोगी हरि, सस्ता साहित्य मंडल प्रकाशन, नई दिल्ली, सन् १९६९

❊ कवीर वाङ्मय, खण्ड २, सवद – डा० जयदेव सिंह, डा० वासुदेव सिंह, विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी, सन् १९८१

❊ गुरु रविदास, काशीनाथ उपाध्याय, राधास्वामी सत्संग व्यास

❊ श्री दादूवाणी, पं० चन्द्रिका प्रसाद त्रिपाठी (अजमेर वाले), स्वामी द्वारिकादास शास्त्री, सन्त साहित्य अकादमी, वाराणसी, सन् १९८५

❊ दादूदयाल ग्रंथावली, परशुराम चतुर्वेदी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, सं० २०२३

❊ ग्रंथसाहिव अर्थात् सद्गुरु श्री गरीबदासजी महाराज की वानी, श्री स्वामी अजरानंद गरीवदासी रमताराम, राजकोट (काठियावाड़), सन् १९२४

❊❊❊

उपनिषत्खण्ड

मानव-देह में चक्रों (आध्यात्मिक मण्डलों) का परिचय



* चक्र *	* देवता *	* तत्त्व *	* लोक *	
१- मूलाधार या गुदा चक्र	गणेश	पृथ्वी	भूलोक	पिण्ड
२- स्वाधिष्ठान या इन्द्रिय चक्र	ब्रह्मा	जल	भुवर्लोक	त्रिगुणमय
३- मणिपूरक या नाभि चक्र	विष्णु	अग्नि	स्वर्लोक	अविद्या
४- अनाहत या हृदय चक्र	शिव	वायु	महर्लोक	का राज्य
५- विशुद्ध या कण्ठ चक्र	शक्ति	आकाश	जनःलोक	
६- आज्ञा चक्र या तीसरा तिल	परमात्मा, सुरत	मन	तपःलोक	
७- सहस्रदल कमल	निरंजन ब्रह्म, गुरु चरण, परानाम यहाँ से प्रगट होता है।			

सहस्रदल कमल के ऊपर संतों की त्रिकुटी, दशमद्वार या शून्य, महाशून्य, भँवरगुफा, सत्यलोक, अनामी, अलख और अगमलोक है। इन लोको में सद्गुरु-कृपा से ही चढ़ाई होती है। परानाम का भजन और सहस्रदल कमल में सद्गुरु का ध्यान संतमत की साधना की मूल है। || मोक्षमूलं गुरोः कृपा ||

सत्यलोक की सीमा, ब्रह्माण्ड, त्रिगुणातीत विद्या का राज्य

॥ श्रीसद्गुरवे नमः ॥

विभिन्न देश-कालों में विभिन्न भाषाओं में रचे गए विश्वभर के सम्पूर्ण सन्त-साहित्य के सूक्ष्म अवलोकन से विदित होता है कि सन्तमत में एकमात्र सद्गुरु या आचार्य को ही सर्वेश्वर रूप में उपास्य माना गया है क्योंकि परात्पर ब्रह्म के ज्ञान से सम्पन्न होने के कारण वे प्रत्यक्ष सगुण साकार ब्रह्म ही होते हैं, त्रिगुणातीत और मायातीत होते हैं, जीवन्मुक्त होते हैं और सदा तुरीय अवस्था में रमण करते हैं।

त्रिगुणातीत होने से वे विधि-निषेध से परे होते हैं इसीलिये सन्तमत के प्रवर्तक तथा अनुयायी जाति-धर्म-कुल-आचार आदि के नियमों का बन्धन स्वीकार नहीं करते। धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष चतुर्वर्ग की प्राप्ति जीव को उनके मत से एकमात्र सद्गुरु की दया और उनकी कृपा से ही सुलभ हो जाती है अतः किन्हीं भी लौकिक-वैदिक देवी-देवताओं की उपासना की उन्हें कोई आवश्यकता नहीं पड़ती।

सन्तों ने ईश्वर का निवास मनुष्य के शरीर में दोनों भौंहों की सन्धि में, नासिका-मूल से कुछ ऊपर ललाट के भीतर माना है। सद्गुरु के द्वारा उपदेश की हुई विधि से अपने मन को प्रेमयुक्त ध्यान द्वारा वहाँ पहुँचाने पर ही उस सर्वेश्वर परमात्मा की कृपा से उसका दर्शन होता है, अन्य कोई प्रकार उसके साक्षात्कार का नहीं है।

अपने शरीर से वाहर परब्रह्म परमात्मा के तात्त्विक स्वरूप का इन चर्मचक्षुओं से कहीं दर्शन नहीं होता। उपनिषद् का वचन है –

न संदृशे तिष्ठति रूपमस्य
न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा मनीषा मनसाभिक्लृप्तो
य एतद्विदुरमृतास्ते भवन्ति ॥

– कठोप० २।३।९

– इस परब्रह्म परमात्मा का दिव्य स्वरूप इन आँखों के सामने अन्य वस्तुओं की भाँति प्रत्यक्ष रूप में नहीं ठहरता अतः कोई भी इन चर्मचक्षुओं से उसे नहीं देख

सकता। मन से निरन्तर चिन्तन द्वारा ध्यान में ले आया हुआ वह परमात्मा शुद्ध हृदय से और विशुद्ध बुद्धि के द्वारा ही देखा जा सकता है। इस प्रकार जो उसे जान लेते हैं वे अमृतमय, आनन्दस्वरूप हो जाते हैं।

ईश्वर का दर्शन चाहनेवाले, ईश्वर की खोज करनेवाले दिग्भ्रमित न हों, इसलिये कबीर साहब कहते हैं –

मुझको कहाँ ढूँढ़ता बन्दे, मैं तो तेरे पास में।
ना मैं वकरी ना मैं भेड़ी, ना मैं छुरी गँड़ास में॥
नहीं खाल में नहीं पोंछ में, ना हड्डी ना माँस में।
ना मैं देवल ना मैं मसजिद ना कावे कैलास में॥
ना तो कौनो क्रिया करम में नहीं जोग बैराग में।
खोजी होय तौ तुरतै मिलिहौं पलभर की तालास में॥
मैं तो रहौं सहर के वाहर मेरी पुरी मवास में।
कहत कवीर सुनो भाई साधो सव साँसों की साँस में॥

मठ गड़वाघाट आश्रम के प्रथम सन्तप्रवर कहते हैं –

साँसै हौ जीव अधरवा।

– दासनदास भजनमाला, भाग २, पद १५००

– अर्थात् साँस ही प्राण है।

साँसों के आने-जाने पर विशेष विधि से ध्यान रखना और उस पर विधि के अनुकूल नियन्त्रण रखना ही प्राणायाम है। प्रणव (नाम) के सहयोग से प्राणायाम और ध्यान ही स्वदेहस्थित परमात्मा के साक्षात्कार का सन्तमत-सम्मत, वेदसम्मत उपाय है।

कवीर साहव का एक और स्पष्ट कथन है –

इस घट अंदर वाग-वगीचे इसी में सिरजनहारा।
कहत कवीर सुनो भाई साधो इसी मे सांई हमारा॥

ईश्वर का सुनिश्चित ठिकाना वतलाते हुए श्रीमद्भगवद्गीता में स्वयं भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं –

ईश्वरः सर्वभूतानां हृद्देशेऽर्जुन तिष्ठति।

– १८।६१

– हे अर्जुन, ईश्वर सभी प्राणियों के हृदयदेश में विराजमान रहता है।

उपनिषद् का वचन है –

तमात्मस्थं येऽनुपश्यन्ति धीरास्तेषां सुखं शाश्वतं नेतरेषाम्।

– कठोप० २।२।१२

– उस परमात्मा को जो ज्ञानी महापुरुष निरन्तर अपने शरीर के भीतर विराजमान देखते हैं, उन्हीं को सदा अटल रहनेवाला परमानन्दरूप वास्तविक सुख प्राप्त होता है, दूसरों को नहीं।

सन्तमत में निगमागम-सम्मत इसी मान्यता की प्रधानता होती है अतः सन्तों के सामने मन्दिर-मसजिद-गिरजाघर आदि का कोई महत्त्व नहीं होता।

व्रत-उपवास, योग-यज्ञ, जप-तप आदि कर्म विचारपूर्वक निष्काम भाव से किए जायँ तो ज्ञान के दाता हो सकते हैं, किन्तु ज्ञान प्राप्त हो जाने के वाद इन साधनों का परित्याग वैसे ही स्वाभाविक है जैसे नदी पार कर लेने के वाद नौका का परित्याग हो जाता है। अतः ब्रह्मज्ञानी, आत्मज्ञानी सन्तों के सामने इन साधनों का कोई महत्त्व नहीं होता, वे इनकी ओर भूलकर भी नहीं देखते।

स्थूल दृष्टि से देखने पर इस कोटि के प्रातःस्मरणीय सन्त वेदविरोधी, धर्मविरोधी, असामाजिक मान लिए जाते हैं। वर्ण-व्यवस्था के कट्टर समर्थक तथा लोकप्रचलित धर्म के पोषक सदा से इनके आलोचक, निन्दक ही नहीं, कोई-कोई तो प्रवल विरोधी भी रहे हैं। सन्तों की जीवनियों में ऐसे अनेक प्रसंग उल्लिखित प्राप्त होते हैं। विज्ञ पाठक इस तथ्य से भलीभाँति अवगत हैं।

ऐसा क्यों है ? गोस्वामीजी कहते हैं कि सन्त-सद्गुरु, पेड़-पौधे, नदियाँ, पर्वत, पृथ्वी ये सव निरन्तर केवल परोपकार ही करते हैं, अपने लिये कभी कुछ नहीं करते –

संत विटप सरिता गिरि धरनी। पर हित हेतु इनहिं कै करनी॥

इन वृक्षों, नदियों, पर्वतों तथा पृथ्वी की परोपकारिता सभी मानते हैं, फिर उसी पंक्ति में गिने गए इन प्रातःस्मरणीय सन्तों के प्रति भावदोष का, विरोध का क्या कारण है ?

सनातन धर्म का मूल आधार वेद माने जाते हैं। विद्वानों का कथन है कि वेद किसी पुरुष की रचना नहीं हैं, वे परमात्मा की साँस हैं। उन वेदों के ज्ञानकाण्ड

का निचोड़ सुबोध भाषा में स्पष्ट रूप से उपनिषदों में प्रतिपादित है। उन उपनिषदों में यदि सन्तमत के सभी सार्वभौम सिद्धान्त, सभी तत्त्व, सभी मान्यताएँ समान रूप से पाई जाती हों तो सन्तमत की वैदिकता, प्रामाणिकता और सर्वग्राह्यता में भला क्या सन्देह रह जायगा !

तो हम देखने का प्रयास करेंगे कि भौतिक ऐश्वर्य एवं सुख-सुविधाओं की प्राप्ति तथा आध्यात्मिक उन्नति अर्थात् परब्रह्म परमात्मा के अन्तःसाक्षात्कार के विषय में, संक्षेप में कहें तो चतुर्विध पुरुषार्थ की सिद्धि के विषय में उपनिषद् (वेद) क्या कहते हैं।

मुण्डकोपनिषद्

अथर्ववेद की शौनकशाखा के मुण्डक उपनिषद् का आरम्भ होता है मंगलाचार से। उसमें देवताओं से प्रार्थना की गई है। देवता हमारी इन्द्रियों में निवास करते हुए उन्हें सुव्यवस्थित रखते और संचालित करते हैं अतः गुरुकुल के सभी शिष्य प्राणिमात्र की मंगलकामना करते हुए उन देवताओं से प्रार्थना करते हैं —

ऊं भद्रं कर्णेभिः श‍ृणुयाम देवा भद्रं पश्येमाक्षभिर्यजत्राः।
स्थिरैरङ्गैस्तुष्टुवाꣳसस्तनूभिर्व्यशेम देवहितं यदायुः॥
स्वस्ति न इन्द्रो वृद्धश्रवाः स्वस्ति नः पूषा विश्ववेदाः।
स्वस्ति नस्तार्क्ष्यो अरिष्टनेमिः स्वस्ति नो बृहस्पतिर्दधातु॥
ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः॥

— हे देव, हम अपने कानों से कल्याणकारी वचन ही सुनें, निन्दा, चुगली, गाली या पापमय विषयवासना की बातें हमारे कानों में न पड़ें। हम सदा अपने प्रभु की आराधना में ही लीन रहें। अपने नेत्रों से हम सदा कल्याण का ही दर्शन करें, पाप या विषयों की ओर ले जानेवाले दृश्यों को हमारी आँखें कभी न देखें। हमारे शरीर और उसके सभी अंग सुदृढ एवं सुपुष्ट रहें ताकि हम यथोचित रूप में अपने प्रभु की सेवा-स्तुति करते रहें। हमारी आयु भोग-विलास में ही न बीत जाय। हमें ऐसी आयु मिले जो प्रभु के ही काम में आवे। विस्तृत-कीर्तिवाले इन्द्रदेव, सब कुछ जाननेवाले पूषा, अरिष्टों का निवारण करनेवाले गरुड तथा बुद्धि के स्वामी बृहस्पति हममें कल्याण का धारण एवं पोषण करें।

ॐ आध्यात्मिक, आधिदैविक और आधिभौतिक सभी प्रकार के तापों की शान्ति हो।

इस मंगल-मन्त्र में हमें वर्तमान युग के सन्त-दरवार में प्रतिष्ठित इस भावना के दर्शन होते हैं कि कोई भी कार्य करने से पहले प्रणव (भगवन्नाम) का स्मरण अवश्य करना चाहिए।

यों तो ईश्वर के नाम असंख्य हैं पर उनमें से किसी एक के भी स्मरण या उच्चारण से हमें नाम-स्मरण का समुचित लाभ नहीं प्राप्त होता, क्योंकि वे सब नाम हमारे लिये अधूरे हैं। नाम वही पूर्ण होता है जिसका उच्चारण करते ही उसके अर्थ की उपस्थिति हो जाय। जैसे कोई कहे कि 'जल ले आओ' तो 'जल' शब्द सुनते ही हमारे मन में उसके अर्थ (वह तरल पदार्थ जिसे पीने से प्यास शान्त हो जाती है) की उपस्थिति या स्मृति हो जाती है और हम जल पद का अर्थ, जल पदार्थ लाकर दे देते हैं।

अब यदि 'जल' पद का अर्थ हमारी स्मृति में न आवे तो हम क्या लाएँगे? सब व्यवहार गड़बड़, अर्थहीन, निरर्थक ही होगा। इसी तरह हम ईश्वर के जिन नामों का, पदों का स्मरण करते हैं उनका कोई अर्थ, रूप या पदार्थ (पद+अर्थ) हमारी स्मृति में नहीं आता, जो आता है वह पुराण-शास्त्र आदि के वर्णन के अनुसार प्रत्येक प्राणी की भिन्न-भिन्न कल्पना है। कल्पना यथार्थ नहीं हुआ करती। हम अपने दादा के दादा का वर्णन सुनकर या उनका विकृत काल्पनिक चित्र देखकर भी उनके यथार्थ स्वरूप का, उनके बोलचाल-हावभाव का स्मरण नहीं कर सकते। स्मरण हम उसी का कर सकते हैं जिसका अपनी ज्ञानेन्द्रियों द्वारा एक वार साक्षात्कार कर चुके हों। जैसे अपने घर से दूर रहकर भी हम अपने घर-द्वार, पत्नी-पुत्रादि का स्मरण कर लेते हैं।

व्रह्म, ईश्वर, परमात्मा, सत्-चित्-आनन्द आदि वड़े महत्त्वपूर्ण, शास्त्रीय, सार्थक शव्द हैं, किन्तु उनके अर्थ से हमारा कोई सम्वन्ध नहीं हो पाता। चित्रलिखित दीपक 'दीप' शव्द का अर्थ नहीं है, यदि होता तो उससे अन्धकार मिटता दिखाई देता। इस वात पर परम्परा और पूर्वाग्रह से मुक्त होकर, स्थिर होकर गम्भीरतापूर्वक विचार करने की आवश्यकता है क्योंकि सन्दर्भ सत्य की खोज का, उसके निर्णय का है।

महाभारत में भगवान् सनत्कुमार धृतराष्ट्र के प्रश्न का समाधान करने के प्रसंग में कहते हैं —

सदर्थयोगानवगमात् समन्तात् प्रवर्तते भोगयोगेन देही॥

– 'सत्' पद के अर्थ से इस जीव का सम्बन्ध हो नहीं पाता तथा विषयभोग की सामग्री से वह दिन-रात घिरा रहता है अतः जन्म-मरण के चक्र में ही पड़ा रहता है, उससे निकल नहीं पाता।

इस 'सत्' पद का अथवा परब्रह्म परमात्मा के वाचक सभी पदों यानी शब्दों या नामों का अर्थ हमें केवल सद्गुरु से ही प्राप्त हो सकता है। सद्गुरु हमें केवल नाम ही नहीं देते, उसका अर्थ भी प्रदान करते हैं, और तब हम उस नाम के जप या स्मरण के साथ उसके अर्थ यानी रूप का ध्यान करने में भी समर्थ हो जाते हैं। पातंजल योगसूत्र का कथन है –

तज्जपस्तदर्थभावनम्।

– १।१।२८

– अर्थात् मन्त्र का जप करते हुए उस मन्त्र के अर्थ की भावना भी अवश्य करनी चाहिए। यही भक्ति की साधना है। अतः तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु से सार्थक नाम प्राप्त हो जाने के बाद ही हमारी भक्तिसाधना का श्रीगणेश होता है।

सद्गुरु द्वारा दिए गए नाम से बड़ी, बहुमूल्य वस्तु तीनों लोकों में दूसरी कोई भी नहीं है। यही भक्तिबीज है, इसका प्राप्त होना ही सबीज योग का आरम्भ है। सन्त मीराबाई कहती हैं –

पायो जी मैं तो नाम रतन धन पायो।
बस्तु अमोलक दी मेरे सतगुरु किरपा करि अपनायो ॥

सन्त कबीरदास कहते हैं –

बलिहारी गुरु आपने गोविंद दियो बताय।

उपनिषद् का कथन है –

गुरूपदेशमात्रेण सहसैव प्रकाशते।
स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः ॥

– योगशिखोप० २।१४

– सद्गुरु के नाम का उपदेश देने मात्र से ब्रह्म के स्थूल, सूक्ष्म और पर – तीनों स्वरूप सहसा प्रकाशित हो जाते हैं।

जैसे जल के स्थूल रूप में ही उसका सूक्ष्म रूप वाष्प तथा पर यानी कारण रूप जल का नित्य परमाणु समाया रहता है इसी प्रकार सद्गुरु की भौतिक देह परब्रह्म

का स्थूल स्वरूप है और उसी के भीतर ब्रह्म का सूक्ष्मरूप और सूक्ष्म के भीतर पर-स्वरूप समाया हुआ रहता है। सन्त सुन्दरदास कहते हैं –

परमेस्वर महिं गुरु बसै, परमेस्वर गुरु माहिं।
सुन्दर दोऊ परसपर, भिन्न भाव सो नाहिं ॥

सद्गुरु से परानाम का उपदेश प्राप्त कर उनके द्वारा उपदिष्ट विधि से सेवा-उपासना-ध्यान करते-करते साधक का अन्तःकरण जैसे-जैसे स्वच्छ होता जाता है वैसे-वैसे उत्तरोत्तर सद्गुरु के सत्-चित्-आनन्द स्वरूप का आभास मिलने लगता है।

भगवन्नाम के सम्बन्ध में उपर्युक्त विचार कोई दुराग्रह नहीं है। यह सन्तमत-सम्मत तथा निगमागमसम्मत विशुद्ध अनुभूत प्रक्रिया है। अतः सद्गुरु से प्राप्त नाम ही सार्थक है और उसी के जप-स्मरण आदि के द्वारा हम लौकिक-पारलौकिक सब तरह का लाभ प्राप्त कर सकते हैं, अन्य किसी भी ऐसे नाम द्वारा नहीं, जिसका अर्थ हमारी स्मृति या बुद्धि में स्पष्ट न हो।

इस मंगलाचरण में दूसरी एक सद्भावना यह देखने को मिलती है कि हम अपने शरीर और इन्द्रियों को सुदृढ़ और सशक्त इसलिये रखना चाहते हैं कि उनके द्वारा हम अपने प्रभु की समुचित सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर सकें। हमारी यात्रा लम्बी है, 'खाओ-पिओ-मौज करो' मात्र ही हमारा लक्ष्य नहीं है, हमें सद्गुरु से पराविद्या का उपदेश प्राप्त कर अपने शरीर में स्थित परब्रह्म परमात्मा के यथार्थ स्वरूप का साक्षात्कार करना है। यह उद्देश्य पूरा होने से पहले ही हमारी इन्द्रियाँ जबाब न दे दें, हमारा शरीर जर्जर होकर टूट न जाय इस दृष्टि से इन्हें सुरक्षित रखने का प्रयास करते रहना हमारा कर्त्तव्य है।

उपनिषद् में उपर्युक्त मंगलाचरण के बाद तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु से हमें जो ब्रह्मविद्या या पराविद्या प्राप्त होती है उसका आरम्भ तथा गुरुशिष्य-परम्परा बतलाते हुए कहा गया है –

ॐ ब्रह्मा देवानां प्रथमः सम्बभूव विश्वस्य कर्ता भुवनस्य गोप्ता।
स ब्रह्मविद्यां सर्वविद्याप्रतिष्ठामथर्वाय ज्येष्ठपुत्राय प्राह ॥
अथर्वणे यां प्रवदेत ब्रह्माथर्वा तां पुरोवाचाङ्गिरे ब्रह्मविद्याम्।
स भारद्वाजाय सत्यवहाय प्राह भारद्वाजोऽङ्गिरसे परावराम् ॥

— मुण्डकोप० १।१।१ — २

— परब्रह्म परमात्मा से देवताओं में सबसे पहले सम्पूर्ण विश्व के रचनेवाले, रक्षक तथा पालक ब्रह्मा उत्पन्न हुए। उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र अथर्वा को उस ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया जिसमें और सभी विद्याएँ समाई हुई हैं।

ब्रह्मा ने जो ब्रह्मविद्या अथर्वा को बतलाई वह अथर्वा ने अंगी ऋषि को प्रदान की और उन्होंने फिर वही विद्या भरद्वाज गोत्र में उत्पन्न सत्यवह ऋषि को बतलाई। सत्यवह ने वह ब्रह्मविद्या अंगिरा ऋषि को प्रदान की जो पहले जाननेवालों से बाद के लोगों को प्राप्त होती आ रही थी।

> शौनको ह वै महाशालोऽङ्गिरसं विधिवदुपसन्नः पप्रच्छ। कस्मिन्नु भगवो विज्ञाते सर्वमिदं विज्ञातं भवतीति॥ तस्मै स होवाच। द्वे विद्ये वेदितव्ये इति ह स्म यद् ब्रह्मविदो वदन्ति परा चापरा च॥ तत्रापरा ऋग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदोऽथर्ववेदः शिक्षा कल्पो व्याकरणं निरुक्तं छन्दो ज्योतिषमिति। अथ परा यया तदक्षरमधिगम्यते॥
>
> — मुण्डकोप० १।१।३-५

— यह प्रसंग प्रसिद्ध है कि ब्रह्मविद्या के ज्ञाता उन अंगिरा ऋषि के पास शौनक ऋषि पहुँचे जो एक महान् विश्वविद्यालय (ऋषिकुल) के कुलपति थे। शौनक ने शास्त्रीय विधि से उपहार आदि अर्पित कर साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करके नम्रतापूर्वक उनसे पूछा कि भगवन् ! वह कौन सा तत्त्व है जिसे जान लेने के बाद यह दृश्य-अदृश्य सब कुछ निश्चित रूप से ज्ञात हो जाता है ?

शौनक का प्रश्न सुनकर अंगिरा ने कहा कि हे शौनक ! ब्रह्मविद्या के जाननेवालों का कहना है कि दो ही विद्याएँ मनुष्य के लिये जानने योग्य हैं — एक परा विद्या और दूसरी अपरा विद्या।

इन दोनों में से अपरा विद्या के अन्तर्गत हैं ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। और परा विद्या वह है जिसके द्वारा उस अविनाशी परब्रह्म परमात्मा का ज्ञान होता है।

स्पष्ट है कि यहाँ ब्रह्मविद्या के आचार्यों की जो परम्परा बतलाई गई है वह सद्गुरु और उनके शिष्यों की ही परम्परा है।

लोक-परलोक में इन्द्रियों के सुख-साधनों की प्राप्ति का उपाय बतलानेवाली विद्या अपरा विद्या है। वेदों के जिस अंश में मोक्ष के साधनों का वर्णन है उसे छोड़कर

सब अपरा के अन्तर्गत गिने गए हैं। अपरा विद्या की सैद्धान्तिक व प्रायोगिक शिक्षा हमें पाठशालाओं, विद्यालयों तथा विश्वविद्यालयों में प्राप्त हो जाती है किन्तु परा-विद्या का ज्ञान कैसे हो ? स्पष्ट है कि बिना किसी के बतलाए उसका ज्ञान होना सम्भव नहीं है। उसे बताएगा भी कौन ? जिसे वह पराविद्या प्राप्त होगी, जिसने उस विद्या को आत्मसात् कर लिया होगा, फलतः जिसने उस अक्षरब्रह्म को भी प्राप्त कर लिया होगा। ऐसे ही महापुरुष को उस पराविद्या या ब्रह्मविद्या के उपदेश का वास्तविक अधिकारी और उसी से प्राप्त उपदेश को प्रामाणिक उपदेश माना जाना चाहिए। ब्रह्म से हमारा कभी का परिचय तो है नहीं, अतः किसी ऐसे उपदेशक से पराविद्या का उपदेश प्राप्त किए बिना उस अक्षर ब्रह्म का ज्ञान प्राप्त करने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है। उपनिषद् का स्पष्ट कथन है –

अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥

– कठोप० १।२।८

– किसी दूसरे ब्रह्मज्ञानी महापुरुष द्वारा उपदेश न किए जाने पर इस ब्रह्मविद्या के क्षेत्र में मनुष्य का प्रवेश सम्भव नहीं है क्योंकि यह सूक्ष्मतम अणु से भी अतिशय सूक्ष्म है तथा इसीलिये इसके विषय में कोई तर्क काम नहीं देता।

इस प्रकार सद्गुरु से प्राप्त पराविद्या की साधना द्वारा अक्षरब्रह्म को अधिगत करनेवाले महापुरुष के सम्बन्ध में वेद कहता है –

स यो ह वै तत् परमं ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति।

– मुण्डकोप० ३।२।९

– जो उस परम अक्षर ब्रह्म को जान लेता है वह ब्रह्म ही हो जाता है।

यहाँ जो 'एव' (ही) शब्द है वह जिस ब्रह्म शब्द के साथ प्रयुक्त है उसके अतिरिक्त सबका निषेध कर देता है। जैसे हम कहें कि 'राम ही जाय' तो इसका यह अर्थ स्वतः सिद्ध है कि राम के अतिरिक्त कोई दूसरा न जाय। वैसे ही 'ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म ही होता है' इस कथन का यह अर्थ स्वतःसिद्ध है कि 'ब्रह्म का ज्ञाता ब्रह्म के अतिरिक्त और कुछ नहीं होता' अर्थात् उसका इन नेत्रों से देखा जा सकने वाला स्थूल स्वरूप ब्रह्म का ही स्वरूप होता है।

अपने अन्तःकरण में ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाले, इस घट में विराजमान अपने स्वामी के अनिर्वचनीय संयोगसुख का अनुभव करनेवाले महापुरुष को हम क्या नाम दें, क्या कहें, क्या समझें ? उपर्युक्त वेदवाक्य के अनुसार हमें उसे ब्रह्म

ही कहना और मूर्तिमान् प्रत्यक्ष ब्रह्म ही समझना उचित है। ब्रह्म की उपासना का सम्पूर्ण भौतिक-आध्यात्मिक फल उसी तत्त्वज्ञानी या ब्रह्मज्ञानी महापुरुष की उपासना-सेवा-पूजा से प्राप्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं। तभी तो उपनिषद् सीधे सुस्पष्ट शब्दों में उपदेश देता है —

यं यं लोकं मनसा संविभाति
विशुद्धसत्त्वः कामयते याँश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते ताँश्च कामान्
तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

— मुण्डकोप० ३।१।१०

— उपर्युक्त कोटि के ब्रह्मज्ञानी महापुरुष की उपासना करनेवाला साधक अपने मन से जिस-जिस लोक में जाने की कामना करता है और विशुद्ध मन से जिन-जिन भोग्य पदार्थों को पाने की कामना करता है उन-उन लोकों को और उन-उन भोग्य पदार्थों को जीत लेता है यानी उन्हें सरलता से प्राप्त कर लेता है इललिये सब प्रकार का ऐश्वर्य चाहनेवाले व्यक्ति को चाहिए कि वह आत्मज्ञानी महापुरुष की ही पूजा-अर्चा करे।

तात्पर्य यह कि भौतिक-आध्यात्मिक सभी प्रकार की कामनाएँ एकमात्र तत्त्वज्ञानी, आत्मज्ञानी, ब्रह्मज्ञानी सन्त-सद्गुरुदेव की सेवा-पूजा-उपासना तथा उनके चरणों में सर्वस्व समर्पण द्वारा सफल हो जाती हैं। ऐसे ही आत्मज्ञानी महा-पुरुष को उपनिषदों में सद्गुरु, श्रोत्रिय, ब्रह्मनिष्ठ आचार्य, देशिक आदि नामों से कहा गया है।

बहुत से स्थल ऐसे हैं जहाँ सद्गुरु के लिये इन शब्दों का प्रयोग नहीं किया गया है। किन्तु प्रसंग ब्रह्मविद्या के ज्ञान का है, कोई किसी से इस विषय में कुछ पूछता है और कोई उसकी जिज्ञासा का समाधान करता है, तो ऐसे स्थलों पर हम सहज ही समझ लेते हैं कि पूछनेवाला जिज्ञासु श्रोता शिष्य है तथा समाधान करने वाला वक्ता ज्ञानी पुरुष सद्गुरु है।

उपनिषदों में यह परम्परा सर्वत्र देखने को मिलती है। ब्रह्मविद्या के ज्ञान को किसी भी उपदेशक ने स्वोपार्जित ज्ञान कहकर कहीं प्रस्तुत नहीं किया। प्रायः सभी महापुरुषों ने शिष्य के प्रश्न का समाधान करते समय यही कहा है कि भाई, इसी तरह का प्रश्न अमुक ने अमुक से किया था, उसके उत्तर में उन्होंने जो कुछ कहा था वही मैं तुमसे कह रहा हूँ, सावधान मन से सुनो। उनके इस प्रकार के

कथन से ब्रह्मविद्या के ज्ञान के प्रसंग में जिज्ञासु के लिये सद्गुरु की अनिवार्य आवश्यकता अनादिकालीन सिद्ध होती है। सामवेदीय केनोपनिषद् के वक्ता ऋषि कहते हैं –

इति शुश्रुम पूर्वेषां ये नस्तद् व्याचचक्षिरे।

– १।३

– हमने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों से ऐसा ही सुना है जिन्होंने हमें इस ब्रह्मविद्या के सम्बन्ध में सब कुछ विस्तार से बतलाया है।

सभी जानते हैं कि मृत्यु के बाद प्राणी जब इस संसार को छोड़कर जाता है तो इस संसार की कोई वस्तु उसके साथ नहीं जाती। एकमात्र ज्ञान ही ऐसी वस्तु है जो प्राणी के साथ जैसे जीवन भर रहता है वैसे ही मृत्यु के बाद भी उसे नहीं छोड़ता। जीव जहाँ भी जाता है वहाँ ज्ञान उसके साथ जाता है क्योंकि ज्ञान का आधार ही आत्मा है – 'ज्ञानाधिकरणमात्मा'। ज्ञान आत्मा में ही रहता है। इसलिये सभी भौतिक पदार्थों के संचय की कामना छोड़कर केवल ज्ञान अर्जित करने का उपदेश देते हुए उपनिषद् कहता है –

उत्तिष्ठत जाग्रत प्राप्य वरान् निवोधत।

– कठोप० १।३।१४

– हे मोहनिद्रा में सोनेवालो ! उठो, जागो और श्रेष्ठजनों को, ब्रह्मज्ञानी महापुरुषों को प्राप्त कर, उनकी सेवा करके जो कुछ भी जाननेयोग्य है उसे उनसे सम्पूर्ण रूप से जान लो।

और यही वह जीवन है, यही वह क्षण है जब हमें अपनी सारी योग्यता, सारी शक्ति का उपयोग करके ब्रह्मज्ञानी महापुरुष की शरण ग्रहण कर ज्ञान अर्जित कर लेना चाहिए अन्यथा इससे बड़ी कोई हानि नहीं है। उपनिषद् का स्पष्ट उद्घोष है –

इहं चेदवेदीदथ सत्यमस्ति
नो चेदिहावेदीन्महती विनष्टिः।

– केनोप० २।५

– यदि यहाँ, इसी जन्म में, शरीर छूटने से पहले ही तुमने सद्गुरु की उपासना द्वारा वह परम ज्ञान प्राप्त कर लिया तब तो सब ठीक ही ठीक है, किन्तु यह शरीर रहते यदि उसे न जान पाए तो महाविनाश ही समझो।

कारण यह है कि एक मात्र मानवयोनि ही कर्मयोनि है, और सभी योनियाँ तो मात्र उन शुभाशुभ कर्मों के फल – सुख-दुःखों के भोग के लिये हैं जो जीव ने पहले कभी मानवयोनि में उत्पन्न होकर किए हैं। अतः मानवयोनि से भिन्न सभी योनियाँ भोगयोनियाँ हैं, उनमें कर्म किया जाना सम्भव नहीं है। बिना ज्ञान प्राप्त किए यह कर्मयोनि, यह मानवयोनि हाथ से निकल गई तो फिर क्या भरोसा, यह पुनः कब प्राप्त हो !

प्रस्तुत प्रसंग में हम जिस 'ज्ञान' शब्द का प्रयोग कर रहे हैं, उसका अभिप्राय वह सर्वोच्च आध्यात्मिक ज्ञान, ब्रह्मज्ञान है जिसमें श्रीमद्भगवद्गीता के अनुसार सभी कर्म विलीन हो जाते हैं –

सर्वं कर्माखिलं पार्थ ज्ञाने परिसमाप्यते।

– ४।३३

– भगवान् श्रीकृष्ण अर्जुन से कहते हैं – हे पार्थ ! सब प्रकार के सम्पूर्ण कर्म ज्ञान में विलीन हो जाते हैं, ज्ञान वह महासागर है जिसमें भले-बुरे संचित-प्रारब्ध-क्रियमाण कर्मों का समुदाय कहाँ खो जाता है, पता ही नहीं चलता।

ऋग्वेद का तो कहना है कि वह सर्वोच्च ज्ञान, ब्रह्म का ज्ञान ही ब्रह्म है। इस वेद का महावाक्य है –

प्रज्ञानं ब्रह्म।

– सर्वोपरि ज्ञान ही ब्रह्म है।

क्योंकि ज्ञान आत्मा में ही रहता है, और आत्मा शरीर में समाया हुआ है अतः ज्ञानमय आत्मा से युक्त शरीर को ही ब्रह्म मानने के अतिरिक्त ब्रह्म से संबन्ध स्थापित करने का हमारे पास कोई उपाय नहीं है।

इसीलिये इस ज्ञानरूप ब्रह्म को प्राप्त करने का एकमात्र उपाय बतलाते हुए पूरी गीता में भगवान् श्रीकृष्ण ने यही एक उपाय बतलाया है –

तद् विद्धि प्रणिपातेन परिप्रश्नेन सेवया।
उपदेक्ष्यन्ति ते ज्ञानं ज्ञानिनस्तत्त्वदर्शिनः ॥

– ४।३४

– हे अर्जुन, तत्त्वज्ञानी महापुरुषों को साष्टांग दण्डवत् प्रणाम कर, निश्छल भाव से बार-बार उनसे विनयपूर्वक प्रश्न कर और उनकी सेवा कर। तब तुझ पर प्रसन्न होकर वे ज्ञानी महापुरुष तुझे उस ब्रह्मज्ञान का उपदेश देंगे।

सद्गुरु से प्राप्त इस ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए वे आगे कहते हैं –

यज्ज्ञात्वा न पुनर्मोहमेवं यास्यसि पाण्डव।
येन भूतान्यशेषेण द्रक्ष्यस्यात्मन्यथो मयि ॥

– ४।३५

– सद्गुरु से वह ज्ञान प्राप्त कर लेने के बाद फिर तुझे इस प्रकार का मोह नहीं होगा, जिससे तेरा मन इस समय भरा हुआ है। उस ज्ञान से तू सम्पूर्ण रूप से इस जड़-चेतन पञ्चभूतमय सृष्टि को मुझमें और अपने भीतर भी देखेगा।

अपि चेदसि पापेभ्यः सर्वेभ्यः पापकृत्तमः।
सर्वं ज्ञानप्लवेनैव वृजिनं सन्तरिष्यसि ॥

– ४।३६

– इतना ही नहीं, यदि तू सभी पापियों से बढ़कर महाभयानक पापी भी है तो भी सद्गुरु से प्राप्त उस एकमात्र ज्ञानरूपी नौका के द्वारा ही तू सब पापों को पार कर लेगा।

यथैधांसि समिद्धोऽग्निर्भस्मसात् कुरुतेऽर्जन।
ज्ञानाग्निः सर्वकर्माणि भस्मसात् कुरुते तथा ॥

– ४।३७

– क्योंकि जैसे तेज जलती हुई अग्नि ईंधन को राख कर देती है वैसे ही सद्गुरु से प्राप्त वह ज्ञानरूपी अग्नि सम्पूर्ण जन्मों के अच्छे-बुरे सभी कर्मों को जलाकर राख कर देती है।

न हि ज्ञानेन सदृशं पवित्रमिह विद्यते।

– ४।३८

– इसीलिये हे अर्जुन, सद्गुरु से प्राप्त उस ज्ञान से बढ़कर कोई दूसरी पवित्र वस्तु इस संसार में नहीं है।

उपनिषदों के, उपनिषद्रूप गीता के उपर्युक्त उद्धरणों को देखने से स्पष्ट हो जाता है कि आत्मज्ञान या ब्रह्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा हो अथवा लौकिक ऐश्वर्य की चाह हो तो मनुष्य को तत्त्वदर्शी महापुरुष, सन्त-सद्गुरु की ही पूजा-अर्चा, सेवा-उपासना करनी चाहिए। इसके अतिरिक्त सब उपाय निरर्थक हैं, निष्फल हैं।

बर्तमान युग के सन्त-सद्गुरु या तत्त्वदर्शी महापुरुष उपनिषदों की भाषा

नहीं बोलते, क्योंकि उन्हें गाँव-गँवई के अशिक्षित जीवों का भी उद्धार करना है, किन्तु वे अध्यात्मविद्या या पराविद्या के पारंगत आचार्य होते हैं। उनके उपदेशों में सीधी-सादी लोकभाषा में वे ही बहुमूल्य भाव देखने को मिलते हैं जो हम उपनिषदों में देखते हैं। गोस्वामी तुलसीदासजी कहते हैं

सदगुरु मिले तें जाहिं जिमि संसय भ्रम समुदाय।

— सद्गुरु से मिलन होते ही, उनसे परानाम का उपदेश प्राप्त होते ही सभी सन्देह तथा भ्रम नष्ट हो जाते हैं।

उनका कहना है कि सन्तों के दर्शन मात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं —

संत दरस जिमि पातक टरहीं।

सन्त सुन्दरदास कहते हैं —

परमेस्वर अरु परम गुरु दोऊ एक समान।
सुंदर कहत बिसेस यह गुरु तैं पावै ज्ञान॥
सतगुरु मिले सुजान श्रवन जिन शब्द सुनाया।
सिर पर दीया हाथ भरम सब दूरि उड़ाया॥
उपजा आतम ज्ञान, ध्यान अभिअंतरि लागा।
किया ब्रह्म सौं नेह, जगत सौं तोर्‌या तागा॥
सतगुरु ब्रह्मसरूप रूप धारहिं जग माहीं।
जिनके शब्द अनूप, सुनत संशय सब जाहीं॥
उर महिं ज्ञान प्रकाश, होत कछु लगै न बारा।
अन्धकार मिटि जाइ, कोटि सूरय उजियारा॥
परमेस्वर ब्यापक सकल, घट धारैं गुरुदेव।
घट कौं घट उपदेश दे, सुंदर पावै भेव॥

गुरुदेव बिना नहिं मारग सूझय, गुरु बिन भक्ति न जानै।
गुरुदेव बिना नहिं संशय भागय, गुरु विन लहै न ज्ञानै॥
गुरुदेव बिना नहिं कारज होई, लोक वेद यौं गावै।
गुरुदेव बिना नहिं सदगति कोई, गुरु गोबिन्द बतावै॥
गुरुदेव बिना नहिं भाग्य जगै। गुरुदेव बिना नहिं प्रीति लगै।
गुरुदेव बिना नहिं शुद्ध हृदं। गुरुदेव बिना नहिं मोक्षपदं॥

गुरु के प्रसाद बुद्धि उत्तम दशा कौं ग्रहै,
गुरु के प्रसाद भव दुःख बिसराइये।
गुरु के प्रसाद प्रेम प्रीति हू अधिक बाढ़े,
गुरु के प्रसाद रामनाम गुन गाइये ।
गुरु के प्रसाद सब योग की युगति जानै,
गुरु के प्रसाद शून्य मैं समाधि लाइये ।
सुन्दर कहत गुरुदेव जौ कृपाल होहिं,
तिनके प्रसाद तत्व ज्ञान पुनि पाइये ।

'अध्यात्म' शब्द का अर्थ है 'आत्मा में', 'आत्मा पर'। इसका भावार्थ है – आत्मा को सम्पूर्ण रूप से प्राप्त कर लेना। किन्तु यह तो मात्र शब्द है। निश्चय ही कोई ऐसी क्रिया है जिसके करने से आत्मा के सम्पूर्ण स्वरूप की जानकारी हो जाती है। यह क्रिया ही 'अध्यात्मयोग' है। इस अध्यात्मयोग की प्राप्ति का अर्थ है सद्गुरु की प्राप्ति होना, उन पर विश्वास होना, उन्हें ब्रह्म का साक्षात् स्वरूप मान लेना। इस अध्यात्मयोग की प्राप्ति के द्वारा ही मनुष्यशरीर के भीतर विराजमान सच्चिदानन्द परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

कठोपनिषद्

कठोपनिषद् का कहना है –

तं दुर्दर्शं गूढमनुप्रविष्टं गुहाहितं गह्वरेष्ठं पुराणम्।
अध्यात्मयोगाधिगमेन देवं मत्वा धीरो हर्षशोकौ जहाति ॥

– कठोप० १।२।१२

– यमराज नचिकेता से कहते हैं – सब ओर से महायोगमाया के परदे के भीतर गुप्त रूप से विराजमान, सृष्टि के अणु-अणु में समाए हुए, संसार रूपी घोर गहन वन के भीतर स्थित, मनुष्यों के मस्तक के भीतर की गुहा – आकाशकमल के कोश के भीतर बैठे, अत्यन्त कठिनता से देखे जा सकने योग्य उन सनातन देव परमात्मा को अध्यात्मयोग की प्राप्ति के द्वारा जानकर धीर पुरुष हर्ष और शोक का त्याग कर देता है अर्थात् सुख-दुःख की भावना से परे हो जाता है, ऊपर उठ जाता है।

सदुगुरु से प्राप्त उस नामब्रह्म का स्वरूप और उसकी महिमा बतलाते हुए उपनिषद् आगे कहता है –

सर्वे वेदा यत्पदमामनन्ति तपाꣳसि सर्वाणि च यद् वदन्ति।
यदिच्छन्तो ब्रह्मचर्यं चरन्ति तत्ते पदꣳसंग्रहेण ब्रवीम्योमेतत् ॥

— कठोप० १।२।१५

— सम्पूर्ण वेद जिस परमपद का निरन्तर प्रतिपादन करते हैं और सारी तपस्याएँ एकमात्र जिसको ही लक्ष्यरूप में कहती हैं अर्थात् एकमात्र जिसकी प्राप्ति के लिये विविध प्रकार की सम्पूर्ण तपस्याएँ की जाती हैं, जिसको पाने की कामना करते हुए उपासकगण, ज्ञानी, भक्त तथा योगीजन ब्रह्मचर्य का आचरण करते हैं वह परम-पद मैं तुझे संक्षिप्त रूप में बतला रहा हूँ — वह है 'ओम्' अर्थात् परानाम।

सद्गुरु से प्राप्त इस परानाम में ही उस परब्रह्म का रूप समाया हुआ है जो सद्गुरु की बतलाई हुई विधि से ध्यान-अभ्यास करने पर अन्तःकरण में प्रकाशित हो उठता है। उपनिषद् का कथन है —

एतद्ध्येवाक्षरं ब्रह्म एतद्ध्येवाक्षरं परम्।
एतद्ध्येवाक्षरं ज्ञात्वा यो यदिच्छति तस्य तत् ॥

— कठोप० १।२।१६

— सद्गुरु से प्राप्त यह अक्षर ही ब्रह्म है, यह अक्षर ही परब्रह्म है, इस एक अक्षर को जो जान लेता है वह फिर भौतिक-आध्यात्मिक जिस वस्तु की भी इच्छा करता है वही उसे प्राप्त हो जाती है।

आगे यमराज सद्गुरु से प्राप्त इस नाम के निर्मायिक स्वरूप के ज्ञान की महत्ता बतलाते हुए कहते हैं —

एतदालम्बनꣳश्रेष्ठमेतदालम्बनं परम्।
एतदालम्बनं ज्ञात्वा ब्रह्मलोके महीयते ॥

— कठोप० १।२।१७

— सद्गुरु से प्राप्त इस नाम का सहारा ही जीव का सर्वश्रेष्ठ विश्वस्त आलम्बन है, यही अन्तिम आश्रय है, इसके वाद इससे बढ़कर और कोई जीव का आश्रय नहीं है। जो जीव सद्गुरु से प्राप्त इस नामरूपी आश्रय का यथार्थ स्वरूप जान लेता है वह ब्रह्मलोक में जाकर महिमा को प्राप्त होता है।

हम तो जोड़-तोड़ में लगे हुए हैं — यहाँ यह लिखा है, वहाँ वह लिखा है, इसने ऐसा कहा, उसने वैसा कहा, इसलिये यह वात ऐसी है। किन्तु सन्तों को

वेद-शास्त्र आदि किसी प्रमाण की आवश्यकता नहीं होती, उनका स्वतः का अनुभव ही प्रमाण होता है। उपर्युक्त सत्य का वे अपने अन्तःकरण में अनुभव करते हैं। सन्त कबीर किसी ऐसे ही वेद-पुराण में लिखी बातें बोलनेवाले पण्डित से कहते हैं —

तू कहता कागद की लेखी। मैं कहता आँखिन की देखी ॥

सद्गुरु से प्राप्त नाम का आश्रय कितना गुणकारी है इसका स्वयं में अनुभव करनेवाले गोस्वामी तुलसीदासजी सीधी सरल भाषा में कहते हैं —

रामनाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥

— कलियुग में तो यह रामनाम अर्थात् सद्गुरु से प्राप्त नाम साधक के सम्पूर्ण मनोरथों को पूर्ण करता रहता है। मृत्यु के बाद जीव की अधोगति न हो, जहाँ वह जाय वहाँ उसे कष्ट न हो इसका प्रबन्ध तो वह करेगा ही, इस लोक में उस नाम का उपासक जब तक जिएगा तब तक उसके सुख-दुःख या भले-बुरे की चिन्ता वह नाम इसी तरह करेगा जैसे माता-पिता अपनी सन्तान के लिये करते हैं।

नाम की इसी अनिर्वचनीय महत्ता और गुणवत्ता का अनुभव करने के पश्चात् वे कहते हैं —

ब्रह्म राम तें नाम बड़, बरदायक बरदानि।
रामचरित सत कोटि महँ लिय महेस जियँ जानि ॥

— सद्गुरु से प्राप्त नाम ब्रह्म से भी बड़ा है और राम से भी बड़ा है, यह बड़े-बड़े वरदानियों, वर देनेवाले देवताओं को भी वरदान देनेवाला है। यह बात जब शिवजी की समझ में ठीक तरह से बैठ गई तो उन्होंने सैकड़ों-करोड़ो रामचरितों, रामायणों में से केवल इस नाम को उठाकर अपना लिया, क्योंकि और सब कुछ तो उसी के अधीन है, उसी के अन्तर्गत है।

यहाँ हमने देखा कि सन्त-सद्गुरु से प्राप्त होनेवाला 'ओम्' यानी नाम ही परब्रह्म है, परमपद है, परमज्ञान है, परमानन्द है, वही आत्मा है। ब्रह्म और ब्रह्म का नाम दोनों एक हैं। ब्रह्म में नाम और नाम में ब्रह्म समाए हुए हैं। सन्त-सद्गुरु से नाम प्राप्त होते ही ब्रह्म के परमप्रकाशमय निरंजन स्वरूप की प्राप्ति के मार्ग पर जीव आरूढ हो जाता है, योगारूढ हो जाता है। इसके बाद सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई विधि से ध्यान-अभ्यास करते-करते एक न एक दिन वह ब्रह्म का अन्तःसाक्षात्कार कर लेता है। साधक के अभ्यास में जितनी दृढता तथा तीव्रता होगी उतनी ही जल्दी वह आत्मा या ब्रह्म के तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त करने में

सफल हो जाता है। गीता का कथन है कि सद्गुरु से प्राप्त वह त्रिलोकदुर्लभ ज्ञान कुछ समय बीतने के बाद योगसंसिद्ध होने पर, योगसाधना पूर्ण होने पर साधक की आत्मा में उतर आता है –

तत्स्वयं योगसंसिद्धः कालेनात्मनि विन्दति।

– ४ । ३८

सद्गुरु से प्राप्त नाम के सदभ्यास से ही ब्रह्म के प्रकट हो पड़ने की बात सन्त तुलसीदास भी कहते हैं –

नाम निरूपन नाम जतन तें। सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन तें ॥

– सद्गुरु से प्राप्त नाम का उनकी उपदेश की हुई विधि से जप-ध्यान आदि करते रहने, नाम के महत्त्व को समझते-समझाते रहने, नाम की महिमा पर विश्वास दृढ करनेवाली कथाएँ कहने-सुनने तथा लौकिक सुख, सम्मान-यश आदि की काम-नाओं द्वारा नाम की उपासना से उत्पन्न शक्ति का अपव्यय न करने से उस नाम से ही वह ब्रह्म इस प्रकार प्रकट हो जाता है जैसे किसी बहुमूल्य रत्न को सुरक्षित रखने तथा उलट-पलटकर देखने से उस रत्न का मूल्य अचानक ही मस्तिष्क में उभर-कर स्थिर हो जाता है।

परब्रह्म परमात्मा के मूर्त स्वरूप सन्त-सद्गुरु इस बात के पाबन्द नहीं हैं कि वे ओम्, सोऽहं, राम, कृष्ण या विष्णु शब्दों को ही मन्त्ररूप में शिष्य को प्रदान करें। अनन्त ब्रह्म, अनन्त विष्णु तथा अनन्त रुद्रों को उत्पन्न करते रहनेवाले वे अपने इष्ट सद्गुरुदेव की मौज से देश-काल के अनुसार जीवों के कल्याण हेतु जो भी नाम चाहते हैं, उचित समझते हैं वही देते हैं, और साधकों के लिये वही प्रणव है, वही राम है, वही कृष्ण है, शिव है, विष्णु है।

वस्तुतः सद्गुरु अपने शिष्य के कान में नामरूप में कौन सा मन्त्र सुनाते हैं इसे उन सद्गुरु और शिष्य के अतिरिक्त कोई तीसरा व्यक्ति जान भी कैसे सकता है, जबकि किसी को न बतलाना ही उसके स्फुरित होने की शर्त है –

फुरै मंत्र जब करिअ दुराऊ।

– उपासक को अभीष्ट फल देने के लिये मन्त्र तभी क्रियाशील हो पाता है जब उसके स्वरूप और साधना को कोई जान न पावे। लोगों के जान लेने पर मन्त्र की शक्ति जाननेवालों में, प्रशंसकों में बिखरकर बँट जाती है तथा मन्त्र निस्तेज रह जाता है।

उस नाम के या इष्ट के विषय में यदि कोई किसी से कुछ कहना चाहता है या उस विषय में चर्चा करना चाहता है तो ये ओम्, राम-कृष्ण आदि शब्द ही प्रयोग के माध्यम बनाए जा सकते हैं, जैसा कि सभी सन्तों की बानियों अथवा सब आध्यात्मिक ग्रन्थों में देखने को मिलता है। उनके सद्गुरुदेवों ने उन्हें जो 'अमोलक वस्तु' 'नामरतन धन' दिया है उसे वे कैसे जगजाहिर कर सकते हैं। कबीर साहब कहते हैं कि 'मैं तो अपने राम की बहुरिया'। बहुरिया अपने पति का नाम मन में तो स्मरण करती ही है, मुँह से उच्चारण कर प्रकट नहीं करती। प्रकट करने का प्रयोजन भी क्या है, व्यवहार का निर्वाह तो प्रतीक नामों से ही हो जाता है। गोपनीयता को कोई आँच नहीं आने पाती। सद्गुरु से प्राप्त वह नाम जब चौथे से पाँचवें कान तक ही नहीं पहुँच पाता तब पुस्तकों में कहाँ से पहुँच जायगा। पुस्तकों में जो प्राप्त होगा वह वह नहीं हो सकता, उसका आधार तो मात्र आत्मा है।

इतना दुर्लभ नाम, ज्ञान, पराविद्या, अजपाजप आदि का दान करनेवाले तत्त्वदर्शी सन्त कौन हैं, कहाँ मिलेंगे, ऐसा प्रश्न जब उठता है तो निराशा के ही स्वर गूँजते सुनाई पड़ते हैं – अब ऐसे सन्त इस धरती पर कहाँ रह गये। कारण यह है कि साधु-सन्तों के स्वरूप की हमारी परिकल्पना ही गलत है। हमारे मन में उपासक, तपस्वी आदि साधनामय स्वरूप की ही कल्पना साधु-सन्तों की है, जबकि तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु सम्राटों के सम्राट् होते हैं, ऋद्धि-सिद्धियाँ उनकी सेवा में तत्पर रहती हैं, वे त्रिगुणातीत, विधि-निषेध से परे, तुरीय अवस्था के पार स्थित रहते हैं। उनके भक्तगण साहेब, स्वामी, सरकार, मालिक, दाता दीनदयाल आदि शब्दों से उनकी स्तुति करते हैं। उनके सिर पर रत्नजटित स्वर्णमुकुट सुशोभित रहता है। उनकी आरती उतारी जाती है, चँवर डुलाए जाते हैं।

यह सब देख-सुनकर हम इस ऐश्वर्य को उनकी इच्छा का परिणाम मान लेते हैं और उनके प्रति यह धारणा बना लेते हैं कि ऐसा पाखण्डी आदमी योगी हो ही नहीं सकता, यह तो मात्र भोगी है। इस प्रकार परम्परा और पूर्वाग्रह से ग्रस्त अपनी सदोष दृष्टि के कारण हम उन्हें पहचानने में भूल कर बैठते हैं। यदि कोई अन्य व्यक्ति हमसे उनके बारे में पूछे तो हमारे मुँह से उनके लिये निन्दा के ही स्वर निकलते हैं। इसीलिये यमराज नचिकेता से कहते हैं –

श्रवणायापि बहुभिर्यो न लभ्यः शृण्वन्तोऽपि बहवो यं न विद्युः।
आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धाऽऽश्चर्यो ज्ञाता कुशलानुशिष्टः॥

– कठोप० १।२।७

— हे नचिकेता, बहुत से लोगों को तो जीवन में यह सुनने को भी नहीं मिलता कि अमुक स्थान पर अमुक महापुरुष तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु हैं। जो लोग सुन भी लेते हैं उन्हें विश्वास ही नहीं होता अतः वे उन्हें नहीं जान पाते। तत्त्वदर्शी होते हुए भी इस गूढ उपासना का रहस्य कोई किसी को बतलाता नहीं। यदि अपने आराध्य सद्गुरु के आदेश से कोई बतलानेवाला तत्त्वदर्शी महापुरुष मिल जाय तो वह आश्चर्यरूप ही है, परमदुर्लभ है। उस परमतत्त्व को प्राप्त करनेवाला, उसका अन्तःसाक्षात्कार करनेवाला पुरुष बहुत ही कुशल, कदाचित् ही कोई एक होता है। तत्त्वदर्शी सद्गुरु के शासन में रहकर, उन्हें सेवाद्वारा प्रसन्न कर जिसने उस परम-तत्त्व को जान लिया है वह महापुरुष पूरी पृथ्वी पर कहीं कोई विरला ही होता है अतः आश्चर्यरूप ही है, परमदुर्लभ है।

भौंहों के वीच मस्तक के भीतर के आकाश में सहस्रदल कमल के मध्य विराजमान परब्रह्म से मिलकर एकाकार हुए पूर्ण सद्गुरु से ही प्राप्त की हुई परा-विद्या की साधना-पद्धति द्वारा साधक को निश्चित और असंदिग्ध रूप से ब्रह्म-विद्या की प्राप्ति हो सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है, यह मान्यता सन्तमत की आधारशिला है। हम देखते हैं कि यह बात उपनिषद् में कितनी स्पष्टता से बल देकर कही गयी है —

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो वहुधा चिन्त्यमानः।
अनन्यप्रोक्ते गतिरत्र नास्त्यअणीयान् ह्यतर्क्यमणुप्रमाणात् ॥

— कठोप० १।२।८

— इस पराविद्या का पूर्ण ज्ञान न रखनेवाला कोई अल्पज्ञ व्यक्ति इस परमतत्त्व का, नाम का उपदेश कर भी दे तो साधक कितनी भी माथापच्ची क्यों न करे, वह उसे कभी भी नहीं जान सकता। किसी दूसरे पूर्ण ज्ञानी महापुरुष द्वारा जब तक उपदेश प्राप्त न हो तव तक इस विषय में किसी की गति या पहुँच हो ही नहीं सकती क्योंकि वह परमतत्त्व या आत्मा सूक्ष्मतम वस्तु से भी अधिक सूक्ष्म है, उसके विषय में कोई तर्क काम नहीं देता।

वेद का स्वरूप वतलाते हुए कहा गया है — 'मन्त्रब्राह्मणयोर्वेदनामधेयम्' अर्थात् मन्त्र और ब्राह्मण भाग को वेद कहा जाता है। मन्त्रभाग वेदों की मूल संहिताएँ हैं। ब्राह्मणग्रन्थों में मन्त्रों के प्रयोग की विधियाँ हैं। ब्राह्मणग्रन्थों के अन्तर्गत आरण्यक और आरण्यकों के अन्तर्गत उपनिषद् हैं अतः उपनिषद् भी वेद माने जाते हैं।

जिन दिनों जिन लोगों द्वारा उपनिषद् प्रकाश में आए, वे ऋषि-महर्षि उस काल के सन्त-सद्गुरु ही थे। अतः ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक उपनिषद् आदि सन्त-वाणी ही हैं। अन्तर केवल इतना है कि वे उस समय की बोलचाल की भाषा संस्कृत में हैं और वर्तमान युग की सन्तवाणी आज की लोकभाषा में है। ब्रह्मविद्या के प्रतिपादक संसार भर के सभी मूल ग्रन्थ इसी प्रकार की सन्तवाणियाँ हैं।

इन ग्रन्थों से प्रत्यक्ष रूप में तो धन कमाने में कोई सहायता नहीं मिलती अतः हम इनके अध्ययन से विमुख हो गए हैं। किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से देखें तो भौतिक-आध्यात्मिक जितने प्रकार के लाभ हमारी कल्पना में हैं और जो हमारी कल्पना से परे हैं, वे सभी इन आध्यात्मिक ग्रन्थों के उपदेशानुसार चलने से ही प्राप्त हो जाते हैं। इन सबमें तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु का और उनसे प्राप्त होने-वाली अमूल्य निधि परानाम की महिमा का ही तो वर्णन है। हमारा अभीष्ट सिद्ध हो, लोक-परलोक में हमारा कल्याण हो, और हमें क्या चाहिए। सन्त तुलसी-दास कहते हैं –

राम नाम कलि अभिमत दाता। हित परलोक लोक पितु माता ॥

उपर्युक्त उपनिषद् के मन्त्र में सुस्पष्ट रूप से घोषित किया गया है कि अनधिकारी व्यक्ति से पराविद्या के उपदेश के नाम पर दीक्षित होनेवालों के हाथ कुछ भी नहीं लगेगा, चाहे वे कितना भी शारीरिक-मानसिक व्यायाम क्यों न करें। सन्तों ने भी ऐसे अनधिकारी गुरुओं की बड़ी भर्त्सना की है। सन्त कबीर कहते हैं –

ब्राह्मण गुरू जगत का, साधू का गुरु नाहिं।
उरझि-पुरझि करि मरि रह्या चारिउ बेदन माहिं ॥

बाम्हन दिच्छा देत, सो घर घर घालिहै।
मूर सजीवन पास, तू पाहन पालिहै ॥

कनफूँका चिदकासी लूटे, लूटे जोगेसर करत बिचार।
हम तो बचि गे साहेब दया से, सब्द डोर गहि उतरे पार ॥

किन्तु हम अपने दुर्भाग्यवश उनके परम हितकर उपदेशों पर विचार नहीं करते, उन्हें हृदयंगम नहीं करते, उलटे, हम उनके आलोचक और निन्दक बन बैठते हैं, उनकी अवज्ञा करते हैं, फलतः अपना लोक-परलोक अपने ही हाथों बिगाड़ लेते

हैं। हम परम्परा और पूर्वाग्रह का मोह नहीं छोड़ पाते। उच्च कोटि के विशुद्ध सन्तों के प्रति जीवनभर सन्देहग्रस्त बने रहते हैं, धन तथा मान-प्रतिष्ठा के लिये शिष्य बनानेवाले, आध्यात्मिक ज्ञान से अछूते, जातिमात्र के ब्राह्मणों से नाम-मात्र की (रूपविहीन) अधूरी, निर्जीव दीक्षा लेकर अपने को कृतार्थ समझ लेते हैं। ऐसे गुरुओं से दीक्षित होने पर न तो हमारा शोक दूर होता, न हमें सुख-शान्ति मिलती, न हममें विश्वबन्धुत्व की भावना का उदय होता। जब हमारा उद्धार करने का दम भरनेवाले हमारे तथाकथित गुरु ही संकीर्णता के कीचड़ में लिपटे पड़े हैं तव हमारे उबरने की बात ही कहाँ उठती है।

इसके विपरीत तत्त्वदर्शी विशुद्ध सन्त-सद्गुरु सब प्रकार से आनन्दसागर में डूबे हुए, आनन्दरूप होते हुए भी मात्र हम जीवों के दुःख से दुखी रहते हैं। वे कृतकृत्य होते हैं, उन्हें अपने लिये अब कुछ करना शेष नहीं रहता, दिनरात वे जो कुछ करते हैं वह जीवों के उपकार हेतु ही करते हैं। वे मात्र इसलिये संसार में हमारे बीच रहकर कष्ट सहते हैं कि हम पातकी जीवों का उद्धार हो सके। वे बिना हमारा परीक्षण किए ही, विना शर्त, निःशुल्क नामदान करने में संलग्न रहते हैं, किन्तु तब भी हम उनके पास नहीं जाते, बल्कि उनकी निन्दा करते हैं ताकि दूसरे लोग भी उनके पास न जाने पावें, और इस प्रकार हम अपने अधःपतन का मार्ग प्रशस्त कर लेते हैं। शिवजी पार्वती से कहते हैं —

साधु अवग्या तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥

प्राचीनकाल में किसी प्रकार सद्गुरु के प्राप्त हो जाने के बाद भी उनसे ब्रह्मविद्या या परानाम का उपदेश प्राप्त कर पाना बड़ा दुष्कर काम था। पहले जिज्ञासु को लम्बे समय तक अपनी सेवा में रखकर उसकी शारीरिक-मानसिक योग्यता को जाँचा परखा जाता था। यदि वह उचित पात्र समझ में आता था तब कहीं जाकर उसे भक्तिबीज अर्थात् नाम का उपदेश दिया जाता था।

प्रश्नोपनिषद्

अथर्ववेदीय प्रश्नोपनिषद् का आरम्भ एक ऐसे ही कथानक से होता है। भरद्वाजपुत्र सुकेशा, शिबिपुत्र सत्यकाम, गर्गगोत्रोत्पन्न सौर्यायणी, कोसल-निवासी आश्वलायन, विदर्भ के निवासी भार्गव और कत्य ऋषि का पौत्र कबन्धी — ये छहों जिज्ञासु, परब्रह्म कहाँ प्राप्त हो, कैसे प्राप्त हो इस चिन्ता में डूबते-उतराते परा-

विद्या का उपदेश देनेवाले को खोजते फिर रहे थे। किसी तरह उन्हें पता चला कि महर्षि पिप्पलाद नाम के एक ब्रह्मज्ञानी सन्त हैं जो हमारी सभी शंकाओं का समाधान कर सकते हैं। इसके बाद वे हाथों में समिधाएँ लेकर (अपने शुभाशुभ कर्म उन्हें समर्पित करने का संकल्प लेकर) उनकी सेवा में पहुँच गए।

महर्षि पिप्पलाद ने उनसे कहा कि तुम लोग एक वर्ष तक ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए इस आश्रम में रहकर श्रद्धापूर्वक तप करो। इसके बाद जो चाहो सो प्रश्न पूछना। उस समय यदि मैं जानता रहूँगा तो तुम्हारी सभी शंकाओं का समाधान कर दूँगा —

ॐ सुकेशा च भारद्वाजः शैब्यश्च सत्यकामः सौर्यायणी च गार्ग्यः कौसल्यायनश्चाश्वलायनो भार्गवो वैदर्भिः कबन्धी कात्यायनस्ते हैते ब्रह्मपरा ब्रह्मनिष्ठा परं ब्रह्मान्वेषमाणा एष ह वै तत्सर्वं वक्ष्यतीति ते ह समित्पाणयो भगवन्तं पिप्पलादमुपसन्नाः ॥ तान् ह स ऋषिरुवाच भूय एव तपसा ब्रह्मचर्येण श्रद्धया संवत्सरं संवत्स्यथ यथाकामं प्रश्नान् पृच्छत यदि विज्ञास्यामः सर्वं ह वो वक्ष्याम इति ॥

— प्रश्नोप० १।१-२

इस वैदिक आख्यान से स्पष्ट है कि अध्यात्म के जिज्ञासु अपने समाधान के लिये एकमात्र तत्त्वज्ञानी पूर्ण सद्गुरु की खोज करते थे, दीर्घकाल तक उनकी सेवा करते थे और उनकी कृपा से साधना में प्रवृत्त होकर ब्रह्म की अपरोक्ष अनुभूति करके अपना जीवन सफल करते थे।

जिज्ञासु की पात्रता का इतनी कठोरता से परीक्षण आवश्यक था क्योंकि कामी, क्रोधी, लालची, अविश्वासी जैसे कुपात्र लोगों के हाथ पड़ने के बाद पराविद्या का दुरुपयोग यानी लौकिक कामनाओं की पूर्ति में, शाप-आशीर्वाद आदि देने में उसका अपव्यय सम्भव है, और इस प्रकार ऐसे लोग सद्गुरु-दरबार के यश को धूमिल कर देंगे। यदि कहीं सद्गुरु से ब्रह्मविद्या प्राप्त करने के बाद शिष्य विमुख हो गया, सद्गुरु से द्रोह करने लगा तो ऐसे शिष्य का लाभ होने के स्थान पर भयंकर अनिष्ट हो जायगा, और तव तो सद्गुरु और शिष्य दोनों का मूल प्रयोजन ही निष्फल हो जायगा।

किन्तु पराविद्या का बीजमन्त्र, परानाम का उपदेश प्राप्त होते ही जीव योग-साधना का अधिकार प्राप्त कर लेता है, योगमार्ग पर आरूढ हो जाता है। इसके

बाद किन्हीं कारणों से यदि वह साधना में सफल नहीं भी हुआ तो भी योगारूढ होने के कारण मृत्यु के बाद उसे स्वर्ग आदि पवित्र लोक प्राप्त होते हैं जहाँ उसे उसके उन मनोरथों के अनुसार यथेष्ट भोग प्राप्त होते हैं जिन्हें पाने के मिथ्या प्रयासों में उलझे रहने के कारण वह अपनी साधना में अग्रसर नहीं हो सका। सैकड़ों हजारों वर्षों तक उन पुण्यलोकों के भोग भोगकर वह फिर इस कर्मभूमि मर्त्यलोक में किसी अच्छे पवित्र धनवान् कुल में कर्मयोनि प्राप्त करता है, मनुष्य होकर जन्म लेता है। उपनिषत्स्वरूप श्रीमद्भगवद्गीता में श्रीकृष्ण और अर्जुन के संवाद से इस विषय पर यथेष्ट प्रकाश पड़ता है।

अर्जुन उवाच

अयतिः श्रद्धयोपेतो योगाच्चलितमानसः।
अप्राप्य योगसंसिद्धिं कां गतिं कृष्ण गच्छति॥

— ६।३७

— अर्जुन श्रीकृष्ण से पूछते हैं — हे कृष्ण! श्रद्धायुक्त होते हुए भी शिथिल प्रयत्नवाले जिस साधक का मन सद्गुरु से प्राप्त की हुई नामसाधना में न जम सके उसे योग की सफलता अर्थात् आत्मज्ञान तो नहीं ही प्राप्त होगा। ऐसा व्यक्ति शरीर छोड़ने के बाद किस गति को प्राप्त होता है?

श्रीभगवानुवाच

पार्थ नैवेह नामुत्र विनाशस्तस्य विद्यते।
न हि कल्याणकृत् कश्चिद् दुर्गतिं तात गच्छति॥

— ६।४०

— श्री भगवान् ने उत्तर दिया — हे पार्थ! ऐसे व्यक्ति का न तो इस लोक में नाश होता है, न परलोक में ही, क्योंकि हे भाई, कल्याणप्रद कर्म करनेवाला अर्थात् पराविद्या की साधना करनेवाला कोई भी जीव दुर्गति को नहीं प्राप्त हुआ करता।

प्राप्य पुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः।
शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते॥

— ६।४१

— हे अर्जुन, इस प्रकार का योगभ्रष्ट जीव देह त्यागने के बाद पुण्यकर्म करनेवालों को प्राप्त होनेवाले लोकों में जाता है, वहाँ वह बहुत वर्षों तक निवास करता है तथा इसके बाद उत्तम आचरणवाले श्रीमान् लोगों के घर जन्म लेता है।

तत्र तं बुद्धिसंयोगं लभते पौर्वदेहिकम् ।
यतते च ततो भूयः संसिद्धौ कुरुनन्दन ॥

— ६।४३

— हे कुरुनन्दन ! वहाँ वह उसी पूर्वशरीर में की गयी साधना से प्राप्त उत्तम बुद्धि के संस्कार को बिना प्रयास सहज ही प्राप्त कर लेता है और फिर उसी के प्रभाव से अपनी साधना की सफलता के लिये यत्न आरम्भ कर देता है।

प्रयत्नाद् यतमानस्तु योगी संशुद्धकिल्विषः ।
अनेकजन्मसंसिद्धस्ततो याति परां गतिम् ॥

— ६।४५

— प्रयत्नपूर्वक साधना करता हुआ वह योगी निष्पाप होकर अनेक जन्मों में उत्तरोत्तर सफलता प्राप्त करता हुआ परम गति को प्राप्त हो जाता है।

यह जीव जब से अपने प्रभु से अलग हुआ तब से आज तक अपने कर्मों के फलस्वरूप न जाने कितने प्रकार की कितनी योनियों में अरबों-खरबों बार जन्म लेता मरता अनेक प्रकार के भोग भोगता आ रहा है। यह कर्मयोनि अर्थात् मानव-शरीर भी उसे अपने किसी कर्म के फलस्वरूप नहीं, बल्कि प्रभु की अहैतुकी दया से ही प्राप्त हुआ है। पुनः उसके शुभाशुभ कर्मों के अनुसार भविष्य की भोग-योनियाँ प्राप्त होंगी जहाँ विषम माया के अधीन काल-कर्म-गुण-स्वभाव से घिरा, उनसे प्रेरित वह शुभाशुभ कर्मों का फल भोगता रहेगा। यह कर्म और फलभोग की परम्परा कब टूटेगी, कब जीव उससे मुक्त होगा, अपने बल पर तो इसकी कोई आशा नहीं की जा सकती।

ऐसी दयनीय दशा में यदि वह जीव किसी प्रकार करुणा के अवतार सन्त-सद्गुरु के पास पहुँच जाता है और उनके मुख से निकला परानाम उसके कान में पड़ जाता है तो अब उसे अपने कर्मजाल को काटने की सही साधना, तीक्ष्ण शस्त्र प्राप्त हो गया। अब उसकी कर्मडोर, वह तीव्र प्रयत्नशील हो तो आज, अभी, अथवा उसका प्रयत्न शिथिल हुआ तो कालान्तर में, जन्मान्तर में कट ही जायगी, वह मुक्त हो ही जायगा, यह निश्चित हो गया। परमपद पानेवालों की पंक्ति में, सबके अन्त में ही सही, उसका भी नाम अंकित हो गया।

बौद्धों ने सद्गुरु से परानाम का उपदेश प्राप्त किए हुए ऐसे जीव के लिये 'स्रोतापन्न' (प्रवाहपतित) विशेषण का प्रयोग किया है। सद्गुरु ने जिस जीव को

परानाम का उपदेश दे दिया उसे मानो उन्होंने निर्वाण नामक नदी के प्रवाह में छोड़ दिया – इस आशय से कि अब यह एक न एक दिन महासागर में अवश्य जा मिलेगा। यदि वह मध्यधारा को पकड़ लेता है तब तो सीधे समुद्र से मिलकर ही रुकेगा। पर मान लें, जोर की आँधी आ गयी, लहरों ने उसे उछालकर किनारे बालू पर फेक दिया, वह वहीं पड़ा रह गया, फिर वर्षा हुई, वह वहाँ से बहकर फिर प्रवाह में मिल गया। बाढ़ आ गयी, वह कहीं झाड़ी में उलझ गया, बाढ़ उतर गई, वह वहीं टँगा रह गया, फिर बाढ़ आयी, वह फिर बह चला, भले ही मन्द गति से बहे, पर अब वह बहेगा समुद्र की ओर ही, और एक दिन महासागर से जा मिलेगा।

जिन्हें सद्गुरु से परानाम की प्राप्ति नहीं हुई वे 'पृथग्जन' कहे गए हैं। परानाम प्राप्त किए हुए जीवों की, साधना की तीव्रता-मन्दता के आधार पर स्रोतापन्न, असकृदागामी, सकृदागामी, अनागामी और अर्हत् – ये कोटियाँ मानी गयी हैं। अर्हत् ही सद्गुरु है।

ऊपर कहा गया है कि 'यदि किसी प्रकार सद्गुरु से परानाम प्राप्त कर लेता है', यहाँ 'किसी प्रकार' का भाव यह है कि जिन जीवों को अध्यात्म के प्रति न रुचि है, न जिज्ञासा, पर जो लोग सन्त-सद्गुरु के पास इस लोभ से पहुँच जाते हैं कि बाबा के पास चलेंगे तो हमारा भूत भाग जायगा, बीमारी छूट जायगी, गरीबी दूर हो जायगी, पुत्र प्राप्त हो जायगा, आदि, वे भी परानाम प्राप्त होते ही 'स्रोतापन्न' (प्रवाह में पतित) तो हो ही जाते हैं और उनका भी परमकल्याण होना सुनिश्चित हो जाता है।

सम्भवतः इसी परम उदार दृष्टिकोण के कारण आज वर्तमान युग के सन्त-सद्गुरुदेव अपनी अहैतुकी दया के वशीभूत हो हम पामर जीवों को पात्र-अपात्र का विचार किए बिना ही अनेक बहानों से परानाम का मुक्तहस्त वितरण कर रहे हैं। हम जीवों को यह ज्ञान भी नहीं हो पाता कि कितनी अमूल्य निधि हमारे हाथ लग गयी है, हम अपनी कामनाओं की सफलता-असफलता से ही उसका मूल्याङ्कन कर लेते हैं। किन्तु सद्गुरु-दरबार के महात्मा-गण तथा दरबार से जुड़े सुबुद्ध आस्थावान् व्यक्ति सद्गुरु से किसी भी भाव से नाम प्राप्त किए हुए प्राणी के भाग्य की प्रशंसा इसी फलश्रुति के साथ करते हैं कि 'चलो अच्छा हुआ, यह बेचारा एक और जीव नरक की यातना तथा चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने के चक्र से मुक्त हो गया।'

इस प्रकार तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु से प्राप्त भक्ति के बीजमन्त्र परानाम की तथा उसके तात्त्विक स्वरूप का ज्ञान प्राप्त कर लेनेवालों की ही महिमा उपनिषदों में विविध प्रकार से गायी गयी है, इसे सन्तों ने सरल शब्दों में सूत्ररूप में इस प्रकार व्यक्त कर दिया है –

भगति बीज बिनसै नहीं, जौ जुग जायँ अनन्त।

तथा

रामनाम की लूट है, लूटा जाय सो लूट।
अंत काल पछितायगा, प्रान जाहिंगे छूट ॥

महर्षि पिप्पलाद की बात चल रही थी। उन शिष्यों के प्रश्नों का समाधान करते हुए महर्षि पिप्पलाद सौर्यायणी गार्ग्य के प्रश्न का उत्तर देते हुए तत्त्वदर्शी सद्गुरु की महिमा बतलाते हुए कहते हैं –

विज्ञानात्मा सह देवैश्च सर्वैः प्राणा भूतानि संप्रतिष्ठन्ति यत्र।
तदक्षरं वेदयते यस्तु सोम्य स सर्वज्ञः सर्वमेवाविवेशेति ॥

– प्रश्नोप० ४।११

– हे सोम्य, जिस अक्षर-ब्रह्म, अविनाशी परमात्मा, नाम ब्रह्म में सभी देवों यानी उनसे अधिष्ठित इन्द्रियों तथा अन्तःकरण के साथ विज्ञानमय आत्मा, पञ्च प्राण और पञ्च महाभूत भलीभाँति ठहरे हुए हैं उस अक्षरब्रह्म या नामब्रह्म को जो जान लेता है अर्थात् सद्गुरु से प्राप्त नाम की साधना द्वारा जो साधक अपने मस्तक के भीतर नाम से प्रकट हुए ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है वह महापुरुष सर्वज्ञ – एक ही काल में सब कुछ जाननेवाला हो जाता है तथा सम्पूर्ण चराचर के अणु-अणु में समा जाता है, व्याप्त हो जाता है।

उपर्युक्त मन्त्र में जितनी विशेषताओं का उल्लेख है वे सभी हम आप जैसे उस पुरुषविशेष की हैं जो सद्गुरु से प्राप्त अक्षरब्रह्म, परानाम को प्राप्त कर सद्गुरु द्वारा बतलाई गयी स्वानुभूत उपासना-विधि द्वारा साधना में सद्गुरु की कृपा से सफल हो जाता है, सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट परानाम से प्रकट हुए निरंजन ब्रह्म का अन्तःसाक्षात्कार कर लेता है। ब्रह्म के, अपने ब्रह्मस्वरूप सद्गुरुदेव के या आत्मा के मायातीत स्वरूप का साक्षात्कार कर लेने के बाद साधक जीव में ब्रह्म के सम्पूर्ण गुण स्वभावतः प्रकट हो जाते हैं। इस प्रकार वह स्वयं सच्चिदानन्दस्वरूप हो जाता

है और वेद का 'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति' अर्थात् 'ब्रह्म को जान लेनेवाला पुरुष ब्रह्म ही हो जाता है' यह वाक्य चरितार्थ हो जाता है, सार्थक हो जाता है।

स्वयं प्रकाशस्वरूप तथा बोधमय होने के कारण ऐसा महापुरुष अज्ञान अन्धकार में डूबे, कर्मजाल में उलझे दूसरे जीवों को भी स्वानुभूत उपासना-विधि का उपदेश देने में समर्थ हो जाता है और यदि उसके परम इष्ट सद्गुरुदेव की मौज हुई तो वह उपदेश देने का कार्य प्रारम्भ भी कर देता है तथा हमें सद्गुरु रूप में उस महापुरुष का दर्शन सुलभ हो जाता है।

महर्षि पिप्पलाद से परानाम का उपदेश प्राप्त कर वे छहों शिष्य महर्षि की कृपा से अविद्या से मुक्त हो गए, यह बात उन्होंने स्वयं अपने गुरुदेव की पूजा करते हुए उनकी स्तुति में कही है –

ते तमर्चयन्तस्त्वं हि नः पिता योऽस्माकमविद्यायाः परं पारं तारयसीति।

– प्रश्नोप० ६।८

– हे गुरुदेव, आप ही हमारे पिता हैं, पालन करनेवाले हैं, रक्षक हैं। आपने ही कृपा कर हमें अविद्या से पार करके हमारा उद्धार किया है।

कठोपनिषद् का अन्तिम मन्त्र तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की प्रक्रिया में सद्गुरु के महत्त्व पर स्पष्ट रूप से प्रकाश डालता है –

मृत्युप्रोक्तां नचिकेतोऽथ लब्ध्वा विद्यामेतां योगविधिं च कृत्स्नम्।
ब्रह्मप्राप्तो विरजोऽभूद् विमृत्युरन्योऽप्येवं यो विदध्यात्ममेव॥

– कठोप० २।३।१८

– उपनिषद् के प्रवक्ता ऋषि कहते हैं – इस प्रकार यमराज के द्वारा उपदेश की हुई इस ब्रह्मविद्या को और योगसाधना की सम्पूर्ण विधि को प्राप्त करके नचिकेता मृत्यु से रहित और सब विकारों से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त हो गया। दूसरा भी जो कोई इस प्रकार सद्गुरु की सेवा द्वारा इस अध्यात्मविद्या को जान लेता है वह भी ऐसा ही हो जाता है, मृत्यु और माया के सम्पूर्ण विकारों से रहित होकर ब्रह्म को प्राप्त हो जाता है।

यहाँ मृत्यु ही नचिकेता के सद्गुरु हैं जिन्होंने उसे ब्रह्मविद्या का दान कर साधनाविधि का भी उपदेश दिया। आशय यह कि यदि कोई आध्यात्मिक जिज्ञासु नचिकेता की भाँति लाभान्वित होना चाहता है तो उसे चाहिए कि वह अध्यात्म तत्त्व के पूर्ण ज्ञाता तत्त्वदर्शी महापुरुष की खोज करे।

ऐसा महापुरुष हमारे जैसा ही मनुष्य होता है। उसे किसी प्रचलित धर्म-वर्ग-जाति-सम्प्रदाय-भाषा आदि के आधार पर नहीं पहचाना जा सकता, न तो उपेक्षित ही किया जा सकता। उसे तो केवल ज्ञान के आधार पर ही जाना-पहचाना जा सकता है। वह कोई कबीर जुलाहा भी हो सकता है, रैदास चमार भी। सभी जैन तीर्थंकर, दसों सिख गुरु, सन्त दादूदयाल, बाबा मलूकदास, दरिया साहब, सन्त चरणदास जी, तैलंग स्वामी, पलटूदासजी, सन्त एकनाथ जी, सन्त सहजोबाई, दयाबाई, मीराबाई आदि सब इस युग के इसी कोटि के प्रातःस्मरणीय सन्त-सद्गुरु थे।

किन्तु हमें आवश्यकता है ऐसे तत्त्वदर्शी महापुरुष की, जो आज, अभी, हमारे बीच, हमारे सामने वर्तमान हो, जिससे हम नचिकेता की भाँति बातचीत कर सकें, शंका-समाधान कर सकें, साधना-विधि की बारीकियाँ समझ सकें। बिना इस प्रकार का दुर्लभ संयोग घटित हुए आध्यात्मिक साधना का श्रीगणेश सम्भव नहीं है।

इसी प्रकार उपनिषद् (ब्रह्मविद्या) की चर्चा भी बिना सद्गुरु का स्मरण किए सम्भव नहीं है। तभी तो मुण्डकोपनिषद् के प्रारम्भ में ही सद्गुरु और उनकी पवित्र परम्परा का स्मरण किया गया है। तदनन्तर संसार में जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा दिलाने में वेद-पुराणादि में कहे गये यज्ञ-यज्ञादि सकाम कर्मों की व्यर्थता बतलाने के बाद ब्रह्मविद्या द्वारा तत्त्वज्ञान प्राप्त करने का उपाय बतलाते हुए विनयपूर्वक सद्गुरु की शरण में जाने का ही उपदेश दिया गया है —

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत् समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम् ॥

— मुण्डकोप० १।२।१२

केवल तत्त्वज्ञान ही नहीं, वह तो प्राप्त होगा ही, यदि सुखोपभोग के साधनों की कामना हो, धन, ऐश्वर्य आदि अभीष्ट हो तो भी अन्य देवी-देवताओं की नहीं, एकमात्र तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु की ही सेवा-पूजा करनी चाहिए, यह उपनिषद् का स्पष्ट उद्घोष है जो प्रसंगतः पुनः दोहराया जा रहा है —

यं यं लोकं मनसा संविभाति विशुद्धसत्त्वः कामयते याँश्च कामान्।
तं तं लोकं जयते ताँश्च कामान् तस्मादात्मज्ञं ह्यर्चयेद् भूतिकामः ॥

— मुण्डकोप० ३।१।१०

— विशुद्ध अन्तःकरणवाला मनुष्य जिन पुण्यलोकों का मन से चिन्तन करता है यानी जिन-जिन लोकों में जाना चाहता है तथा जिन-जिन भोगों की कामना करता है,

उन-उन लोकों में वह बे-रोकटोक जा सकता है और उन अभीष्ट भोगों को भी प्राप्त कर लेता है इसलिये ऐश्वर्य की कामनावाले मनुष्य को चाहिए कि वह आत्मज्ञानी सन्त-सद्गुरु की ही पूजा-अर्चा करे।

छान्दोग्योपनिषद्

छान्दोग्य उपनिषद् में ब्रह्मतत्त्व के ज्ञाता महर्षि अंगिरा, बृहस्पति, आयास्य और बक दाल्भ्य नामक प्रसिद्ध ऋषियों का वर्णन है जिन्होंने अपने पहलेवाले से लेकर उद्गीथ (परानाम) की उपासना की। इनमें से बक दाल्भ्य ने उपासना सफल होने के बाद अन्य ऋषियों की कामनापूर्ति के लिये उस उद्गीथ (परा-नाम) का दान किया –

तेन तꣳह बको दाल्भ्यो विदाञ्चकार। स ह नैमिषीयानामुद्गाता बभूव।

– छान्दोग्योप १।३।१३

– आयास्य से बक दाल्भ्य ने इस पराविद्या को जाना और वे नैमिषीय ऋषियों के उपदेशक हुए।

आगे वर्णन है कि एक समय शुनक के पुत्र अतिधन्वा ऋषि ने इस उद्गीथ-उपासना (परानाम के भजन) का रहस्य उदरशाण्डिल्य ऋषि को बतलाकर कहा था कि जब तक तेरी प्रजा इस उपासना को जानती रहेगी तब तक उसका ऐहलौकिक तथा पारलौकिक जीवन उत्तरोत्तर श्रेष्ठ होता जायगा –

तꣳहैतमतिधन्वा शौनक उदरशाण्डिल्यायोक्त्वोवाच यावत्त एनं प्रजायामुद्गीथं वेदिष्यन्ते परोबरीयो हैभ्यस्तावदस्मिंल्लोके जीवनं भविष्यति।

– छान्दोग्योप० १।९।३

घोर आङ्गिरस ऋषि ने यह आत्मविद्या देवकीनन्दन कृष्ण को दी। आचार्य (सद्गुरु) के वचन सुनकर कृष्ण अन्य उपासनाओं के विषय में तृष्णारहित हो गए –

तत्रैतद् घोर आङ्गिरसः कृष्णाय देवकीपुत्रायोक्त्वोवाचापिपास एव स बभूव।

– छान्दोग्योप० ३।१७।६

सत्यकाम जावाल महर्षि हारिद्रुम गौतम के पास ब्रह्मचर्य की दीक्षा लेने गये। उन्होंने उसका उपनयन करने के बाद दुबली-पतली चार सौ कमजोर गायें देकर कहा

कि जब ये बढ़कर एक हजार हो जायँ तब इन्हें लेकर लौटना। कुछ समय बाद जब गायें एक हजार हो गयीं और वह गायों को लेकर अपने आचार्य के पास लौटने लगा तो उसकी गुरुसेवा से प्रसन्न होकर क्रमशः वृषभ, अग्नि, हंस और मद्गु पक्षी ने एक-एक दिन उसे ब्रह्म की चार-चार कलाओं का उपदेश दिया।

जब वह अपने आचार्य के पास एक हजार हृष्ट-पुष्ट गायें लेकर वापस आया तो उसे देखकर आचार्य ने पूछा – वत्स, तुम तो ब्रह्मवेत्ता जैसे दिखायी पड़ रहे हो। बताओ तो, किसने तुम्हें ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया, तुम्हारे गुरु कौन हैं ?

सत्यकाम जाबाल ने उत्तर दिया – गुरुदेव, मुझे जिन्होंने कई खण्डों में ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया है उनमें से कोई भी मनुष्य नहीं है, किन्तु मैंने आप जैसे अनेक महापुरुषों से सुना है कि आचार्य (सद्गुरु) द्वारा ही जानी हुई ब्रह्मविद्या सच्ची, बलवती और सफल होती है अतः आप ही दया कर मुझे ब्रह्मविद्या का उपदेश देने की कृपा करें।

तब आचार्य (सद्गुरु) हारिद्रुम गौतम ने सत्यकाम जाबाल को ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया और कहा कि लो, अब तुममें कोई कमी नहीं रह गयी, अब तुम सब तरह से पूर्ण हो गये।

अनेक खण्डों में वर्णित इस उपाख्यान का अन्तिम खण्ड इस प्रकार है –

प्राप हाऽऽचार्यकुलं तमाचार्योऽभ्युवाद सत्यकाम इति भगव इति ह प्रतिशुश्राव ॥ १ ॥ ब्रह्मविदिव वै सोम्य भासि को नु त्वाऽनुशशासेत्यन्ये मनुष्येभ्य इति ह प्रतिजज्ञे भगवाँस्त्वेव मे कामे ब्रूयात् ॥ २ ॥ श्रुतँह्येव मे भगवद्दृशेभ्य आचार्याद्धैव विद्या विदिता साधिष्ठं प्रापतीति तस्मै हैतदेवोवाचात्र ह न किंचन वीयायेति वीयायेति ॥ ३ ॥

– छान्दोग्योप० ४।९।१-३

इसी प्रकार सत्यकाम जाबाल जब पूर्ण सद्गुरु की पदवी को प्राप्त हुए तो उपकोसल कामलायन ने बारह वर्षों तक उनके आश्रम की सेवा की। सत्यकाम ने अन्य शिष्यों का तो समावर्तन संस्कार कर दिया पर उपकोसल का नहीं किया क्योंकि वह नाना प्रकार की कामनाओं रूपी व्याधियों से ग्रस्त था। उपकोसल ने दुखी होकर भोजन न करने का व्रत ले लिया। उस पर दया करते हुए तीनों अग्नियों

ने उसे उन विद्याओं का ज्ञान कराया जो वे जानते थे। इसके बाद कहा – अब आत्मविद्या का ज्ञान तुम्हें आचार्य (सद्गुरु) ही करावेंगे –

उपकोसलैषा सोम्य तेऽस्मद्विद्याऽऽत्मविद्या चाचार्यस्तु ते गतिं वक्ता।

– छान्दोग्योप० ४ । १४ । १

उपकोसल जब आचार्य के पास आए तो आचार्य ने अपने सद्गुरु की ही तरह उससे प्रश्न किया और सब जान लेने के बाद कहा – सोम्य, उन अग्नियों ने तुम्हें कुछ लोकों का ही ज्ञान कराया है। अब मैं तुम्हें वह विद्या प्रदान करता हूँ जिससे तुम पापकर्मों से इसी प्रकार लिप्त नहीं होओगे जैसे कमल का पत्ता जल में रहते हुए भी जल से नहीं भींगता –

लोकान् वाव किल सोम्य तेऽवोचन्नहं तु ते तद् वक्ष्यामि यथा पुष्करपलाश आपो न श्लिष्यन्त एवमेवंविदि पापं कर्म न श्लिष्यत इति।

– छान्दोग्योप० ४ । १४ । ३

उपकोसल को ब्रह्मविद्या प्रदान कर सत्यकाम ने कहा – वत्स, यही आत्मा है, यही अमृत है, यही अभय है, यही ब्रह्म है। यही देवपथ (प्रकाशमार्ग) है, यही ब्रह्मपथ है। इस पर चलनेवाले कभी भी इस मानवचक्र अर्थात् जन्म-मरण के चक्र में नहीं पड़ते –

एष आत्मेति होवाचैतदमृतमभयमेतद् ब्रह्म। x x x एष देवपथो ब्रह्मपथ एतेन प्रतिपद्यमाना इमं मानवमावर्तं नावर्तन्ते नावर्तन्ते।

– छान्दोग्योप० ४ । १५ । १, ५

आरुणि उद्दालक को पांचालनरेश ने बहुत समय तक अपने पास रखकर यह कहते हुए आत्मविद्या का उपदेश दिया कि तुमसे पहले अभी तक यह विद्या केवल क्षत्रियों के पास ही रहती आयी है –

त꣡ꣳह चिरं वसेत्याज्ञापयाञ्चकार त꣡ꣳहोवाच यथा मा त्वं गौतमावदो यथेयं न प्राक् त्वत्तः पुरा विद्या ब्राह्मणान् गच्छति।

– छान्दोग्योप० ५ । ३ । ७

केकय के पुत्र राजा अश्वपति के सम्मुख प्राचीनशाल आदि पाँचों जिज्ञासु जब शिष्यभाव से उपस्थित हुए तब अश्वपति ने अनेक प्रकार से उनका परीक्षण कर बिना उपनयन किए ही उन्हें वैश्वानररूप ब्रह्मविद्या का उपदेश दिया –

तान् होवाच प्रातर्वः प्रतिवक्तास्मीति ते ह समित्पाणयः पूर्वाह्णे प्रतिचक्रमिरे तान् हानुपनीयैवैतदुवाच।

— छान्दोग्योप० ५।११।७

आरुणेय श्वेतकेतु पिता की आज्ञा से चौबीस वर्ष की अवस्था में बारह वर्षों का ब्रह्मचर्य पूरा कर जब घर लौटा तो उसे दुर्विनीत, उद्दण्ड और अभिमानी देखकर पिता ने उससे पूछा – श्वेतकेतु, क्या तूने आचार्य (सद्गुरु) से ब्रह्मविद्या का वह ज्ञान नहीं ग्रहण किया जिसे पा लेने पर अश्रुत श्रुत हो जाता है, तर्करहित तर्कयुक्त हो जाता है और अविज्ञात ज्ञात हो जाता है ? –

तꣳह पितोवाच श्वेतकेतो यन्नु सोम्येदं महामना अनूचानमानी स्तब्धोऽस्युत तमादेशमप्राक्ष्यः। येनाश्रुतꣳश्रुतं भवत्यमतं मतमविज्ञातं विज्ञातमिति।

— छान्दोग्योप० ६।१।२-३

इसके पश्चात् उसके पूछने पर पिता ने बड़े विस्तार से समझाते हुए श्वेतकेतु को विधिवत् पराविद्या का उपदेश दिया और श्वेतकेतु को ज्ञान हो गया –

एतदात्म्यमिदं सर्वं तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि श्वेतकेतो इति तद्धास्य विजज्ञाविति विजज्ञाविति।

— छान्दोग्योप० ६।१६।३

आगे आत्मज्ञान और सद्गुरु की सर्वोपरि श्रेष्ठता का प्रतिपादन करनेवाला सनत्कुमार और नारद का एक महत्त्वपूर्ण उपाख्यान है। नारद तत्त्वदर्शी महापुरुष ब्रह्मस्वरूप भगवान् सनत्कुमार के पास पहुँचे और उनसे निवेदन किया कि भगवन्, मुझे उपदेश देने की कृपा कीजिए। सनत्कुमार ने उनसे कहा कि पहले तुम मुझे यह बताओ कि तुम क्या जानते हो। इसके बाद मैं तुम्हें उपदेश दूँगा –

ऊँ अधीहि भगव इति होपससाद सनत्कुमारं नारदस्तꣳहोवाच यद्वेत्थ तेनोपसीद ततस्त ऊर्ध्वं वक्ष्यामीति।

— छान्दोग्योप० ७।१।१

नारद बोले – भगवन्, ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद, अथर्ववेद, इतिहास-पुराणरूप पाँचवाँ वेद महाभारत, पाचों वेदों का वेद व्याकरण, श्राद्धकल्प, राशिविज्ञान (गणितशास्त्र), दैवविज्ञान (उत्पात-ज्ञान), निधिशास्त्र, तर्कशास्त्र, नीतिशास्त्र, निरुक्तविद्या, ब्रह्मविद्या (वेदों से सम्बन्धित शिक्षा, कल्प, छन्द और चिति),

भूतविद्या, धनुर्वेद, ज्योतिष, सर्पविद्या, गन्धविज्ञान, नृत्य, गीत, वाद्य तथा शिल्पशास्त्र – ये सब मैंने भलीभाँति पढ़े हैं और सब मुझे स्मरण भी हैं –

ऋग्वेदं भगवोऽध्येमि यजुर्वेदं सामवेदमाथर्वणं चतुर्थमितिहासपुराणं पञ्चमं वेदानां वेदं पित्र्यं राशिं दैवं निधिं वाकोवाक्यमेकायनं देवविद्यां ब्रह्मविद्यां भूतविद्यां क्षत्रविद्यां नक्षत्रविद्यां सर्पदेवजनविद्यामेतद्भगवोऽध्येमि।

– छान्दोग्योप० ७।१।२

तथापि हे भगवन्, मैं केवल मन्त्रों को ही जानता हूँ, आत्मा को नहीं जानता, और आप जैसे ही महापुरुषों से मैंने सुना है कि आत्मज्ञान होने पर ही मनुष्य शोक को पार कर सकता है। मै इतना सब पढ़कर भी आत्मज्ञान न होने से शोक-ग्रस्त रहता हूँ। अतः आप कृपा कर आत्मज्ञान का दान कर मुझे शोक से पार कर दीजिए –

सोऽहं भगवो मन्त्रविदेवास्मि नात्मविच्छ्रुतं ह्येव मे भगवद्दृशेभ्यस्तरति शोकमात्मविदिति सोऽहं भगवः शोचामि तं मा भगवाञ्छोकस्य पारं तारयत्विति।

– छान्दोग्योप० ७।१।३

यह सुनकर भगवान् सनत्कुमार ने नारद को नामब्रह्म के स्वरूप, उसके महत्त्व और उसकी उपासना आदि का अत्यन्त विस्तृत विवेचन सुनाया जिसे सुनकर नारद की सम्पूर्ण वासनाएँ शान्त हो गईं और भगवान् सनत्कुमार ने उन्हें आत्मज्ञान प्राप्त करा दिया –

तस्मै मृदितकषायाय तमसस्पारं दर्शयति भगवान् सनत्कुमारः।

– छान्दोग्योप० ७।२६।२

उपनिषद् के उपर्युक्त प्रसंगों को देखने से यह बात स्पष्ट समझ में आती है कि लौकिक धन-पुत्रादि की कामना हो, सुबुद्धि-सद्गुण आदि पाने की इच्छा हो, शोकरहित यशस्वी जीवन विताने की चाह हो, मृत्यु के बादं स्वर्ग पाने की इच्छा हो अथवा जीवित रहते ही जीवन्मुक्ति पाने की कामना हो तो एकमात्र तत्त्व-दर्शी, ब्रह्म के मूर्तिमान् स्वरूप सन्त-सद्गुरु की निश्छल सेवा-पूजा से ही ये सभी कामनाएँ पूर्ण हो जायँगी, किसी अन्य देवी-देवता की उपासना की आवश्यकता भी नहीं है तथा उससे सभी कामनाओं की पूर्ति सम्भव भी नहीं है। तभी तो सन्त तुलसीदास दृढ़तापूर्वक समझाते हैं –

मति कीरति गति भूति भलाई। जब जेहि जतन जहाँ जो पाई ॥
सो जानब सतसंग प्रभाऊ। लोकहुँ वेद न आन उपाऊ ॥

— सुबुद्धि, सुयश, सद्गति, ऐश्वर्य, अधिक क्या, सभी प्रकार की भलाई जब भी, जिन उपायों से, जहाँ भी, जिसने भी प्राप्त किया है वह सब सन्त-सद्गुरु की संगति का ही प्रभाव है, यह सुनिश्चित रूप से सब लोग जान लें, समझ लें। तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु की शरण ग्रहण करने के अतिरिक्त किसी भी प्रकार की उत्तमता को प्राप्त करने का कोई उपाय न तो संसार में देखने को मिलता, न वेदों में ही किसी उपाय का उल्लेख मिलता।

श्वेताश्वतरोपनिषद्

श्वेताश्वतर उपनिषद् का आरम्भ होता है 'ब्रह्मवादिनो वदन्ति' (ब्रह्मविद्या के जानकार, उपदेशक ऐसा कहते हैं) से मानव-देह में मस्तक के भीतर विराजमान परमात्मा के साक्षात्कार की प्रक्रिया का विस्तार से वर्णन करने के बाद अन्त में कहा गया है —

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ।
तस्यैते कथिता ह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ॥

अर्थात् साधक के हृदय में जैसी श्रेष्ठ भक्ति ईश्वर के प्रति होती है वैसी ही उत्तम कोटि की भक्ति जिसके हृदय में अपने सद्गुरु के प्रति होगी उसी महात्मा के अन्तःकरण में उपनिषद् मे वर्णित ये सम्पूर्ण तत्त्व प्रकाशित हो सकेंगे, अन्यथा नहीं।

जाबालोपनिषद्

जाबालोपनिषद् का एक ज्वलन्त प्रसंग है। अत्रि ऋषि तत्त्वदर्शी महर्षि याज्ञवल्क्य से पूछते हैं — भगवन्, यह जो अनन्त, अव्यक्त आत्मा है उसे मैं किस प्रकार जानूँ ?

इन चर्मचक्षुओं से न दिखाई पड़नेवाले किन्तु चराचर जगत् में व्याप्त इस अनन्त आत्मा को जानने का उपाय पूछने पर महर्षि याज्ञवल्क्य अत्रि ऋषि को उस समय की भाषा में आज के सन्तमत में प्रतिष्ठित मान्यता का ही उपदेश देते हुए कहते हैं — यह अनन्त, अव्यक्त आत्मा मानव-देह में वर्तमान अविमुक्त क्षेत्र में प्रतिष्ठित है, वहीं उसकी उपासना करनी चाहिए। अत्रि ऋषि ने पूछा — भगवन्, वह अविमुक्त कहाँ किसमें अवस्थित है ?

उत्तर मिला — वह अविमुक्त क्षेत्र वरणा और नासी के मध्य अवस्थित है।

अत्रि ऋषि ने फिर पूछा — भगवन्, यह वरणा क्या है और नासी क्या है?

उत्तर मिला — सभी इन्द्रियों द्वारा किए गए दोषों का निवारण करने के कारण उसे वरणा कहते हैं तथा सभी इन्द्रियों द्वारा किए गए पापों का नाश करने के कारण उसका नाम नासी है।

अत्रि ऋषि ने पुनः प्रश्न किया — प्रभो, उस अविमुक्त क्षेत्र का स्थान कहाँ कौन सा है ?

महर्षि याज्ञवल्क्य ने समाधान किया — मनुष्य के ललाट में दोनों भौंहों तथा नासिकामूल की जो सन्धि अर्थात् मिलनस्थान है उसी के भीतर का आकाश यानी रिक्त स्थान इस लोक और परलोक की सन्धि है। यही वह सन्धि है जहाँ ब्रह्म-वेत्ता लोग सन्ध्या की उपासना करते हैं। अतः उसी अविमुक्त क्षेत्र में उस अनन्त, अव्यक्त आत्मा की उपासना करनी चाहिए। किन्तु इस उपासना का ज्ञान वही दे सकता है जिसने इस प्रकार उपासना करके उस आत्मा का ज्ञान प्राप्त कर लिया हो —

> अथ हैनमत्रिः पप्रच्छ याज्ञवल्क्यं य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा तं कथमहं विजानीयामिति। स होवाच याज्ञवल्क्यः सोऽविमुक्त उपास्यो य एषोऽनन्तोऽव्यक्त आत्मा सोऽविमुक्ते प्रतिष्ठित इति। सोऽविमुक्तः कस्मिन् प्रतिष्ठित इति वरणायां नास्यां च मध्ये प्रतिष्ठित इति। का वै वरणा का च नासीति सर्वानिन्द्रियकृतान् दोषान् वारयतीति तेन वरणा भवति। सर्वानिन्द्रियकृतान् पापान्नाशयतीति तेन नासी भवतीति। कतमच्चास्य स्थानं भवतीति। भ्रुवोर्घ्राणस्य च यः सन्धिः स एष द्यौर्लोकस्य परस्य च सन्धिर्भवतीति। एतद्वै सन्धिं सन्ध्यां ब्रह्मविद उपासत इति सोऽविमुक्त उपास्य इति। सोऽविमुक्तं ज्ञानमाचष्टे यो वै तदेतदेवं वेदेति।
>
> — जाबालोप० खण्ड २

वर्तमान सन्तमत की ठीक यही साधना है। मस्तक में जहाँ पुरुष चन्दन का तिलक करते हैं तथा माताएँ बिन्दी लगाती हैं, वहीं पर मस्तक के भीतर सहस्रदल कमल के कोष पर बैठे हंस के ऊपर विराजमान अपने इष्ट सद्गुरुदेव के ध्यान का उपदेश दिया जाता है।

छान्दोग्य उपनिषद् अपने शब्दों में वर्तमान सन्तमत में उपदेश की जानेवाली इसी उपासनाविधि का आदेश देता है – इस मानवदेह में मस्तक के भीतर के आकाश में जो कमलरूप गृह है उसके भीतर जो कुछ हैं उसकी खोज करनी चाहिए और उसे ही भलीभाँति जानने की इच्छा करनी चाहिए। शिष्य यदि गुरु से पूछें कि मस्तक के भीतर के अन्तराकाश में कमलगृह के भीतर ऐसा क्या है जिसकी खोज करने और जिसे जानने की इच्छा करने की बात आप कह रहे हैं, तो इसके उत्तर में उपदेष्टा गुरु को बतलाना चाहिए कि यह बाहर दिखाई पड़नेवाला आकाश जितना बड़ा है उतना ही यह इस मस्तक के भीतर भी है। इसी में द्युलोक और पृथ्वीलोक दोनों समाए हुए हैं, अग्नि और वायु ये दोनों, सूर्य और चन्द्र ये दोनों, विद्युत्, नक्षत्र आदि जो कुछ भी यहाँ है और जो नहीं भी है वह सब भलीभाँति इसी में समाया हुआ है –

अथ यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशतस्मिन् यदन्तस्तदन्वेष्टव्यं तद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति ॥ तं चेद् ब्रूयुर्यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म दहरोऽस्मिन्नन्तराकाशः किं तदत्र विद्यते यदन्वेष्टव्यं यद्वाव विजिज्ञासितव्यमिति स ब्रूयात् ॥ यावान् वा अयमाकाशस्तावानेषोऽन्तर्हृदय आकाश उभे अस्मिन् द्यावापृथिवी अन्तरेव समाहिते उभावग्निश्च वायुश्च सूर्याचन्द्रमसावुभौ विद्युन्नक्षत्राणि यच्चास्येहास्ति यच्च नास्ति सर्वं तदस्मिन् समाहितमिति ॥

– छान्दोग्योप० ८।१-३

महानारायणोपनिषद्

यही बात महानारायणोपनिषद् में इन शब्दों में कही गयी है –

अणोरणीयान् महतो महीयानात्मा गुहायां निहितोऽस्य जन्तोः।
तमक्रतुं पश्यति वीतशोको धातुः प्रसादान्महिमानमीशम् ॥

– महानारायणोप० ८।३

– सूक्ष्म से सूक्ष्म और महान् से महान् आत्मा इस मनुष्य की गुहा, गुप्त स्थान (मस्तक के भीतर के सुगुप्त रिक्त स्थान) में समाया हुआ है। धाता, धारण और पोषण करनेवाले परमात्मा के प्रत्यक्ष वर्तमान सगुण साकार स्वरूप सद्गुरु की कृपा से उस अक्रतु (इच्छारहित) महिमामय ईश्वर को जो देख लेता है वह शोकरहित हो जाता है।

आगे भी सन्तों की उपासना के इसी स्थल की चर्चा की गयी है –

दहं विपाप्मं वरं वेश्मभूतं यत् पुण्डरीकं पुरमध्यसंस्थम्।
तत्रापि दहं गगनं विशोकं तस्मिन् यदन्तस्तदुपासितव्यम् ॥

– वही, १०। ७

– मस्तक के भीतर परमात्मा का प्राप्तिस्थल होने से श्रेष्ठ जो निष्पाप आकाश-रूप कमलगृह है उसके मध्य में जो शोकातीत लघु आकाश है, उसके भी मध्य में जो (ब्रह्मतत्त्व) वर्तमान है उसकी उपासना करनी चाहिए अर्थात् उस स्थान पर तत्त्वदर्शी सद्गुरु का ध्यान और उनकी मानसिक सेवा-पूजा करनी चाहिए।

मैत्रायणी उपनिषद्

मैत्रायणी उपनिषद् का आरम्भ बृहद्रथ नामक राजा के कथानक से होता है। राजा को संसार की अनित्यता का बोध हो जाने से वैराग्य हो गया और वे सूर्य को एकटक देखते हुए, दोनों हाथ ऊपर उठाए एक हजार वर्षों तक खड़े रहकर तपस्या करते रह गए। उन्हें इस प्रकार घोर तपस्या में लीन देखकर तत्त्वदर्शी ब्रह्मस्वरूप भगवान् शाकायन्य मुनि उनके पास आए और बोले कि भाई, किसलिये इतनी कठोर तपस्या कर रहे हो, क्या चाहते हो ? राजा ने कहा – 'भगवन्, मैं आत्मवेत्ता नहीं हूँ और मैंने सुना है कि आप आत्मज्ञानी हैं अतः आप कृपा कर मुझे आत्मज्ञान प्रदान करें।' मुनि बोले – 'राजन्, यह कार्य अतिशय कठिन है। तुम राजा हो। यह तुम्हारे बस की बात नहीं है। अतः तुम अन्य कामनाओं की पूर्ति का उपाय पूछ लो, आत्मज्ञान की बात मत करो।' तब राजा ने महामुनि के चरण पकड़ लिये और बहुत प्रकार से लौकिक कामनाओं के दोषों का, अनित्यता का वर्णन किया और उनसे आत्मज्ञान प्रदान करने की प्रार्थना की –

ॐ बृहद्रथो ह वै नाम राजा राज्ये ज्येष्ठं पुत्रंनिधाप यित्वेदमशाश्वतं मन्यमानः शारीरं वैराग्यमुपेतोऽरण्यं निर्जगाम। स तत्र परमं तप आस्थायादित्यमीक्षमाण ऊर्ध्वबाहुस्तिष्ठत्यन्ते सहस्रस्य मुनिरन्तिकमाजगामाग्निरिवाधूमकस्तेजसा निर्दहन्निवात्मविद् भगवान्शाकायन्य उत्तिष्ठोत्तिष्ठ वरं वृणीष्वेति राजानमब्रवीत्। स तस्मै नमस्कृत्योवाच भगवन् नाहमात्मवित् त्वं तत्त्वविच्छृणुमो वयं स त्वं नो ब्रूहीत्येतद्व्रतं पुरस्तादशक्यं मा पृच्छ प्रश्नमैक्ष्वाकान्यान् कामान् वृणीष्वेति शाकायन्यस्य चरणावभिमृश्यमानो राजेमां गाथां जगाद ॥ १ ॥ x x x

एतद्विधेऽस्मिन् संसारे किं कामोपभोगैर्यैरेवाश्रितस्यासकृदिहावर्तनं दृश्यत इत्युद्धर्तुमर्हसीत्यन्धोदपानस्थो भेक इवाहमस्मिन् संसारे भगवंस्त्वं नो गतिस्त्वं नो गतिः ॥ ७ ॥

— मैत्रायणी उप०, प्रपाठक १

भगवान् शाकायन्य ने राजा की पात्रता भलीभाँति परखकर उनसे कहा — राजन्, भगवान् मैत्रि ने इस विषय में मुझे जो उपदेश दिया है वह मैं तुम्हें सुनाता हूँ। उन्होंने मुझसे कहा है कि ऊर्ध्वरेता बालखिल्य नाम से जो मुनि प्रसिद्ध हैं वे ब्रह्मा के पास गए और उनसे आत्मज्ञान देने की प्रार्थना की। उस समय ब्रह्मा ने उन बालखिल्य ऋषियों को जो उपदेश दिया वही मैं तुम्हें बतला रहा हूँ —

अथ खल्वियं ब्रह्मविद्या सर्वोपनिषद्विद्या वा राजन्नस्माकं भगवता मैत्रिणाऽऽख्याताऽहं ते कथयिष्यामीति। अथापहतपाप्मानस्तिग्मतेजसा ऊर्ध्वरेतसो वालखिल्या क्रतुं प्रजापतिमब्रुवन् x x x तान् होवाचेति ॥

— मैत्रायणी उप०, प्रपा० २।३

इस प्रसंग में तत्त्वज्ञान की महिमा का विशद वर्णन करते हुए उन्होंने सन्त-मत-सम्मत अनेक महत्त्वपूर्ण बातें कहीं। उन्होंने कहा — ब्रह्मविद्या के जाननेवाले कहते हैं कि तीनों कालों में रहनेवाले ब्रह्म तक पहुँचने का द्वार यह मनुष्य-शरीर ही है —

अस्ति ब्रह्मेति ब्रह्मविद्याविदब्रवीद् ब्रह्मद्वारमिदमित्येव।

— मैत्रायणी उप० ४।४

जैसे कोई भी पशु-पक्षी अग्नि से जलते हुए पर्वत का आश्रय नहीं लेता, सब उसे छोड़ देते हैं, इसी प्रकार ब्रह्मवेत्ता महापुरुष को कोई दोष स्पर्श नहीं कर सकता —

यथा पर्वतमादीप्तं नाश्रयन्ति मृगद्विजाः।
तद्वद् ब्रह्मविदो दोषा नाश्रयन्ति कदाचन ॥

— मैत्रायणी उप० ६।१८

तालु के भीतर ऊपर की ओर जानेवाली सुषुम्णा नामक नाड़ी, जो प्राण को संचालित करती है उसके सहारे प्राण, मन और ओङ्कार (सद्गुरु से प्राप्त नाम) के द्वारा ऊपर पहुँचने पर सुख-दुःखों से रहित होकर केवलत्व को अर्थात् आत्म-स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

ऊर्ध्वगा नाडी सुषुम्णाख्या प्राणसंचारिणी ताल्वन्तर्विच्छिन्ना तया प्राणोङ्कारमनोयुक्तयोर्ध्वमुत्क्रमेत् । xxx ततो निरात्मकत्वमेति निरात्मकत्वान्न सुखदुःखभाग् भवति केवलत्वं लभत इत्याह ।

— मैत्रायणी उप० ६ । २१

ब्रह्म के दो स्वरूप जानना चाहिए — एक शब्दब्रह्म और दूसरा परब्रह्म अर्थात् निरञ्जन ब्रह्म। शब्दब्रह्म यानी शब्द का उपदेश देनेवाला अर्थात् सद्गुरु। इस शब्दब्रह्म अर्थात् सद्गुरु को जो अपनी उत्तम सेवा द्वारा सन्तुष्ट कर लेता है वही परब्रह्म का अन्तःसाक्षात्कार प्राप्त कर पाता है —

द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये शब्दब्रह्म परं च यत् ।
शब्दब्रह्मणि निष्णातः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

— ६ । २२

आगे कहा गया है कि सद्गुरु के आदेश और उपदेश के सहारे नामरूपी बाण के निरन्तर आघात से ब्रह्मद्वार को खोलकर ब्रह्मशाला में प्रवेश करे तो वह जीव छह माह के अभ्यास से ब्रह्म का अन्तःसाक्षात्कार कर उसी के गुण-धर्मों से युक्त हो जाता है। इस अभ्यासी के लिये पत्नी, पुत्र तथा कुटुम्ब आदि के मोह का परित्याग आवश्यक है —

ततः चतुर्जालं ब्रह्मकोशं प्रणुदेद् गुर्वागमेनेत्यतः शुद्धः पूतः xxx

षड्भिर्मासैस्तु युक्तस्य नित्यमुक्तस्य देहिनः ।
अनन्तः परमो गुह्यः सम्यग् योगः प्रवर्तते ॥
रजस्तमोभ्यां विद्धस्य सुसमिद्धस्य देहिनः ।
पुत्रदारकुटुम्बेषु सक्तस्य न कदाचन ॥

— मैत्रायणी उप० ६ । २८

अन्त में उपनिषद् का सार प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि वस्तुतः चित्त ही संसार है अतः उसे ही शुद्ध करना चाहिए (जो केवल गुरु की चरणरज से ही शुद्ध हो सकता है — 'जन-मन-मंजु-मुकुर-मल-हरनी') क्योंकि जिसका चित्त जिसके चिन्तन में लीन रहता है वह मनुष्य वही होता है, यह सनातन गुह्य बात है —

सन्त सुन्दरदासजी कहते हैं —

मन ही बड़ौ कपूत है, मन ही महा सपूत ।
सुंदर जौं यह मन थिर रहै, तौ मन ही अवधूत ॥

जब मन देखै जगत कौं, जगत रूप ह्वै जाय।
जब मन देखै ब्रह्म कौं, तब मन ब्रह्म समाय॥

चित्त की निर्मलता से ही शुभाशुभ कर्मों से मुक्ति मिलती है तथा अक्षय सुख प्राप्त होता है। मनुष्य का मन जैसे सांसारिक विषय-वस्तुओं में आसक्त रहता है वैसा यदि शब्दब्रह्म (सद्गुरु) के चिन्तन में लगा रहे तो कौन मुक्त नहीं हो जायगा। मन दो प्रकार का होता है शुद्ध और अशुद्ध। काम अर्थात् कामनाओं से युक्त मन अशुद्ध तथा काम से रहित मन शुद्ध होता है। मन को लय-विक्षेप से रहित कर उन्मन भाव को प्राप्त होनेवाला ही परमपद प्राप्त करता है। तब तक मन का हृदय में निरोध करना चाहिए यानी मस्तक में सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई विधि से ध्यान में डूबे रहना चाहिए जब तक वह क्षय को प्राप्त न हो जाय, यही ज्ञान है, यही मोक्ष है, इसके अतिरिक्त और सब ग्रन्थों का व्यर्थ विस्तार मात्र है —

चित्तमेव हि संसारस्तत् प्रयत्नेन शोधयेत्।
यच्चित्तस्तन्मयो भवति गुह्यमेतत् सनातनम्॥
चित्तस्य हि प्रसादेन हन्ति कर्म शुभाशुभम्।
प्रसन्नात्मात्मनि स्थित्वा सुखमव्ययमश्नुते॥
समासक्तं यथा चित्तं जन्तोर्विषयगोचरे।
यद्येवं ब्रह्मणि स्यात्तत् को न मुच्येत बन्धनात्॥
मनो हि द्विविधं प्रोक्तं शुद्धं चाशुद्धमेव च।
अशुद्धं कामसम्पर्काच्छुद्धं कामविवर्जितम्॥
लयविक्षेपरहितं मनः कृत्वा सुनिश्चलम्।
यदा यात्यमनीभावं तदा तत् परमं पदम्॥
तावन्मनो निरोद्धव्यं हृदि यावद् गतं क्षयम्।
एतज्ज्ञानं च मोक्षं च शेषान्ये ग्रन्थविस्तराः॥

— मैत्रायणी उप० ६।३४

समाधि से शुद्ध होकर आत्मा में (शिष्य की आत्मा के मूर्त रूप सद्गुरु में) मन के स्थिर हो जाने पर जो सुख प्राप्त होता है उसका वाणी से वर्णन करना सम्भव नहीं है, उसका तो अन्तःकरण से ही ग्रहण हो सकता है। जैसे जल में जल; अग्नि में अग्नि और आकाश में आकाश के मिलने पर कोई भेद लक्षित नहीं होता उसी

प्रकार जिसका मन भीतर ही (शब्दब्रह्म – सद्गुरु के स्वरूप में) लीन हो जाता है वह मुक्त हो जाता है। वस्तुतः मन ही बन्धन और मोक्ष में कारण है। विषयों का चिन्तन करेगा तो बन्धन को प्राप्त होगा और विषयों के चिन्तन से रहित (शब्दब्रह्म – सद्गुरु के चिन्तन से युक्त) होगा तो मुक्त हो जायगा –

समाधिनिर्धौतमलस्य चेतसो निवेशितस्यात्मनि यत् सुखं भवेत्।
न शक्यते वर्णयितुं गिरा तदा स्वयं तदन्तःकरणेन गृह्यते ॥
अपामापोऽग्निरग्नौ वा व्योम्नि व्योम न लक्ष्यते।
एवमन्तर्गतं यस्य मनः स परिमुच्यते ॥
मन एव मनुष्याणां कारणं बन्धमोक्षयोः।
बन्धाय विषयासङ्गि मोक्षे निर्विषयं स्मृतमिति ॥

– मैत्रायणी उप० ६।३४

यहाँ सम्पूर्ण उपनिषद् में जो बात बहुत विस्तार के साथ कही गई है उसे सन्तमत की व्यावहारिक सरल भाषा में सीधे ढंग से यह कहा जाता है कि अन्तर्जगत् में ब्रह्म का साक्षात्कार किए हुए सद्गुरु से भक्तिबीज परानाम का उपदेश प्राप्त कर उनकी बतलाई विधि से निरन्तर सेवा-अभ्यास करते रहने से सम्पूर्ण लौकिक कामनायें भी पूर्ण होती हैं तथा कामनाहीन होकर उपासना-अभ्यास करने पर इसी देह में मस्तक के भीतर परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है, जीव जीवन्मुक्त हो जाता है, ब्रह्मस्वरूप हो ज़ाता है।

नृसिंहतापनीयोपनिषद्

नृसिंहपूर्वतापनीय उपनिषद् में सर्वसिद्धिप्रदाता, राक्षसों के विनाशक, मृत्युतारक महाचक्र को कण्ठ, बाहु अथवा शिखा में धारण करने का विधान बतलाते हुए यह शर्त अवश्य रखी गई है कि वह मृत्युतारक सद्गुरु से प्राप्त किया गया हो। वैसे तो उन सद्गुरु के लिये 'सात द्वीपोंवाली पृथ्वी की भी दक्षिणा कम ही है पर श्रद्धापूर्वक जो कुछ भी उन्हें दिया जाय वही दक्षिणा दक्षिणा हो जाती है –

तदेतद् रक्षोघ्नं मृत्युतारकं गुरुतो लब्धं कण्ठे बाहौ शिखायां वा बध्नीत सप्तद्वीपवती भूमिर्दक्षिणार्थं नावकल्पते तस्माच्छ्रद्धया यां काञ्चिद् दद्यात् सा दक्षिणा भवति।

– १।२

नृसिंहोत्तरतापनीय उपनिषद् में अभयब्रह्म (जन्म-मृत्यु आदि से निर्भयता प्रदान करनेवाले ब्रह्म) का स्वरूप बतलाते हुए कहा गया है –

ब्रह्माभयं हि वै ब्रह्म भवति य एवं वेदेति रहस्यम्।

– खण्ड ८

– अर्थात् जो इस प्रकार के अभयब्रह्म को जान जाता है वह ब्रह्म ही हो ज़ाता है। यह रहस्य की बात है यानी सब लोग इस तत्त्व को नहीं समझते-जानते। इसीलिये उपनिषद् के अन्त में जीव और ब्रह्म की एकता का विस्तार से प्रतिपादन तथा परानाम द्वारा इसकी साधना का वर्णन करने के पश्चात् बड़ी दृढ़ता से कहा गया है कि जिसने इस प्रकार ब्रह्म और आत्मा की एकता का अनुभव पा लिया हो उसकी ही शरण में जाना चाहिए –

ओतमोतेन जानीयादनुज्ञातारमान्तरम्।
अनुज्ञामद्वयं लब्ध्वा उपद्रष्टारमाव्रजेदुपद्रष्टारमाव्रजेदिति ॥

– नृ० उ० ता० उप०, खण्ड ९

मैत्रेयी उपनिषद्

मैत्रेयी उपनिषद् में तत्त्वदर्शी शाकायन्य मुनि बृहद्रथ राजा से कहते हैं कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करने के लिये बुद्धि की गति-विधि के साक्षी तथा परमप्रेम से प्रकट होनेवाले शब्दब्रह्म के मूर्त रूप सद्गुरु का हृदयकमल के मध्य में अर्थात् मस्तक के भीतर सहस्रदल कमल में ध्यान करना चाहिए –

हृत्पुण्डरीकमध्ये तु भावयेत् परमेश्वरम्।
साक्षिणं बुद्धिवृत्तस्य परमप्रेमगोचरम् ॥

– मैत्रेयी उप० १।८

वर्णाश्रमों के बहिर्मुखी आचार-धर्मों में ही उलझे रहनेवाले मूढ लोग अपने-अपने कर्मानुसार फल प्राप्त करते, जन्म लेते मरते रहते हैं तथा वर्णाश्रमों के कर्मकाण्डमूलक नियम-धर्मों का परित्याग कर देनेवाले पुरुष निजानन्द में डूबकर सदा के लिये तृप्त हो जाते हैं –

वर्णाश्रमाचारयुता विमूढाः कर्मानुसारेण फलं लभन्ते।
वर्णादिधर्मं हि परित्यजन्तः स्वानन्दतृप्ताः पुरुषा भवन्ति ॥

– मैत्रेयी उप० १।१३

आत्मज्ञान की प्राप्ति में वर्णाश्रम के आचार-नियमों का पालन आवश्यक नहीं होता, सन्तमत की यह मान्यता मैत्रेयी उपनिषद् में स्पष्ट शब्दों में वर्णित है। तत्त्व का निरूपण करते हुए श्री महादेवजी मैत्रेय से कहते हैं कि तत्त्वज्ञान प्राप्त करने की जिसे इच्छा हो उसके लिये अपना शरीर ही देवालय है, उसमें निवास करने-वाला जीव ही शिव है, उस शिव पर पहले से चढ़ा हुआ अज्ञान ही निर्माल्य है, उसे हटाकर 'सोऽहं' भाव के द्वारा अर्थात् सद्गुरु से प्राप्त नाम की साधना द्वारा पूजन करना चाहिए –

देहो देवालयः प्रोक्तः स जीवः केवलः शिवः।
त्यजेदज्ञाननिर्माल्यं सोऽहंभावेन पूजयेत्॥

– मैत्रेयी उप० २।१

अभेद दर्शन ही ज्ञान है, मन का विषयों के चिन्तन से रहित होना ही ध्यान है, मन के मैल का उतारना ही स्नान है तथा दसों इन्द्रियों को वश में रखना ही शौच है –

अभेददर्शनं ज्ञानं ध्यानं निर्विषयं मनः।
स्नानं मनोमलत्यागः शौचमिन्द्रियनिग्रहः॥

– मैत्रेयी उप० २।२

माता-पिता का मलरूप यह शरीर ही जन्म लेता और मरता है, सुख-दुःख का यही भण्डार है, रस-रक्त आदि सात धातुओं से बँधा हुआ है, यह भारी रोगरूप है, पाप का मन्दिर है, अनित्य है, सब तरह के विकारों का सम्मिलित रूप ही यह शरीर है, इसके नवों छिद्रों से सदा स्वाभाविक रूप से मलस्राव होता रहता है, अतः दुर्गन्ध और मल से भरा रहता है, ऐसा समझकर स्त्री-पुरुषों को कामभाव से एक दूसरे के शरीर का स्पर्श नहीं करना चाहिए। वस्तुतः इसका ही स्पर्श करके स्नान करना चाहिए –

जातं मृतमिदं देहं मातापितृमलात्मकम्।
सुखदुःखालयामेध्यं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते॥
धातुबद्धं महारोगं पापमन्दिरमध्रुवम्।
विकाराकारविस्तीर्णं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते॥
नवद्वारमलस्रावं सदा काले स्वभावजम्।
दुर्गन्धं दुर्मलोपेतं स्पृष्ट्वा स्नानं विधीयते॥

– मैत्रेयी उप० २।४-६

अद्वैतभावनारूपी भिक्षा ही भोजन करने योग्य है तथा द्वैतभावना अभक्ष्य है, किन्तु वह अद्वैतभावना सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई विधि से सम्पन्न होनी चाहिए। आध्यात्मिक सफलता चाहनेवाले को चाहिए कि वह संन्यास लेने के बाद अपनें घर-गाँव को छोड़कर जेल से छूटे हुए चोर की भाँति दूर कहीं जाकर निवास करे –

अद्वैतभावनाभैक्षमभक्ष्यं द्वैतभावनम्।
गुरुशास्त्रोक्तभावेन भिक्षोर्भैक्षं विधीयते॥
विद्वान् स्वदेशमुत्सृज्य संन्यासानन्तरं स्वतः।
कारागारविनिर्मुक्तश्चोरवद् दूरतो वसेत्॥

— मैत्रेयी उप० २।१०-११

अहंकारी पुत्र, मोह के मूल धनरूपी भाई तथा आशारूपी पत्नी का जबतक त्याग नहीं होगा तबतक जीव मुक्त नहीं हो सकता –

अहंकारसुतं वित्तभ्रातरं मोहमन्दिरम्।
आशापत्नीं त्यजेद् यावत् तावन्मुक्तो न संशयः॥

— मैत्रेयी उप० २।१२

सन्त-सद्गुरु गुणातीत, बोधमय तथा मोह-ममता से रहित होते हैं अतः सन्ध्योपासन आदि वैदिक कर्म उनके लिये निष्प्रयोजन होते हैं। महादेवजी कहते हैं – मोहमयी माता मर गई, उधर बोधरूपी पुत्र भी उत्पन्न हो गया। इस प्रकार जननाशौच और मरणाशौच दोनों सूतक एक साथ लग जाने पर हम अब सन्ध्या कैसे करें। हृदय में ज्ञानरूपी सूर्य सदा प्रकाशित होता रहता है, न उसका उदय होता न अस्त होता। सूर्य के उदय-अस्तकाल में ही सन्ध्योपासन का विधान है। जब सूर्य का उदय-अस्त ही नहीं होता तो अब सन्ध्या कैसे हो सकती है। सद्गुरु के उपदेश से अद्वैत का बोध हो जाना ही वास्तविक एकान्त है, कोई मठ या वन एकान्त नहीं है। संशयरहित हो जानेवालों को ही मुक्ति प्राप्त होती है, संशयग्रस्त जीव अनेक जन्मों तक भटकते रहने पर भी मुक्ति नहीं प्राप्त कर पाते। अतः सद्गुरु के वचनों पर दृढ विश्वास करना आवश्यक है –

मृता मोहमयी माता जातो बोधमयः सुतः।
सूतकद्वयसम्प्राप्तौ कथं सन्ध्यामुपास्महे॥

हृदाकाशे चिदादित्यः सदा भसति भासति।
नास्तमेति न चोदेति कथं सन्ध्यामुपास्महे॥
एकमेवाद्वितीयं यद् गुरोर्वाक्येन निश्चितम्।
एतदेकान्तमित्युक्तं न मठो न वनान्तरम्॥
असंशयवतां मुक्तिः संशयाविष्टचेतसाम्।
न मुक्तिर्जन्मजन्मान्ते तस्माद् विश्वासमाप्नुयात्॥

— मैत्रेयी उप० २।१३-१६

प्रतिमा चाहे पत्थर की हो, या लोहे, मणि या मिट्टी की हो, उसकी पूजा करनेवाला बार-बार जन्म लेता और मरता रहेगा, इसलिये पुनर्जन्म से बचने की इच्छावाले मुमुक्षु को बाहरी पूजा को छोड़कर अपने हृदय के भीतर ही सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई विधि से अपने इष्टदेव का पूजन करना चाहिए —

पाषाणलोहमणिमृण्मयविग्रहेषु पूजा पुनर्जननभोगकरी मुमुक्षोः।
तस्माद् यतिः स्वहृदयार्चनमेव कुर्याद् बाह्यार्चनं परिहरेदपुनर्भवाय॥

— मैत्रेयी उप० २।२६

सुबालोपनिषद्

सुबालोपनिषद् में महर्षि घोराङ्गिरा रैक्व से कहते हैं कि ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु की सेवा के अतिरिक्त किसी भी अन्य उपाय से न जाने जा सकनेवाले इस आत्मा को जो मनुष्य अपने आप में देख लेता है तथा उसके यथार्थ स्वरूप को अपने आप में जान लेता है वह सभी प्राणियों का आत्मा हो जाता है —

एवं समाहितो भूत्वात्मन्येवात्मानं पश्यति स सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद।

— सुबालोप० खण्ड ६

रैक्व ने पूछा — भगवन्, यह दिखाई पड़नेवाला सम्पूर्ण जड़-चेतन संसार किसके सहारे टिका हुआ है ? महर्षि घोराङ्गिरा ने कहा — यह सब रसातल में टिका हुआ है। रैक्व फिर आगे पूछते चले गए तो महर्षि भी बतलाते गए — इसके बाद भू, भुवः, सुवः, महः, जनः, तपः, सत्यलोक, प्रजापतिलोक, ब्रह्मलोक उत्तरोत्तर एक दूसरे में प्रतिष्ठित हैं। ये सब तथा अन्य सभी लोक आत्मरूप ब्रह्म में मणि के समान ओतप्रोत हैं। जो मनुष्य इन लोकों को इस प्रकार आत्मा में प्रतिष्ठित देखता-जानता है वह आत्मा यानी ब्रह्म ही हो जाता है। यही निर्वाण-अनुशासन है, यही वेद-अनुशासन है —

एवमेतान् लोकानात्मनि प्रतिष्ठितान् वेदात्मैव स भवती-
त्येतन्निर्वाणानुशासनमिति वेदानुशासनमिति वेदानुशासनम् ।

— सुबालोप० १०

लोकभाषा में पराविद्या के व्याख्याता सन्त-सद्गुरु भी यही मानते और कहते हैं।

'ब्रह्म वेद ब्रह्मैव भवति'

— जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है,

'सर्वस्यात्मा भवति य एवं वेद'

— जो अपने शरीर में इस प्रकार ब्रह्म का साक्षात्कार कर लेता है वह सबकी आत्मा हो जाता है,

'एवमेतान् लोकानात्मनि प्रतिष्ठितान् वेदात्मैव स भवति'

— जो इन सब लोकों को इस प्रकार आत्मा में प्रतिष्ठित जानता है वह आत्मा यानी ब्रह्म ही हो जाता है, तथा —

सतगुरु ब्रह्मसरूप हैं मनुष भाव मत जान।
मनुष भाव मानैं दया ते हैं पसू समान ॥

इन कथनों के अर्थ में कहीं कोई अन्तर नहीं है। आत्मनिष्ठ, पराविद्या के उपदेशक प्रातःस्मरणीय सन्तों की यज्ञ, हवन, जप, तप, पूजा-पाठ, व्रत-उपवास, श्राद्ध-तर्पण, वेदपाठ आदि कर्मकाण्ड तथा साधन-कर्मों के प्रप्ति अरुचि का समर्थन उपर्युक्त कथनों पर विचार करने से सहज ही हो जाता है, यद्यपि इस कोटि के सन्तों को इस समर्थन की अपेक्षा न कभी रही है, न है। तथ्य को प्रकाश में लाने का यह तो हम जैसे अल्पज्ञ जनों का प्रयास है जिनका मन प्रातर्वन्द्य सन्तजनों को वेदविरोधी अथवा अनीश्वरवादी या निर्गुणिया माने या कहे जाने से खिन्नता का अनुभव करता है।

सन्त गरीबदासजी के महाग्रन्थ 'ग्रन्थसाहव' में मानव-शरीर के भीतर स्थित दृश्य-अदृश्य चराचर जगत्, विभिन्न लोकों, देवी-देवताओं तथा अवतारों आदि के वर्णन के लिये एक स्वतन्त्र प्रकरण ही दिया गया है — 'कायाबेली' (२६)। उसकी कुछ पंक्तियाँ इस प्रकार हैं —

काया मांहें हंसा जान, काया मांहें निहचल थान।
काया मांहें साहेव संत, काया मांहें हैं भगवंत ॥ १ ॥

काया माहें हैं करतार, काया मांहें अपरंपार ॥ ४ ॥
काया मांहें गैब अवाज, काया मांहें सतगुरु राज।
काया मांहें करि ले सेव, काया मांहें पाया देव ॥ ६ ॥
काया मांहें लोक सब, सतगुरु दिये दिखाय।
औघट घाटी ऊतरे, शव्दैं रहे समाय ॥ २२ ॥

क्षुरिकोपनिषद्

वेद के तात्त्विक अर्थ के रूप में स्वयंभू द्वारा कथित क्षुरिकोपनिषद् का विषय योगसिद्धि देनेवाला है जिसे प्राप्त कर मनुष्य फिर जन्म नहीं प्राप्त करता। उसमें भी सन्तमतसम्मत उपासना का यही प्रकार बतलाया गया है कि कछुए के समान सब इन्द्रियों को बटोरकर, मन को सब ओर से रोककर नासिका के बाएँ और दाहिने छिद्रों में गतिशील इडा और पिंगला नाडियों के बीच के श्रेष्ठ स्थान पर चेतना को स्थिर करे। वहाँ लाल आभावाला पुरुष (सद्गुरु) का महान् आश्रय है जिसे वेदान्त में दहर या पुण्डरीक (कमलमध्यगत आकाश) कहा गया है, वहाँ अत्यन्त सूक्ष्म श्वेतवर्ण की सुषुम्ना नाम की एक नाडी है। उसमें प्राणों को इस प्रकार संचारित करे जिस प्रकार मकड़ी तन्तु के सहारे ऊपर चढ़ती है –

ॐ क्षुरिकां संप्रवक्ष्यामि धारणां योगसिद्धये।
यां प्राप्य न पुनर्जन्म योगयुक्तः स जायते ॥
वेदतत्त्वार्थविहितं यथोक्तं हि स्वयंभुवा ॥ १ ॥
निःशव्दं देशमास्थाय तत्रासनमवस्थितः।
कूर्मोऽङ्गानीव संहृत्य मनो हृदि निरुध्य च ॥ २ ॥
मात्राद्वादशयोगेन प्रणवेन शनैः, शनैः।
पूरयेत् सर्वमात्मानं सर्वद्वारान्निरुध्य च ॥ ३ ॥
उरोमुखकटिग्रीवं किञ्चिद्धृदयमुन्नतम्।
प्राणान् संचारयेत् तस्मिन् नासाभ्यन्तरचारिणः ॥ ४ ॥



अतिसूक्ष्मां च तन्वीं च शुक्लां नाडीं समाश्रयेत्।
ततः संचारयेत् प्राणानूर्णनाभीव तन्तुना ॥ ८ ॥

ततो रक्तोत्पलाभासं पुरुषायतनं महत्।
दहरं पुण्डरीकेति वेदान्तेषु निगद्यते ॥ ६ ॥

— क्षुरिकोप० १-६

तत्त्वज्ञा सन्त दया बाई इस विषय में अपने सद्गुरुदेव का उपदेश बतलाते हुए कहती हैं —

दया कह्यौ गुरुदेव ने, कूरम को ब्रत लेहि ।
सव इन्द्रिन कों रोक करि, सुरत स्वाँस में देहि ॥

निरालम्बोपनिषद्

निरालम्ब उपनिषद् में जाति, धर्म, कर्म, अकर्म, बन्ध, मोक्ष आदि की वे यथार्थ परिभाषाएँ प्रस्तुत की गई हैं जिनका व्यावहारिक स्वरूप वर्तमान सन्त-दरबार तथा उनके अनुयायियों में ही देखने को मिलता है, जैसे —

जाति — चर्म, रक्त, मांस, अस्थि या आत्मा, इनकी कोई जाति नहीं होती। जाति तो व्यवहार के लिये मनुष्यों द्वारा कल्पित है —

न चर्मणो न रक्तस्य न मांसरय न चास्थिनः।
न जातिरात्मनो जातिर्व्यवहारप्रकल्पिता ॥

अकर्म — कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि के अहंकार के कारण बन्धनरूप जन्म-मृत्यु आदि के कारणरूप नित्य-नैमित्तिक योग-व्रत-ताप-दान आदि कर्मों में फल की आशा ही अकर्म है —

अकर्मेति च कर्तृत्वभोक्तृत्वाद्यहङ्कारतया बन्धरूपं जन्मादिकारणं नित्यनैमित्तिकयागव्रततपोदानादिषु फलाभिसन्धानं यत् तदकर्म।

अज्ञान — रस्सी में सर्प के भ्रम की भाँति अद्वितीय, सर्वव्यापी, सर्वमय ब्रह्म में देव-तिर्यक्-नर-स्थावर-स्त्री-पुरुष-वर्ण-आश्रम-बन्ध-मोक्ष आदि नाना प्रकार का भेदकल्पित ज्ञान ही अज्ञान है —

अज्ञानमिति च रज्जौ सर्पभ्रान्तिरिवाद्वितीये सर्वानुस्यूते सर्वमये ब्रह्मणि देवतिर्यङ्नरस्थावरस्त्रीपुरुषवर्णाश्रमबन्धमोक्षोपाधिनानात्मभेदकल्पितं ज्ञानमज्ञानम्।

सुख — सच्चिदानन्द का स्वरूप जान लेने के वाद प्राप्त होनेवाली आनन्दस्वरूप जो स्थिति है वही सुख है —

सुखमिति च सच्चिदानन्दस्वरूपं ज्ञात्वानन्दरूपा या स्थितिः सैव सुखम्।

दुःख – अनात्मरूप विषयसंकल्प ही दुःख है –

दुःखमिति अनात्मरूपो विषयसंकल्प एव दुःखम्।

स्वर्ग – सन्तों का संसर्ग ही स्वर्ग है –

स्वर्ग इति च सत्संसर्गः।

नरक – असत् संसार में डूबे हुए विषयी लोगों का संसर्ग ही नरक है –

नरक इति च असत्संसारविषयजनसंसर्ग एव नरकः।

बन्ध – अनादि अविद्या की वासना से 'मैं उत्पन्न हुआ' इत्यादि प्रकार का संकल्प बन्धन है –

बन्ध इति च अनाद्यविद्यावासनया जातोऽहमित्यादिसंकल्पो बन्धः।

पिता-माता-सहोदर-पत्नी-सन्तान-घर-बगीचा-खेत आदि में ममतारूप संसार के आवरण का संकल्प बन्धन है –

पितृमातृसहोदरदारापत्यगृहारामक्षेत्रममतासंसारावरणसंकल्पो बन्धः।

कर्तृत्व-भोक्तृत्व आदि अहंकारवाला संकल्प बन्धन है –

कर्तृत्वाद्यहंकारसंकल्पो बन्धः।

अणिमा-महिमा आदि आठों ऐश्वर्य पाने की आशा सफल होने की बात सोचते रहना बन्धन है –

अणिमाद्यष्टैश्वर्याशासिद्धसंकल्पो बन्धः।

देव-मनुष्य आदि की उपासना की कामना और संकल्प बन्धन है –

देवमनुष्याद्युपासनाकामसंकल्पो बन्धः।

यम-नियम आदि अष्टांगयोग का संकल्प बन्धन है –

यमाद्यष्टांगयोगसंकल्पो बन्धः।

वर्णाश्रमों के धर्म-कर्मों का संकल्प बन्धन है –

वर्णाश्रमधर्मकर्मसंकल्पो बन्धः।

आशा, भय, संशय आदि आत्मगुणों का संकल्प बन्धन है –

आशाभयसंशयात्मगुणसंकल्पो बन्धः।

यज्ञ, व्रत, तप, दान आदि के विधि-विधान के ज्ञान से उनके अनुष्ठान का जो संकल्प उत्पन्न होता है वह बन्धन है –

यागव्रततपोदानविधिविधानज्ञानसम्भवो बन्धः।

केवल मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा और अपेक्षा से उत्पन्न संकल्प बन्धन है –

केवलमोक्षापेक्षासंकल्पो बन्धः।

मोक्ष – नित्य और अनित्य वस्तु के ज्ञान के साथ संसार के सुख-दुःख प्रदान करनेवाले सम्पूर्ण पदार्थों में ममतारूपी बन्धन का विनाश ही मोक्ष है –

मोक्ष इति च नित्यानित्यवस्तुविचारादनित्यसंसारसुखदुःख-विषयसमस्तक्षेत्रममतावन्धक्षयो मोक्षः।

उपास्य – सभी असत् संकल्परूप बन्धनों से चित्त रहित हो जाय तथा सत्-असत् अथवा नित्य-अनित्य वस्तु का विवेक मन में बैठ जाय, यह मनुष्य के अपने प्रयत्न से सम्भव नहीं है। अपने वल पर प्रयत्न करनेवाला तो ज्यों-ज्यों प्रयत्नशील होगा, वह उत्तरोत्तर अहंकार, कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि बन्धनों से जकड़ता ही चला जायगा। ऐसी स्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिए, किसका आश्रय ग्रहण करना चाहिए, यह बतलाते हुए उपनिषद् में एकमात्र उपाय बतलाया गया है कि संसार के सभी शरीरों में स्थित जो चैतन्य ब्रह्म है उसे प्राप्त करा देनेवाले सद्गुरु की ही उपासना अर्थात् सेवा-पूजा करनी चाहिए –

उपास्य इति च सर्वशरीरस्थचैतन्यब्रह्मप्रापको गुरुरुपास्यः।

– उपनिषत्कार तो यहाँ तक कहते हैं कि सद्गुरु का अनुग्रह होने पर ही मनुष्य को इस निरालम्व उपनिषद् को पढ़ने-समझने का अवसर मिलता है –

इदं निरालम्बोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहतः।

ज्ञान का स्वरूप वतलाते हुए ज्ञान – कहा गया है कि देह और इन्द्रियों को वश में रखते हुए सद्गुरु की उपासना (सेवा-पूजा) द्वारा, उनके उपदेश का श्रवण-मनन-निदिध्यासन करते रहने से, सम्पूर्ण जगत् के जड़-चेतन पदार्थों में समान रूप से व्याप्त परमात्मा के अन्तःसाक्षात्कार से भीतर अनुभवरूप जो ज्ञान उत्पन्न होता है वही वास्तव में ज्ञान है –

ज्ञानमिति च देहेन्द्रियनिग्रहस्तद्गुरूपासनश्रवणमनननिदिध्यास-नैर्यद्दृग्दृश्यस्वरूपं सर्वान्तरस्थं सर्वसमं घटपटादिपदार्थमिवाविकारं विका-रेषु चैतन्यं विना किञ्चिन्नास्तीति साक्षात्कारानुभवो ज्ञानम्।

सन्तमत से थोड़ा भी परिचय रखनेवाले व्यक्ति के लिये यह समझना कठिन न होगा कि उपनिषदों में वर्णित उपर्युक्त प्रत्येक तथ्य को सन्त-समाज में पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है।

सन्तमत में सद्गुरु को ही सर्वेश्वर माना जाता है, सद्गुरु ही मूर्तिमान् सगुण ब्रह्म है, सद्गुरु ही पूज्य है, सद्गुरु ही सबका इष्ट है, क्योंकि वर्तमान सद्गुरु ने अपने इष्ट पूर्ववर्ती सद्गुरु की सेवा करके उनकी कृपा से ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लिया है। सन्तमत की इस मान्यता को उपनिषद् में किन शब्दों में विवेचित किया गया गया है, देखें। संन्यासी की परिभाषा देते हुए कहा गया है – सब धर्मों को त्यागकर, ममता-अहंकार से रहित होकर, सगुण ब्रह्मरूप अपने इष्ट सद्गुरु की शरण प्राप्त करके, महावाक्यों आदि के अर्थ का अनुभवसिद्ध ज्ञान प्राप्त करके 'मैं ब्रह्म हूँ' ऐसा निश्चय करके निर्विकल्प समाधि में रमता हुआ जो स्वतन्त्र रूप से विचरण करता है वही संन्यासी है, वही मुक्त है, वही पूज्य है, वही योगी है, वही परमहंस है, वही अवधूत है तथा वही वास्तव में ब्राह्मण है –

> संन्यासीति च सर्वधर्मान् परित्यज्य निर्ममो निरहंकारो भूत्वा ब्रह्मेष्टं शरणमुपगम्य तत्त्वमसि अहं ब्रह्मास्मि सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचनेत्यादिमहावाक्यार्थानुभवज्ञानाद् ब्रह्मैवाहमस्मि इति निश्चित्य निर्विकल्पसमाधिना स्वतन्त्रो यतिश्चरति स संन्यासी स मुक्तः स पूज्यः स योगी स परमहंसः सोऽवधूतः स ब्राह्मण इति।
>
> – निरालम्बोप०

शुकरहस्योपनिषद्

पीछे कहा गया है कि ओम्, सोऽहं, हंसः आदि सब सद्गुरु से प्राप्त होने-वाले परानाम के प्रतीक-पर्याय हैं। ग्रन्थों में पढ़कर या किसी से सुनकर इनका प्रयोग कर कोई इनसे लाभान्वित होना चाहे तो यह सम्भव नहीं है, यह हम प्रत्यक्ष देखते और अनुभव भी कर रहे हैं। तत्त्वदर्शी सद्गुरु द्वारा दीक्षा के माध्यम से प्राप्त होने पर ही उनमें अभीष्ट फल देने की शक्ति उत्पन्न होती है। यह शक्ति उन अक्षरों या शब्दों की नहीं, सद्गुरु की मौज की होती है। शुकरहस्योपनिषद् में वर्णन आया है कि व्यास ने अपने पुत्र शुक को सर्वज्ञत्व तथा चतुर्विध मुक्ति प्राप्त कराने के लिये शिव से ब्रह्मोपदेश कराया तथा शुक ने शिव से प्रणव (नाम) का उपदेश प्राप्त किया –

कृतकृत्यः शुकस्तत्र समागत्य सुभक्तिमान्।
तस्मात् स प्रणवं लब्ध्वा पुनरित्यब्रवीच्छिवम् ॥

— शुकरहस्योप० ८

शिव से प्राप्त इस नाममन्त्र का हंस ऋषि है, परमहंस देवता है तथा परमहंस की प्रसन्नता के लिये जप में इसका विनियोग है। अन्त में सद्गुरु का ध्यान इस प्रकार है — नित्य आनन्दस्वरूप, परम सुख के दाता, केवल ज्ञान के स्वरूप, सम्पूर्ण द्वन्द्वों से परे आकाश के समान वर्तमान, तत्त्वमसि आदि महावाक्यों के लक्ष्य, एकमात्र, नित्य, मलरहित, अचल, सबकी बुद्धि के साक्षी, भावातीत त्रिगुणरहित अपने सद्गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ —

नित्यानन्दं परमसुखदं केवलं ज्ञानमूर्तिं
द्वन्द्वातीतं गगनसदृशं तत्त्वमस्यादिलक्ष्यम्।
एकं नित्यं विमलमचलं सर्वधीसाक्षिभूतं
भावातीतं त्रिगुणरहितं सद्गुरुं तं नमामि ॥

आगे वाक्यार्थ-श्लोकों में कहा गया है कि मैं अनात्मदृष्टि की अविवेक-निद्रा में सोया हुआ मैं-मेरा रूप इस असत् संसार को स्वप्न देखता हुआ सा सत्य समझ रहा था किन्तु सद्गुरु द्वारा महावाक्य का स्पष्ट उपदेश प्राप्त करने के बाद स्वरूप-सूर्य का उदय हुआ और मैं जाग गया —

अनात्मदृष्टेरविवेकनिद्रामहं मम स्वप्नगतिं गतोऽहम्।
स्वरूपसूर्येऽभ्युदिते स्फुटोक्तेर्गुरोर्महावाक्यपदैः प्रबुद्धः ॥

— शुकरहस्योप० ९

पूर्ण आत्मबोध प्राप्त करने के लिये यहाँ-वहाँ से, जिस किसी से भी नहीं, तत्त्वज्ञानी पूर्ण सद्गुरु से पहले श्रवण करना चाहिए, तब मनन और फिर निदिध्यासन —

श्रवणं तु गुरोः पूर्वं मननं तदनन्तरम्।
निदिध्यासनमित्येव पूर्णवोधस्य कारणम् ॥

— शुकरहस्योप० १३

अन्त में यहाँ भी वही वात कही गई है कि सद्गुरु की कृपा से जो इस शुकरहस्योपनिषद् को पढ़ता-समझता है वह सभी पापों से मुक्त होकर साक्षात्

कैवल्य को प्राप्त कर लेता है। यहाँ महत्त्व उपनिषद् का नहीं, सद्गुरु की कृपा का ही महत्त्व सर्वोपरि है। सद्गुरु की कृपा न हो तो ये उपनिषद् आदि मनुष्य का कोई कल्याण नहीं कर सकते –

यो रहस्योपनिषदमधीते गुर्वनुग्रहात् ।
सर्वपापविनिर्मुक्तः साक्षात् कैवल्यमश्नुते ॥
साक्षात् कैवल्यमश्नुते ॥

तेजोबिन्दूपनिषद्

तेजोबिन्दूपनिषद् में एक प्रसंग है। निदाध मुनि ने भगवान् ऋभु से निवेदन किया – भगवन्, आत्म-अनात्म के विवेक के विषय में यानी आत्मज्ञान के विषय में वतलाने की कृपा करें। भगवान् ऋभु ने इस पर जो पहली वात कही वह यही कि हे निदाध, सम्पूर्ण वाणियों की अवधि व्रह्म है तथा सभी चिन्तनों की अवधि सद्गुरु है –

सर्ववाचोऽवधिर्व्रह्म सर्वचिन्तावधिर्गुरुः ।

– तेजोबिन्दूप० ५ । १

अर्थात् संसार में वेद-उपनिषद्-शास्त्र-पुराण तथा उनके भाष्य व्याख्यान आदि जितना भी वाङ्मय है उन सवका अन्त व्रह्म में ही होता है, सवका अन्तिम प्रतिपाद्य व्रह्म ही है, व्रह्म का प्रतिपादन करने से वढ़कर वाणी के प्रयोग का कोई श्रेष्ठ प्रयोजन या लाभ नहीं है। इसी प्रकार जितने प्रकार का चिन्तन – ध्यान, स्मरण, मनन, निदिध्यासन आदि मानसिक प्रयोग हैं उन सवकी सीमा सद्गुरु है, सद्गुरु का चिन्तन-ध्यान-स्मरण करने के वाद फिर उससे श्रेष्ठ कोई नहीं वचता जिसका किसी भी प्रयोजन की सफलता के लिये चिन्तन करना आवश्यक हो। एक मात्र सद्गुरु का स्मरण-ध्यान करने से भौतिक-आध्यात्मिक सभी क्षेत्रों में सफलता चरण चूमने लगती है, सभी देवी-देवता अनायास सन्तुष्ट हो जाते हैं। सन्त तुलसी-दासजी कहते हैं –

मन क्रम वचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत विरंचि सिव वस ताके सव देव ॥

– भूसुर यानी पृथ्वी के देवता, पृथ्वी पर सदा वर्तमान रहनेवाले व्रह्म के सगुण-साकार स्वरुप व्रह्मवेत्ता सन्त-सद्गुरु। विष्णु के नैमित्तिक अवतार भगवान् राम

कहते हैं कि मन-वचन-कर्म से, कपट छोड़कर यदि कोई सन्त-सद्गुरु की सेवा करता है तो मुझ समेत ब्रह्मा, शिव और सृष्टि के सम्पूर्ण देवी-देवता अनायास, उसके न चाहते हुए भी, उसके वश में हो जाते हैं, उसकी इच्छा का अनुगमन करने लगते हैं, उसके सभी मनोरथ पूर्ण होने में सहायक बन जाते हैं।

सन्तमत में इसी तथ्य को पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त है।

अपने शरीर के भीतर विराजमान परमात्मा का साक्षात्कार सद्गुरु से प्राप्त जिस विद्या के अभ्यास से होता है उसे ही पराविद्या तथा हंसविद्या भी कहा जाता है। अजपा गायत्री भी यही है।

ध्यानबिन्दूपनिषद्

ध्यानबिन्दूपनिषद् में बतलाया गया है कि मनुष्य का श्वास 'हं' ध्वनि के साथ भीतर जाता है तथा 'सः' ध्वनि के साथ बाहर आता है। जीव अज्ञात भाव से सदा प्रत्येक साँस में इसका जप करता रहता है। दिन-रात में कुल मिलाकर प्रत्येक मनुष्य की २१६०० (एक्कीस हजार छह सौ) साँसें चलती हैं। श्वास द्वारा सद्गुरु से प्राप्त परानाम के जप तथा ललाट के भीतर ब्रह्मस्थान में आत्मज्ञानी सद्गुरुरूप सगुण साकार ब्रह्म के ध्यान का अभ्यास परिपक्व हो जाने पर आत्मसाक्षात्कार हो जाता है। कहा गया है — भौंहों के मध्य ललाट के भीतर नासिका के मूल में अमृतस्थान समझना चाहिए। यही ब्रह्म का विशाल स्थान है —

भ्रुवोर्मध्ये ललाटे तु नासिकायास्तु मूलतः।
जानीयादमृतं स्थानं तद् ब्रह्मायतनं महत्॥

— ध्यानबिन्दूप० ४०

ब्रह्मविद्योपनिषद्

इसी प्रसंग में ब्रह्मविद्योपनिषद् का यह अंश देखने योग्य है —

हंसविद्या को छोड़कर संसार में नित्यता का साधन अन्य कुछ भी नहीं है। जो (सद्गुरु) इस हंसनामक परमेश्वर को प्राप्त करानेवाली विद्या का दान करता है उसकी सदा स्थिर बुद्धि से दासता करनी चाहिए। इस पृथ्वी पर शिष्य को चाहिए कि सद्गुरु शुभ-अशुभ या अन्य जो कुछ भी कहे उसका बिना विचार किए सन्तोष के साथ पालन करे। इस हंसविद्या को प्राप्त कर मनुष्य सद्गुरु की सेवा करके अपनी आत्मा द्वारा अपनी आत्मा (सद्गुरु) को निश्चितरूप से साक्षात्

ब्रह्म जानकर वर्णाश्रम आदि से युक्त देह-जाति आदि के सम्बन्धों को तथा अन्य वेद-शास्त्र आदि को पैर में लगी धूल के समान झाड़ देता है, त्याग देता है। अतः मनुष्य को चाहिए कि अपने परम कल्याण के लिये सदा गुरुभक्ति करता रहे। गुरु ही साक्षात् हरि हैं, यह वेद का कथन है –

हंसविद्यामृते लोके नास्ति नित्यत्वसाधनम्।
यो ददाति महाविद्यां हंसाख्यां पारमेश्वरीम्॥
तस्य दास्यं सदा कुर्यात् प्रज्ञया परया सह।
शुभं वाऽशुभमन्यद् वा यदुक्तं गुरुणा भुवि॥
तत् कुर्यादविचारेण शिष्यः सन्तोषसंयुतः।
हंसविद्यामिमां लब्ध्वा गुरुशुश्रूषया नरः॥
आत्मानमात्मना साक्षाद् ब्रह्म बुद्ध्वा सुनिश्चलम्।
देहजात्यादिसंवन्धान् वर्णाश्रमसमन्वितान्॥
वेदशास्त्राणि चान्यानि पदपांसुमिव त्यजेत्।
गुरुभक्तिं सदा कुर्याच्छ्रेयसे भूयसे नरः।
गुरुरेव हरिः साक्षान्नान्य इत्यब्रवीच्छ्रुतिः॥

– ब्रह्मविद्योप० २६-३१

हंसमन्त्र का जप करनेवाला ही हंस है, ब्रह्मा है, विष्णु है, शिव है। यह प्रत्यक्ष सर्वतोमुख हंसमन्त्र सद्गुरु से प्राप्त होना चाहिए –

हंस हंसेति यो ब्रूयाद्धंसो ब्रह्मा हरिः शिवः।
गुरुवक्त्रात्तु लभ्येत प्रत्यक्षं सर्वतोमुखम्॥

– ब्रह्मविद्योप० ३४

सन्तमत की उपासना में सद्गुरु से परानाम का उपदेश प्राप्त करने के वाद शिष्य का कर्तव्य अपने मन को साँस की गति पर केन्द्रित करना हो जाता है। मन भी सदा सक्रिय रहता है तथा साँस भी लगातार चलती रहती है अतः शरीर कहीं भी रहे, किसी भी दशा में रहे, नाम का स्मरण निरन्तर चलता रह सकता है। ब्राह्ममुहूर्त में स्नान आदि क्रियाओं के पश्चात् स्मरण-ध्यान के लिये पद्मासन लगाकर वैठने तक का भी समय सार्थक करने के लिये उस समय भी नाम-स्मरण करने रहने का उपदेश दिया जाता है। कहा जाता है कि पहले प्रयत्न पूर्वक स्मरण के अभ्यास

में मन को लगाना चाहिए। फिर अभ्यास में दृढ़ता आ जाने पर यह स्मरण अनायास, सहज रूप में होने लगता है, निरन्तर बिना प्रयास किए होता रहता है, देहेन्द्रियाँ चाहे किसी काम में लगी रहें। सन्त काष्ठजिह्व स्वामी कहते हैं –

नाम लिया कर, काम किया कर, का काहू को डर है।
परदेशी की हाट लगी है, का काहू को घर है॥

वे कहते हैं कि भजन काम सुरत से, ख्याल से, स्मरण से, जीव से होता है, जबकि संसार के कार्य इन्द्रियों से होते हैं। ये दोनों दो भिन्न छोरों की बातें हैं –

जग इन्द्रिन सों, भजन सुरत सों, जुदा जुदा यह नोका है।

श्रीकृष्ण कहते हैं कि अर्जुन, योगी को अर्थात् अपने इष्ट सद्गुरुदेव के स्वरूप से जुड़े हुए, उनमें मन लगाए हुए सत्य के ज्ञाता पुरुष को चाहिए कि देखता-सुनता, छूता, सूँघता, आता-जाता, सोता, साँस लेता, बोलता, देता-लेता तथा पलकें गिराता-उठाता हुआ भी वह यही समझे कि सब कर्मेन्द्रियाँ अपने-अपने काम में लगी हैं, अपने-अपने विषयों में रम रही हैं, मैं कुछ नहीं कर रहा –

नैव किंचित् करोमीति युक्तो मन्येत तत्त्ववित्।
पश्यञ्शृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गच्छन् स्वपञ्श्वसन्॥
प्रलपन् विसृजन् गृह्णन्नुन्मिषन्निमिषन्नपि।
इन्द्रियाणीन्द्रियार्थेषु वर्तन्त इति धारयन्॥

– श्रीमद्भगवद्गीता ५।८-९

अभ्यास परिपक्व हो जाने पर बिना प्रयास किए हर साँस में नाम का स्मरण सहज रूप से होने लगता है, उसे करना नहीं पड़ता, सन्तमत की साधना की यह मान्यता उपनिषद् में सूत्ररूप में संकेतित है। उपनिषत्कार कहते हैं कि मन किसी दूसरी ओर रहे और आँखें कहीं और लगी रहें तब भी ब्रह्मविद्या प्राप्त करानेवाले इस योग की साधना करनेवालों का योग अनायास लगातार चलता रहता है, भजन का तार टूटता नहीं –

मनोऽप्यन्यत्र निक्षिप्तं चक्षुरन्यत्र पातितम्।
तथापि योगिनां योगः ह्यविच्छिन्नः प्रवर्तते ॥४४॥

आगे कहा गया है कि यह ब्रह्मविद्या प्राप्त करानेवाला योग परम गुह्य यानी गुप्त है, परम शुभ है, इससे श्रेष्ठ और शुभ अन्य कुछ भी नहीं है –

एतत्तु परमं गुह्यमेतत्तु परमं शुभम्।
नातः परतरं किंचिन्नातः परतरं शुभम् ॥ ४५ ॥

ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ, भिक्षुक, यहाँ तक कि विषयासक्त जीव, कोई भी क्यों न हो, तत्त्वदर्शी सद्गुरु से प्राप्त होनेवाले इस योग को जाननेवाला देह त्यागने के बाद शुभगति को प्राप्त करता है तथा कहीं भी रहे, उस परम अक्षरब्रह्म को जान लेता है और ब्रह्महत्या या अश्वमेध आदि के पापों और पुण्यों से भी लिप्त नहीं होता –

गृहस्थो ब्रह्मचारी च वानप्रस्थश्च भिक्षुकः।
यत्र तत्र स्थितो ज्ञानी परमाक्षरवित् सदा ॥ ४६ ॥
विषयी विषयासक्तो याति देहान्तरे शुभम्।
ज्ञानादेवास्य शास्त्रस्य सर्वावस्थोऽपि मानवः ॥ ५० ॥
ब्रह्महत्याश्वमेधाद्यैः पुण्यपापैर्न लिप्यते।

इस योग के तीन गुरु होते हैं – प्रेरक, वोधक और मोक्षदाता। ऐसा व्यक्ति जो किसी मनुष्य को सद्गुरु से उपदेश लेने के लिये प्रेरित करता है, मार्गदर्शन करता है वह प्रेरक गुरु है, जो किसी मनुष्य को सद्गुरु के आश्रम में पहुँचा देता है, उसे सद्गुरु की महिमा, भजन-स्मरण का प्रकार आदि समझा देता है। वह वोधक गुरु है, तथा जो करुणावतार दया करके जीव को जन्म-मरण से मुक्ति प्रदान कर देते हैं वे स्वयं मोक्षदाता सद्गुरुदेव हैं। यह वह योग है जिसमें अपने शरीर के भीतर प्रत्यक्ष वर्तमान सगुण साकार ब्रह्म तत्त्वदर्शी सद्गुरुदेव की आराधना की जाती है –

चोदको बोधकश्चैव मोक्षदश्च परः स्मृतः ॥ ५१ ॥
इत्येषां त्रिविधो ज्ञेय आचार्यस्तु महीतले।
चोदको दर्शयेन्मार्गं वोधकः स्थानमाचरेत् ॥ ५२ ॥
मोक्षदश्च परं तत्त्वं यज्ज्ञात्वा परमश्नुते।
प्रत्यक्षयजनं देहे संक्षेपाच्छृणु गौतम ॥ ५३ ॥

– ब्रह्मविद्योपनिषद्

योगतत्त्वोपनिषद्

ब्रह्म के अध्यात्मविषयक प्रश्न पर विष्णु के उत्तररूप में है योगतत्त्वोपनिषद्। कैवल्य पद की प्राप्ति में शास्त्रों की असमर्थता वतलाते हुए विष्णु कहते हैं कि संसार में सभी जीव सुख-दुःखरूप मायाजाल में उलझे पड़े हैं। उनकी

मुक्ति का उपाय मृत्युतारक (मन्त्र) की उपासना है जो मायाजाल को काटनेवाला, जन्म, बुढ़ापा, रोग और मृत्यु का विनाशक है। नाना मार्गों में भटकते हुए लोगों द्वारा परमपद कैवल्य पाया नहीं जा सकता। शास्त्रजाल में उलझे लोग शास्त्रीय बुद्धि के व्यामोह में पड़े रहते हैं, जबकि कैवल्य पद अनिर्वाच्य है, देवों द्वारा भी इसका वर्णन नहीं किया जा सकता, तब स्वात्मप्रकाशरूप इस कैवल्य पद को शास्त्र भला कैसे प्रकाशित करेंगे !

सर्वे जीवाः सुखैर्दुःखैर्मायाजालेन वेष्टिताः ॥
तेषां मुक्तिकरं मार्गं मायाजालनिकृन्तनम् ।
जन्ममृत्युजराव्याधिनाशनं मृत्युतारकम् ॥
नानामार्गैस्तु दुष्प्रापं कैवल्यं परमं पदम् ।
पतिताः शास्त्रजालेषु प्रज्ञया तेन मोहिताः ॥
अनिर्वाच्यं पदं वक्तुं न शक्यं तैः सुरैरपि ।
स्वात्मप्रकाशरूपं तत् किं शास्त्रेण प्रकाश्यते ॥

— योगतत्त्वोप० ४-७

उसे प्राप्त करने का एक ही उपाय है कि सद्गुरु से प्राप्त परानाम का उनकी वतलाई विधि से दिन-रात स्मरण करे —

अविस्मृत्य गुरोर्वाक्यमभ्यसेत् तदहर्निशम् ।

— योगतत्त्वोप० ७६

और प्राणों को आकाशगामी कर ले। अध्यात्म में भौहों के मध्यभाग से ऊपर शिखा तक के भाग को आकाश कहा जाता है —

आभ्रूमध्यात्तु मूर्धान्तमाकाशस्थानमुच्यते ।

— योगतत्त्वोप० ६७

कहा जा चुका है कि सन्तमत में इसी आकाश में सहस्रदल पद्म पर हंसासीन (हंस पर विराजमान) सद्गुरु के ध्यान का विधान है।

नारदपरिव्राजकोपनिषद्

नारदपरिव्राजकोपनिषद् में पञ्चम उपदेश के वाद नारद पितामह से पूछते हैं कि भगवन्, आत्मज्ञान प्राप्त करने के लिये आपने जो भ्रमरकीटन्याय से स्वरूपानुसन्धान करने का उपदेश दिया है वह अभ्यास किस प्रकार किया जाता है

यह बताने की कृपा करें –

अथ नारदः पितामहमुवाच भगवन्, तदभ्यासवशाद् भ्रमरकीटन्याय-वत्तदभ्यासः कथमिति ।

– नारदपरिव्राजकोप० षष्ठोपदेश

इसके उत्तर में पितामह ने वर्तमान सन्तमत में प्रमुखता से मान्यता-प्राप्त उपदेश देते हुए कहा कि विरक्त तथा श्रद्धालु व्यक्ति को आत्मज्ञान प्राप्त करने की इच्छा से हाथों में उपहार लेकर ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु की शरण में जाना चाहिए, दीर्घकाल तक उनकी सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट करना चाहिए और सावधान होकर उनसे वेदान्तवाक्यों का अर्थ सुनना चाहिए। तुम्हारे प्रश्न का उत्तर उनसे ही प्राप्त हो सकता है –

विरज्य सर्वभूतेभ्य आविरिञ्चिपदादपि ।
घृणां विपाट्य सर्वस्मिन् पुत्रमित्रादिकेष्वपि ॥
श्रद्धालुर्मुक्तिमार्गेषु वेदान्तज्ञानलिप्सया ।
उपायनकरो भूत्वा गुरुं ब्रह्मविदं व्रजेत् ॥
सेवाभिः परितोष्यैनं चिरकालं समाहितः ।
सदा वेदान्तवाक्यार्थं शृणुयात् सुसमाहितः ॥

– नारदपरिव्राजकोप० ६।१६-१८

मनुष्य-शरीर में विराजमान, ब्रह्मज्ञान से युक्त, विशिष्ट जीव, सन्त-सद्गुरु ही प्रत्यक्ष ब्रह्म हैं – सन्तमत की यह मान्यता स्पष्ट शब्दों में घोषित करते हुए कहा गया है – 'मैं शरीर हूँ' यही समझ जीव बने रहने का कारण है। जैसे घटाकाश व्यवधान के कारण महाकाश से भिन्न है, यही दशा जीव की है। निज स्वरूप को पाने के लिये वह श्वास-प्रश्वास में अज्ञात भाव से 'हंसः सोऽहं' का जप करता रहता है। अपने सद्गुरुदेव की कृपा से भ्रमर-कीटन्याय से जिसका यह शरीराभिमान नष्ट हो जाता है ऐसा महापुरुष ही साक्षात् ब्रह्म है, दूसरा और कोई नहीं –

शरीराभिमानेन जीवत्वम् । जीक्त्वं घटाकाशमहाकाशवद् व्यवधा-नेऽस्ति । व्यवधानवशादेव हंसः सोऽहमिति मन्त्रेणोच्छ्वासनिःश्वासव्य-पदेशेनानुसन्धानं करोति । एवं विज्ञाय शरीराभिमानं त्यजेन्न शरीराभिमानी भवति । स एव ब्रह्मेत्युच्यते ।

– नारदपरिव्राजकोप० ६।१

शरीराभिमान ही जीवत्व का कारण है अर्थात् जैसे घर में रहनेवाला कोई व्यक्ति स्वयं को घर समझने लगे, घर को ही अपना स्वरूप मान ले। इसी प्रकार इस शरीर में रहनेवाला जीव स्वयं को शरीर समझने लगे, शरीर को ही अपना स्वरूप समझ ले, यही शरीराभिमान है। बात समझने की है।

यथार्थ समझने की यह कला, यह सुबुद्धि श्रवण-मनन-निदिध्यासन के अनवरत अभ्यास से, प्राणायाम के अभ्यास से प्राप्त होती है, यह ऊपर कहा गया। यहाँ 'श्रवण' शब्द ही सद्गुरु-सेवा की अनिवार्यता को स्पष्ट कर देता है। ब्रह्मविद्या का पारंगत कोई योग्यतम व्यक्ति इस विषय में कुछ कहेगा तभी तो हम सुन सकेंगे। अतः शरीराभिमान से मुक्त होने के लिये जो कुछ साधना या अभ्यास किया जाना है, उसे सुनने, जानने, समझने या सीखने के लिये सर्वप्रथम सद्गुरु की शरण में जाने की आवश्यकता सहज ही सिद्ध हो जाती है।

सद्गुरु की चरण-शरण की उपेक्षा करके इस शरीर को 'मैं' समझने की भूल सुधारने का कोई उपाय सम्भव नहीं है। शरीराभिमान से मुक्त व्यक्ति ही दूसरे को भी शरीराभिमान से मुक्त होने की अपनी अनुभव की हुई विधि बतला सकता है, दूसरा कोई अनजान व्यक्ति भला क्या बतलावेगा !

सद्गुरु से श्रद्धापूर्वक उपदेश के 'श्रवण' कें बाद ही 'मनन' आदि साधना या अभ्यास का श्रीगणेश सम्भव होता है तथा मनुष्य के सभी मनोरथ सिद्ध होने का द्वार खुल जाता है क्योंकि ऊपर कहा ही गया है कि देहाभिमान से रहित ऐसा महापुरुष यानी सद्गुरु ही प्रत्यक्ष ब्रह्म है। प्रत्यक्ष ब्रह्म की शरण प्राप्त हो जाने के वाद अव भला किस लौकिक-अलौकिक कामना का पूर्ण होना शेष रह जायगा ! सन्तमत में इसी दृष्टि से यह सिद्धान्त प्रमुख रूप से मान्य है।

योगचूडामणि उपनिषद्

योगचूडामणि उपनिषद् में प्राणायाम का अभ्यास बतलाते हुए कहा गया है कि योगी को चाहिए कि वह एकान्त में पद्मासन लगाकर अपने कल्याणमय शिवस्वरूप सद्गुरु को प्रणाम करे, फिर नासिका के अग्रभाग पर दृष्टि स्थिर करके प्राणायाम का अभ्यास आरम्भ करे –

वद्धपद्मासनो योगी नमस्कृत्य गुरुं शिवम्।
नासाग्रदृष्टिरेकाकी प्राणायामं समभ्यसेत् ॥

— योगचूडामण्युप० १०६

मण्डलब्राह्मणोपनिषद्

मण्डलब्राह्मणोपनिषद् में अष्टांगयोग का विवरण प्रस्तुत करते हुए यम-नियमादि के परिचय में गुरुभक्ति को पहला नियम बतलाया गया है –

गुरुभक्तिः सत्यमार्गानुरक्तिः सुखावगतवस्त्वनुभवश्च तद्वस्त्वनुभवेन तुष्टिर्निःसङ्गता एकान्तवासो मनोनिवृत्तिः फलानभिलाषो वैराग्यभावश्च नियमाः।

— मण्डलब्राह्मणोप० १।१

आगे कहा गया है कि जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति चाहनेवाला प्राणी जब निर्वृत्तिमार्ग पर पैर रखता है तो सर्वप्रथम संसार से पार उतारनेवाले सद्गुरु का आश्रय लेकर ही आगे की साधना सम्पन्न करके परिपक्व होता है –

स एव विमुक्त्यभिमुखो निवृत्तिमार्गप्रवृत्तः संसारतारणाय गुरुमाश्रित्य कामादि त्यक्त्वा ... ... परिपक्वो भवति।

— मण्डलब्राह्मणोप० २।४

उपनिषदों के उपर्युक्त प्रसंगों में आत्मतत्त्व के जिज्ञासु साधक के लिये सद्गुरु से हंसविद्या, घराविद्या, मृत्युतारक, परानाम आदि शब्दों द्वारा कहा जानेवाला योगसाधना अथवा भक्ति का बीजमन्त्र प्राप्त करने, शुद्ध हृदय से उनकी सेवा करने तथा उनका कृपापात्र बनने की अनिवार्य आवश्यकता सुस्पष्ट है जो सन्तमत का मान्य आधारस्तम्भ है।

आत्मतत्त्व के जिज्ञासु के लिये सद्गुरु की अनिवार्य आवश्यकता तथा सद्गुरु-कृपा का लेशमात्र प्राप्त हो जाने से क्या लाभ होता है इसका सुविस्तृत उपदेश अब हम त्रिपाद्विभूतिमहानारायण उपनिषद् के निम्नलिखित विस्तृत प्रसंग में देखेंगें।

त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोपनिषद्

परमतत्त्व का रहस्य जानने की इच्छा से ब्रह्माने विष्णु से उनकी स्तुति करते हुए विनयपूर्वक पूछा – भगवन्, परमतत्त्व का रहस्य बतलाने की कृपा करें।

विष्णु ने कहा – ब्रह्मन्, सावधान होकर सुनो।

देवदर्शी नामक आथर्वण शाखा के अन्तर्गत परमतत्त्वरहस्य नामक आथर्वण महानारायण उपनिषद् का परमप्राचीन गुरु-शिष्य-संवाद प्रसिद्ध है जिसे जानकर बहुत से लोग ब्रह्मभाव को प्राप्त हो चुके हैं। वह गुरु-शिष्य-संवाद इस प्रकार है।

शान्त, इन्द्रियों को वश में किए हुए, अतिविरक्त, गुरुभक्त, तपोनिष्ठ शिष्य ने ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाकर, उनकी प्रदक्षिणा करके दण्डवत् प्रणाम करके हाथ जोड़कर विनयपूर्वक कहा – हे गुरु भगवान्, मुझे परमतत्त्व का रहस्य बतलाने की कृपा करें।

– त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० पूर्वकाण्ड अध्याय १

उत्तर में ब्रह्म, माया, जीव, जगत् आदि के स्वरूपों का विस्तृत वर्णन पूरा होने के बाद शिष्य पूछता है – भगवन्, एक बार जब अविद्या सब तरह से नष्ट हो जाती है तो फिर पुनः उसका उदय कैसे हो जाता है ?

– उत्तरकाण्ड

गुरु बोले – वर्षाकाल के आरम्भ में जैसे मेंढक प्रकट हो जाते हैं इसी प्रकार सब तरह से नष्ट हुई अविद्या भी उन्मेषकाल में पुनः प्रकट हो जाती है।

शिष्य ने पूछा – भगवन्, जीवों में यह अनादि संसार का भ्रम क्यों है तथा यह भ्रम कैसे मिट सकता है ? मोक्ष का स्वरूप क्या है, मोक्ष का साधन तथा उसे पाने का उपाय क्या है, सायुज्य मुक्ति क्या है, आदि सब विस्तार से बतलाने की कृपा करें।

गुरु बोले – अनन्त जन्मों में अभ्यस्त, अतिशय महान्, एक से एक बढ़कर विचित्र, अनेक प्रकार के अनन्त दुष्कर्मों के विशेष कोटि के वासनाजाल में फँसे रहने के कारण देह और आत्मा अलग-अलग हैं, यह ज्ञान नहीं हो पाता। इसी कारण देह ही आत्मा है, यह भ्रम अत्यन्त दृढ हो जाता है। मैं मूर्ख हूँ, मैं अल्पज्ञ हूँ, मैं जीव हूँ, मैं बहुत दुखी हूँ, मैं शुरू से ऐसा ही संसारी हूँ – इस भ्रम की वासना के कारण संसार में प्रवृत्ति बढ़ती ही जाती है, उससे छुटकारे का कोई उपाय कभी प्राप्त नहीं होता। वास्तव में मिथ्या स्वप्नतुल्य विषयभोगों का अनुभव कर-करके अनेक प्रकार के असंख्य, अतिदुर्लभ मनोरथों के सफल होने की आशा करता हुआ यह जीव सदा अतृप्त होकर सब ओर भाग-दौड़ में लगा रहता है। अनेक प्रकार की विचित्र, स्थूल-सूक्ष्म, भली-बुरी, ऊँची-नीची अनन्त देहों को धारण करके, उन-उन देहों से किए गए एक से एक विचित्र शुभाशुभ प्रारब्ध कर्मों का अनुभव करके, उन-उन कर्मों के फल की वासनाओं से वासित अन्तःकरणवाले जीवों की बार-बार उन्हीं कर्मों के फलों में और उन्हीं विषयों में चाह बढ़ती जाती है। संसार से छूटने के

मार्ग में चलने की इच्छा कभी नहीं होती। संसार के विषय में अनादिकाल से चले आ रहे विपरीत भ्रम के कारण बुरा ही भला तथा भला ही बुरा प्रतीत होता है। इस कारण सभी जीव अपने इच्छित विषय को सुख या दुःख समझते रहते हैं। सच तो यह है कि सर्वथा बाधारहित ब्रह्मानन्द का स्वरूप न जानने के कारण उसे पाने की इच्छा ही नहीं होती क्योंकि अज्ञान की प्रबलता के कारण, बन्धन कैसे हुआ और मोक्ष कैसे होगा, इसका विचार उत्पन्न ही नहीं होता।

शिष्य – यह अज्ञान की प्रवलता क्यों होती है ?

गुरु – भक्ति, ज्ञान और वैराग्य की वासना की कमी के कारण।

शिष्य – यह कमी क्यों होती है ?

गुरु – अन्तःकरण की विशेष प्रकार की अतिशय मलिनता के कारण।

शिष्य – तव संसार को पार करने का उपाय क्या है ?

गुरु – सद्गुरु इसी का तो उपदेश करते हैं।

सम्पूर्ण वेद-शास्त्रों के सिद्धान्तों के रहस्य का ज्ञान और पूर्वजन्मों में किए गए अतिशय उच्च कोटि के पुण्यों का फल मिलने का समय आने पर सन्तों का संग सुलभ हो जाता है। तव भले-वुरे कर्मों का ज्ञान और भले काम करने में रुचि उत्पन्न होतीं है। सदाचार से सम्पूर्ण पापों का क्षय हो जाता है। इससे अन्तःकरण विल्कुल शुद्ध हो जाता है। तव कहीं जाकर वह अन्तःकरण सद्गुरु के लेशमात्र कृपाकटाक्ष की कामना करता है।

सद्गुरु का लेशमात्र कृपाकटाक्ष पड़ते ही सम्पूर्ण सिद्धियाँ सफल हो जाती हैं। सव वन्धन निर्मूल हो जाते हैं। कल्याणप्राप्ति में पड़नेवाले सभी विघ्नों का विनाश हो जाता है। सभी कल्याण स्वयं ही आ जाते हैं। जैसे जन्म के अन्धे व्यक्ति को किसी रूप का ज्ञान नहीं हो सकता इसी प्रकार सद्गुरु के उपदेश के विना करोड़ों कल्पों में भी तत्त्वज्ञान नहीं हो सकता। सद्गुरु के कृपाकटाक्ष का लेशमात्र पड़ने से शीघ्र ही तत्त्वज्ञान हो जाता है।

जब सद्गुरु का कृपाकटाक्ष प्राप्त हो जाता है तो भगवान् की कथा सुनने तथा उनका ध्यान आदि करने में श्रद्धा उत्पन्न होती है। उससे हृदय में अनादि काल से जमी दुर्वासना की गाँठ का नाश हो जाता है। तब हृदय में स्थित सम्पूर्ण काम विनष्ट हो जाते हैं। तब हृदयकमल की कर्णिका में परमात्मा प्रकट हो जाता है।

तब विष्णु के प्रति भक्ति दृढ हो जाती है। तब वैराग्य का उदय होता है। वैराग्य से बुद्धि का विज्ञान प्रकट होता है। अभ्यास से क्रमशः वह ज्ञान परिपक्व होता है। विज्ञान के परिपक्व होने से जीव जीवन्मुक्त हो जाता है। इसके बाद सभी शुभाशुभ कर्म अपनी वासनाओं सहित नष्ट हो जाते हैं। तब अत्यन्त दृढ शुद्ध सात्त्विक वासना से भक्ति अत्यधिक वृद्धि को प्राप्त होती है। भक्ति की अतिशय वृद्धि से सभी अवस्थाओं में नारायण सर्वमय दिखाई पड़ने लगते हैं। सारे जगत् नारायणमय भासित होते हैं। नारायण से भिन्न कहीं कुछ भी नहीं है, ऐसा जानकर उपासक सर्वत्र विहार करता है। निरन्तर समाधिमग्न रहने से सर्वत्र सभी अवस्थाओं में सभी रूप और आकार जगदीश्वर के आकार के भासित होते हैं।

— त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप०, उत्तरखण्ड अध्याय ५

इसके बाद शिष्य पूछता है कि भगवन्, सालम्ब और निरालम्बयोग क्या है, इनका क्या स्वरूप है ? उत्तर में गुरु ने दोनों योगों का विस्तृत परिचय देने के बाद कहा कि इन दोनो योगों की साधना के लिये उपयुक्त अधिकारी का होना आवश्यक है अतः सभी लोगों के लिये, वे चाहे अधिकारी हों या अनधिकारी, भक्तियोग ही श्रेष्ठ साधन है। उसमें कोई उपद्रव नहीं है। भक्तियोग से मुक्ति प्राप्त हो जाती है। जो बुद्धिमान् हैं उन्हें थोड़े श्रम से ही तत्त्वज्ञान हो जाता है। भक्तवत्सल परमात्मा स्वयं सभी प्रकार के मोक्षविघ्नों से भक्तों की रक्षा करते हैं, सब मनोरथ पूर्ण करते हैं, मोक्ष भी देते हैं। ब्रह्मा-विष्णु-महेश आदि को भी विना विष्णु (सगुण ब्रह्म, प्रत्यक्ष नारायण सद्गुरु) की भक्ति के करोड़ों कल्पों में भी मोक्ष प्राप्त नहीं हो सकता। कारण के विना कार्य नहीं होता। ऐसे ही भक्ति के विना ब्रह्मज्ञान कदापि नहीं हो सकता। इसलिये तुम भी सब उपायों को छोड़कर भक्ति का आश्रय लो, भक्तिनिष्ठ हो जाओ, भक्ति में स्थिर हो जाओ। भक्ति से सभी सिद्धियाँ सफल हो जाती हैं। भक्ति से कुछ असाध्य नहीं है।

गुरु का यह उपदेश सुनकर परमतत्त्व का सम्पूर्ण रहस्य जानकर, सभी संशयों का नाश करके शीघ्र ही 'मोक्ष पाने के लिये साधना करूँगा' ऐसा निश्चय करके शिष्य उठकर गुरु की प्रदक्षिणा, दण्डवत् प्रणाम तथा पूजा करके भक्तिनिष्ठ होकर भक्ति की अतिशयता से परिपक्व विज्ञान प्राप्त कर बिना परिश्रम के शीघ्र ही साक्षात् नारायण हो गया।

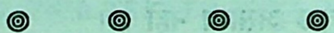
विद्वान् पाठकों के सन्तोष के लिये उपर्युक्त कथन के आधारभूत उपनिषद् के वचन अविकल उद्धृत किए जाते हैं।

यहाँ ध्यान रखना चाहिए कि महाविष्णु को परमतत्त्वज्ञ कहा गया है और वे परमतत्त्वरहस्य के जिज्ञासु प्रश्नकर्ता परमेष्ठी (ब्रह्मा) से कह रहे हैं कि मैं तुझे परमतत्त्व का रहस्य बतला रहा हूँ – 'परमतत्त्वरहस्यं ते कथयामि'। परमतत्त्वरहस्य का ज्ञाता होना तथा उस रहस्य के उपदेश के लिये अधिकृत होना, यही तो सद्गुरु का लक्षण है। यदि कोई कहे कि देवदत्त खेत जोत रहा है, तो उसके बिना कहे ही हम समझ लेते हैं कि देवदत्त किसान है। अतः यहाँ हमें नामों की रूढ़ि मात्र से प्रभावित न होकर महाविष्णु को सद्गुरु तथा ब्रह्मा को जिज्ञासु अथवा शिष्य ही समझना चाहिए –

अथ परमतत्त्वरहस्यं जिज्ञासुः परमेष्ठी अत्युग्रतीव्रतपसा प्रसन्नं भगवन्तं महाविष्णुं परिपृच्छति भगवन् परमतत्त्वरहस्यं मे ब्रूहीति।



परमतत्त्वज्ञस्तमुवाच महाविष्णुरतिप्रसन्नो भूत्वा साधु साध्विति सर्वं परमतत्त्वरहस्यं ते कथयामि सावधानेन शृणु। ब्रह्मन् देवदर्शीत्याख्याथर्वणशाखायां परमतत्त्वरहस्याख्याथर्वणमहानारायणोपनिषदि गुरुशिष्यसंवादः पुरातनः प्रसिद्धतया जागर्ति। पुरा तत्स्वरूपज्ञानेन महान्तः सर्वे ब्रह्मभावं गताः। यस्य श्रवणेन सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति। यस्य ज्ञानेन सर्वरहस्यं विदितं भवति। तत्स्वरूपं कथमिति। शान्तो दान्तोऽतिविरक्तः सुशुद्धो गुरुभक्तस्तपोनिष्ठः शिष्यो ब्रह्मनिष्ठं गुरुमासाद्य प्रदक्षिणपूर्वकं दण्डवत् प्रणम्य प्राञ्जलिर्भूत्वा विनयेनोपसंगम्य भगवन् गुरो मे परमतत्त्वरहस्यं विविच्य वक्तव्यमिति। हर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति।



अथ शिष्यो वदति गुरुं भगवन्तं नमस्कृत्य भगवन् सर्वात्मना नष्टाया अविद्यायाः पुनरुदयः कथम्। सत्यमेवेति गुरुरिति होवाच। प्रावृट्कालप्रारम्भे यथा मण्डूकादीनां प्रादुर्भावस्तद्वत् सर्वात्मना नष्टाया अविद्याया उन्मेषकाले पुनरुदयो भवति।

भगवन् कथं जीवानामनादिसंसारभ्रमः। तन्निवृत्तिर्वा कथमिति। कथं मोक्षमार्गस्वरूपं च। मोक्षसाधनं कथमिति। को वा मोक्षोपायः।

कीदृशं मोक्षस्वरूपम्। का वा सायुज्यमुक्तिः। एतत् सर्वं तत्त्वतः कथनीयमिति।

अत्यादरपूर्वकमतिहर्षेण शिष्यं बहूकृत्य गुरुर्वदति श्रूयतां सावधानेन। कुत्सितानन्तजन्माभ्यस्तात्यन्तोत्कृष्टविविधविचित्रानन्तदुष्कर्मवासनाजालविशेषैर्देहात्मविवेको न जायते। तस्मादेव दृढतरदेहात्मभ्रमो भवति। अहमज्ञः किंचिज्ज्ञोऽहमहं जीवोऽहमत्यन्तदुःखाकारोऽहमनादिसंसारीति भ्रमवासना-बलात् संसार एव प्रवृत्तिस्तन्निवृत्त्युपायः कदापि न विद्यते। मिथ्याभूतान् स्वप्नतुल्यान् विषयभोगाननुभूय विविधानसंख्यानतिदुर्लभान् मनोरथाननवरतमाशास्यमानः अतृप्तः सदा परिधावति। विविधविचित्रस्थूलसूक्ष्मोत्कृष्टनिकृष्टाननन्तदेहान् परिगृह्य तत्तद्देहविहितविविधविचित्राऽनेकशुभाशुभप्रारब्धकर्माण्यनुभूय तत्तत्कर्मफलवासनाजालवासितान्तःकरणानां पुनःपुनस्तत्कर्मफलविषयप्रवृत्तिरेव जायते। संसारनिवृत्तिमार्गप्रवृत्तिः कदापि न जायते। तस्मादनिष्टमेवेष्टमिव भाति। इष्टमेवाऽनिष्टमिव भात्यनादिसंसारविपरीतभ्रमात्। तस्मात् सर्वेषां जीवानामिष्टविषये बुद्धिः सुखबुद्धिर्दुःखबुद्धिश्च भवति। परमार्थतस्त्वबाधितब्रह्मसुखविषये प्रवृत्तिरेव न जायते। तत्स्वरूपज्ञानाभावात्। तत् किमिति न विद्यते। कथं बन्धः कथं मोक्ष इति विचाराभावाच्च। तत् कथमिति। अज्ञानप्राबल्यात्। कस्मादज्ञानप्राबल्यमिति। भक्तिज्ञानवैराग्यवासनाभावाच्च। तदभावः कथमिति। अत्यन्तान्तःकरणमलिनविशेषात्। अतः संसारतरणोपायः कथमिति। देशिकस्तमेव कथयति।

सकलवेदशास्त्रसिद्धान्तरहस्यजन्माभ्यस्तात्यन्तोत्कृष्टसुकृतपरिपाकवशात् सद्भिः सङ्गो जायते। तस्माद् विधिनिषेधविवेको भवति। ततः सदाचारप्रवृत्तिर्जायते। सदाचारादखिलदुरितक्षयो भवति। तस्मादन्तःकरणमतिविमलं भवति। ततः सद्गुरुकटाक्षमन्तःकरणमाकाङ्क्षति। तस्मात् सद्गुरु-कटाक्षलेशविशेषेण सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति। सर्वबन्धाः प्रविनश्यन्ति। श्रेयोविघ्नाः सर्वे प्रलयं यान्ति। सर्वाणि श्रेयांसि स्वयमेवायान्ति। यथा जात्यन्धस्य रूपज्ञानं न विद्यते तथा गुरूपदेशेन विना कल्पकोटिभिस्तत्त्वज्ञानं न विद्यते। तस्मात् सद्गुरुकटाक्षलेशविशेषेणाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति।

यदा सद्गुरुकटाक्षो भवति तदा भगवत्कथाश्रवणध्यानादौ श्रद्धा जायते। तस्माद्धृदयस्थितानादिदुर्वासनाग्रन्थिर्विनाशो भवति। ततो हृदयस्थिताः कामाः सर्वे विनश्यन्ति। तस्माद्धृदयपुण्डरीककर्णिकायां परमात्माविर्भावो भवति। ततो दृढतरा वैष्णवी भक्तिर्जायते। ततो वैराग्यमुदेति। वैराग्याद् बुद्धिविज्ञानाविर्भावो भवति। अभ्यासात् तज्ज्ञानं क्रमेण परिपक्वं भवति। पक्वविज्ञानाज्जीवन्मुक्तो भवति। ततः शुभाशुभकर्माणि सर्वाणि सवासनानि नश्यन्ति। ततो दृढतर-शुद्धसात्त्विकवासनया भक्त्यतिशयो भवति। भक्त्यतिशयेन नारायणः सर्वमयः सर्वावस्थासु विभाति। सर्वाणि जगन्ति नारायणमयानि प्रविभान्ति। नारायणव्यतिरिक्तं न किंचिदस्ति। इत्येतद् बुद्ध्वा विहरत्युपासकः सर्वत्र। निरन्तरसमाधिपरम्पराभिर्जगदीश्वराकाराः सर्वत्र सर्वावस्थासु प्रविभान्ति।

— त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० उत्तरखण्ड, अध्याय ५

◎ ◎ ◎ ◎

ततः शिष्यो गुरुं परिपृच्छति। भगवन्त्सालम्बनिरालम्बयोगौ कथमिति ब्रूहीति। सालम्बस्तु समस्तकर्मातिदूरतया करचरणादिमूर्तिविशिष्टं मण्डलाद्यालम्बनं सालम्बयोगः। निरालम्बस्तु समस्तनामरूपकर्मातिदूरतया सर्वकामाद्यन्तःकरणवृत्तिसाक्षितया तदालम्बनशून्यतया च भावनं निरालम्बयोगः। अथ च निरालम्बयोगाधिकारी कीदृशो भवति। अमानित्वादिलक्षणोपलक्षितो यः पुरुषः स एव निरालम्बयोगाधिकारी कार्यः कश्चिदस्ति। तस्मात् सर्वेषामधिकारिणां भक्तियोग एव प्रशस्यते। भक्तियोगो निरुपद्रवः। भक्तियोगान्मुक्तिः। बुद्धिमतामनायासेनाचिरादेव तत्त्वज्ञानं भवति। तत् कथमिति। भक्तवत्सलः स्वयमेव सर्वेभ्यो मोक्षविघ्नेभ्यो भक्तिनिष्ठान् सर्वान् परिपालयति। सर्वाभीष्टान् प्रयच्छति। मोक्षं दापयति। चतुर्मुखादीनां सर्वेषामपि विना विष्णुभक्त्या कल्पकोटिभि-र्मोक्षो न विद्यते। कारणेन विना कार्यं नोदेति। भक्त्या विना ब्रह्मज्ञानं कदापि न जायते। तस्मात् त्वमपि सर्वोपायान् परित्यज्य भक्तिमाश्रय। भक्तिनिष्ठो भव। भक्तिनिष्ठो भव। भक्त्या सर्वसिद्धयः सिद्ध्यन्ति। भक्त्याऽसाध्यं न किंचिदस्ति। एवंविधं गुरूदेशमाकर्ण्य सर्वं

परमतत्त्वरहस्यमववुध्य सर्वसंशयान् विधूय क्षिप्रमेव मोक्षं साधयामीति निश्चित्य ततः शिष्यः समुत्थाय प्रदक्षिणनमस्कारं कृत्वा गुरुभ्यो गुरुपूजां विधाय गुर्वनुज्ञया क्रमेण भक्तिनिष्ठो भूत्वा भक्त्यतिशयेन पक्वं विज्ञानं प्राप्य तस्मादनायासेन शिष्यः साक्षान्नारायणो बभूवेत्युपनिषत्।

— त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० उत्तरखण्ड, अध्याय ८

इसी उपनिषद् में इस प्रकार सद्गुरु से उपदेश प्राप्त कर की गई उपासना की पूर्णता का लाभ वतलाते हुए कहा गया है कि इसके पश्चात् उपासक द्वैत की तरंगों से रहित अपार निरतिशय सच्चिदानन्द का समुद्र हो जाता है। जो इस मार्ग से भलीभाँति ठीक-ठीक आचरण करता है वह अवश्य ही नारायण ही हो जाता है। इसी मार्ग से मुनियों ने सिद्धि प्राप्त की है और असंख्य परमयोगी सिद्धि प्राप्त कर चुके हैं --

तत उपासको निस्तरङ्गद्वैतापारनिरतिशयसच्चिदानन्दसमुद्रो वभूव। यस्त्वनेन मार्गेण सम्यगाचरति स नारायणो भवत्यसंशयमेव। अनेन मार्गेण सर्वे मुनयः सिद्धिं गताः। असंख्याताः परमयोगिनश्च सिद्धिं गताः।

सद्गुरुस्वरूप महाविष्णु शिष्यस्वरूप ब्रह्मा से कहते हैं कि मेरा उपासक सर्वोत्कृष्ट हो जाता है। मेरी उपासना से सभी मंगल प्राप्त हो जाते हैं। मेरी उपासना से उपासक सव कुछ जीत लेता है। मेरा उपासक सबका वन्दनीय हो जाता है। मेरे उपासक के लिये कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता। सभी वन्धन समूल विनष्ट हो जाते हैं। सदाचार की भाँति देवता उसकी सेवा करते हैं। सब वड़े से वड़े कल्याण उसकी सेवा करते हैं। इसलिये मेरा उपासक निरतिशय-अद्वैत-परमानन्दस्वरूप परव्रह्म हो जाता है। जो मुमुक्षु इस मार्ग से सम्यक् आचरण करता है वह परमानन्दस्वरूपवाला परव्रह्म हो जाता है —

महाविष्णुः प्रोवाच मदुपासकः सर्वोत्कृष्टः स भवति। मदुपासनया सर्वमङ्गलानि भवन्ति। मदुपासनया सर्वं जयति। मदुपासकः सर्ववन्द्यो भवति। मदीयोपासकस्यासाध्यं न किंचिदस्ति। सर्वे वन्धाः प्रविनश्यन्ति। सद्वृत्तमिव सर्वे देवास्तं सेवन्ते। महाश्रेयांसि च सेवन्ते। मदुपासक-स्तस्मान्निरतिशयाद्वैतपरमानन्दलक्षणं परव्रह्म भवति। यो वै मुमुक्षुरनेन मार्गेण सम्यगाचरति स परमानन्दलक्षणं परव्रह्म भवति।

— त्रिपाद्विभूतिमहानारायणोप० उत्तरखण्ड, अध्याय ८

उपनिषद् के उपर्युक्त प्रसंगों को देखने-विचारने पर यह सुस्पष्ट हो जाता है कि अपने शरीर के भीतर विराजमान परमात्मा के साक्षात्कार की आध्यात्मिक साधना तभी सफल हो सकती है जब वह तत्त्वज्ञानी सन्त-सद्गुरु से पराविद्या का, भक्ति का बीजमन्त्र (नाम) प्राप्त करके उनके निर्देश के अनुसार सम्पन्न की जाय। साधना से सम्बन्धित ग्रन्थों को पढ़कर या अनधिकारी गुरुओं का शिष्यत्व स्वीकार करके प्रारम्भ की गई मनमुखी साधनाओं से साधक को न तो लौकिक लाभ प्राप्त हो पाता न पारमार्थिक लाभ ही मिल सकता।

दूसरी वात यह भी समझ में आती है कि सद्गुरु से प्राप्त तथा उनके द्वारा निर्दिष्ट साधना में पूरी सफलता प्राप्त करनेवाला साधक हम-आप जैसा मनुष्य ही साक्षात् नारायण, प्रत्यक्ष ब्रह्म हो जाता है। कल तक सामान्य मनुष्य था, आज प्रत्यक्ष ब्रह्म हो गया। सद्गुरु ऐसे पारस हैं जो अनादिकाल से मलिनता में डूबे जीव को स्पर्श कर उसे पारस ही वना देते हैं, सद्गुरु ही वना देते हैं, जैसा कि अन्य अनेक श्रुतिवाक्यों से पहले भी समर्थित हो चुका है।

इसका अर्थ यह हुआ कि ऐसे महापुरुषो का दर्शन, अर्चन, वन्दन, उससे वार्तालाप, उसकी सेवा, उसका तिरस्कार आदि सभी कार्य साक्षात् नारायण, प्रत्यक्ष ब्रह्म के प्रति किए गए ही माने जाने चाहिए। ऐसे सन्त-सद्गुरु के अतिरिक्त ब्रह्म का कोई अंन्य स्वरूप मनुष्य के सामने, उसको प्राप्त है ही नहीं। नैमित्तिक अवतारों राम-कृष्ण आदि के चित्रों, अथवा पत्थर या धातु की मूर्तियों की पूजा-अर्चा, स्मरण-ध्यान से अभीष्ट फल नहीं प्राप्त हो सकता, यह आध्यात्मिक ग्रन्थों के वचनों से भी सिद्ध किया जा चुका है। तर्कों से भी यही सिद्ध होता है तथा अनुभव भी यही प्रमाणित करता है। दीपक के चित्र से प्रकाश की आशा व्यर्थ है।

तभी तो सन्त तुलसीदास तत्त्वज्ञानी महापुरुषों, सन्त-सद्गुरुओं की सेवा-पूजा का फल तत्काल प्राप्त होने की घोषणा करते हैं। नानापुराणनिगमागम-सम्मत रामचरितमानस में सन्तसमाजरूपी प्रयाग में स्नान का फल वतलाते हुए वे कहते हैं —

मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक वकहु मराला ॥

ऐसे ब्रह्मस्वरूप साधुजनों के तिरस्कार का फल भी वे शिवजी के मुँह से कहलाते हैं —

साधु अवग्या तुरत भवानी। कर कल्यान अखिल कै हानी ॥

सन्तजन ऐसे तीर्थराज हैं जो शहर-शहर, गाँव-गाँव भ्रमण करते हैं, प्रयोजन यही है कि लोग स्नान करें, लाभ उठावें। सन्तों ने हमारी ढूँढ़-खोज का श्रम बचाया, दूरी कम की, हमारी यात्रा का श्रम बचाया, किन्तु स्नान तो हमें ही करना है। बिना हमारे किए नहीं होगा।

सन्तजन सुख-दुःख के भोग में तो प्रारब्ध को कारण मानते हैं पर अध्यात्म-साधना की प्रवृत्ति, प्रगति तथा उसकी सफलता आदि में प्रारब्ध को नहीं, बल्कि पुरुषार्थ को ही प्रधान हेतु मानते हैं जो सद्गुरु की कृपा से सफल होता है।

यहाँ पुरुषार्थ शब्द का यह भाव नहीं है कि 'मैं उसे अपनी योग्यता अथवा अपनी शक्ति के बल पर प्राप्त कर लूँगा'। पुरुषार्थ करने का भाव है परमार्थ-पथ पर पैर रखना – विषयों में दोषदृष्टि रखकर उनसे विरक्त होना, सद्गुरु की कृपा या दया प्राप्त करने की पात्रता अर्जित करने का प्रयास करना, उनकी सेवा करना, उनके चरणों में सर्वस्व समर्पित करने के लिये सदा तत्पर रहना, उनके निर्देशानुसार उपासना में लगे रहना। ईश्वर प्राणी की सहायता तभी करता है जब वह भी उनकी कृपा प्राप्त करने को सचेष्ट रहता है, सहयोग करता है। सन्त तुलसीदास कहते हैं –

जौ एहि पंथ चलै मन लाई। तौ हरि काहें न होहिं सहाई ॥

मठ गड़वाघाट आश्रम के द्वितीय पीठाधीश्वर स्वामिवर्य कहते थे – बूढ़ा बैल कमजोर होकर गिर गया हो तो गाँव के दस आदमी जुटेंगे, उसे उठा देंगे, पर खड़ा होने के लिये पैर तो बैल को ही रोपने पड़ेंगे। अन्यथा लोग कबतक उसे टाँगे रहेंगे, छोड़कर चल देंगे।

अध्यात्म की ओर गतिशील होने में हमारे मन की रुझान हो तो बड़ी शुभ बात है पर यदि ऐसा न हो तो हमें साम-दाम-दण्ड-भेद किसी का भी प्रयोग कर मन की निरंकुशता समाप्त करनी चाहिए और उसे सद्गुरु के निर्देशानुसार उपासना में प्रवृत्त करना चाहिए। हम आग के जितना पास जाते हैं उतना ही अधिक हमें ताप का अनुभव होता है वैसे ही दया के अवतार करूणावतार सद्गुरु से हम, शारीरिक या मानसिक रूप से जितना अधिक समीप का सम्बन्ध स्थापित करेंगे, जितना अधिक उनके पास जायेंगे, उतना ही अधिक हमें दया का अनुभव होगा। अपने मन को विषयों के दलदल से बचाते हुए बलपूर्वक सद्गुरु के चरणों में स्थिर करने का प्रयास ही हमारा पुरुषार्थ है और इसमें ढील न देना हमारा ही उत्तर-दायित्व है।

१०

सन्तमत की इस मान्यता का दर्शन हमें उपनिषद् के इस पूर्ववर्णित उद्घोष में देखने को मिलता है कि भाई, अन्तिम साँस टूटने से पहले, इस देह के रहते, इसी जन्म में, यदि अहर्निश उद्योग करके आत्मज्ञान प्राप्त कर लिया तब तो सब ठीक ही ठीक है, किन्तु यदि शरीर छोड़ने से पहले आत्मज्ञान प्राप्त न कर पाए तो महाविनाश ही समझो। क्या ठिकाना, फिर कहाँ किस योनि में जन्म प्राप्त हो, मनुष्य योनि प्राप्त भी हो जाय तो सद्गुरु की प्राप्ति हो, न हो! —

इह चेदवेदीदथ सत्यमस्ति नो चेदिहावेदीन् महती विनष्टिः।

— केनोप० २।१३

जाहिर है, यह मन्त्र हमें अनवरत उपासना के लिये कमर कस लेने के लिये उद्बोधित कर रहा है, प्रारब्ध के भरोसे हाथ पर हाथ रखे बैठे रहने के लिये नहीं। सन्त कबीर कहते हैं —

हम तो बचिगे साहेब दया तें सबद डोर गहि उतरे पार।

नामरूपी डोरी का एक छोर जो सद्गुरु नें हमें पकड़ा दिया है उसे हम न छोड़ें तो भवसागर में चाहे जितनी भयानक बाढ़ हो, वह चाहे जितना गहरा हो, हमें कोई डर नहीं है, हम पूर्णतया सन्मार्ग पर हैं, पूर्ण सुरक्षित हैं। किन्तु वह शब्दडोर हमने छोड़ दी तो अब हमारे सन्मार्ग पर रहने का कोई भरोसा नहीं, हम अरक्षित हो गए, अब इस भवसागर की विषम बाढ़ में हमारा भटक जाना सुनिश्चित है। यह शब्दडोर को पकड़े रहना, दृढतापूर्वक नामस्मरण करते रहना ही हमारा पुरुषार्थ है, यह हमारा ही उत्तरदायित्व है, हमें ही करना है। हमें ही रस्सी को कसकर पकड़े रहना होगा, रस्सी भला हमें कैसे पकड़ेगी ?

ऊपर इसी उपनिषद् में सद्गुरुस्वरूप महाविष्णु का कथन है कि मेरे द्वारा उपदिष्ट विधि से अर्थात् अपने तत्त्वदर्शी सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट विधि से दीक्षित होकर उनकी उपासना करनेवाला पुरुष संसार में सर्वोत्कृष्ट हो जाता है, उसे सब प्रकार के मंगल प्राप्त हो जाते हैं, वह सबको जीत लेता है, सबका वन्दनीय हो जाता है, उसके लिये संसार में कुछ भी असाध्य नहीं रह जाता, उसके सभी बन्धन नष्ट हो जाते हैं, सभी देवता उसकी सेवा करते हैं, बड़े से बड़े कल्याण उसका सेवन करते हैं, अधिक क्या कहें, वह निरतिशय-अद्वैत-परमानन्दस्वरूप, द्वैत-तरंगों की हलचल से रहित सच्चिदानन्द-समुद्र, प्रत्यक्ष ब्रह्म ही हो जाता है।

ऐसी महत्ता को प्राप्त किसी पुरुष की हम कल्पना करें। कैसा होगा

वह ? क्या नंगा, भूखा, जटाएँ बढ़ाए, रक्तहीन सूखी देहवाला, काँटों पर लेटा हुआ, वर्षा-शीत-ताप आदि की कठोरता झेलता हुआ, आश्रयविहीन, भीख माँगता दिखाई पड़ेगा ? नहीं, यह तो साधक अवस्था का स्वरूप हो सकता है, सिद्धावस्था का कदापि नहीं। साधक अवस्था में भी यह स्वरूप उन अनधिकारी, सामर्थ्यहीन ढोंगी गुरुओं द्वारा दीक्षित साधकों का हो सकता है जो लोभवश शिष्यों का धन तो खींच लेते हैं, उनका दुःख-दर्द दूर नहीं कर सकते और इस प्रकार अपने लिये नरक पहुँचने का कण्टकाकीर्ण मार्ग तैयार कर लेते हैं। सन्त तुलसीदास कहते हैं –

हरइ सिष्य धन सोक न हरई। सो गुरु घोर नरक महँ परई ॥

भक्तवत्सल, करुणावतार, तत्त्वदर्शी सद्गुरुदेव भला अपने सेवक को ऐसी विपन्न अवस्था में कैसे पड़ने देंगे, जबकि अपनी सेवा से विमुख, अपने स्वरूप से अपरिचित दीन-दुखी सामान्य जीवों के लिए भी उनके चित्त में अपार क्षोभ है –

अस प्रभु हृदयँ अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी ॥

प्रभुवर श्रीराम की तो घोषणा है –

जन कहुँ नहिं अदेय कछु मोरें ॥

पूर्ण सद्गुरु की सेवकों के प्रति करुणा का एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। वर्तमान मठ गड़वाघाट आश्रम के संस्थापक परमहंस श्री स्वामी आत्मविवेकानन्दजी के सद्गुरु पंजाब के द्वितीय परमहंस श्री स्वरूपानन्दजी महाराज ने एक बार भजन की महिमा के प्रसंग में कहा था कि यदि ऐसा समय आ जाए कि गेहूँ का एक दाना एक रुपये में बिकने लगे तो भी मेरे द्वारा दीक्षित व्यक्ति यदि भजन करता रहेगा तो नंगा-भूखा नहीं रहेगा। वे प्रायः एक अति संक्षिप्त सारगर्भित वाक्य कहा करते थे – 'गुरु याद आबाद है, भूला गुरु बर्बाद है।'

भक्ति प्राप्त हो जाने के बाद की दशा का चित्र तो कागभुशुण्डिजी का वह आश्रम है जहाँ के सरोवर में विभिन्न मणियों से सीढ़ियाँ निर्मित हैं। ऐसे महापुरुष के विषय में सन्त तुलसीदास कहते हैं कि वह इसी संसार में, यही देह रहते देव-दुर्लभ सुखों का उपभोग करता है –

सुर दुरलभ सुख करि जग माहीं। अंतकाल रघुबर पुर जाहीं ॥

'साधु-सन्त' शब्दों को सुनकर हमारे मन में जो चित्र उभरता है वह विकृत साधक अवस्था का होता है, क्योंकि हमारा ऐसे लोगों को ही साधु-सन्त

जानने-समझने का अभ्यास है, संस्कार है। उपर्युक्त कोटि के, सिद्धावस्था को प्राप्त साधु - सन्तों को हमने देखा ही कहाँ, कब देखा है ! वे संसार में कितने हैं ही ? ऐसा महापुरुष तो संसार में कहीं कोई एकाध होता है —

कहुँ कहुँ बृष्टि सारदी थोरी।
जिमि कोउ पाव भगति एक मोरी ॥

ऐसे महापुरुष की दुर्लभता का एक और चित्र देखें। कागभुशुण्डिजी शिवजी से कहते हैं —

नर सहस्र महँ सुनहु पुरारी। कोउ एक होइ धर्मव्रतधारी ॥
धर्मशील कोटिक महँ कोई। बिषय बिमुख बिरागरत होई ॥
कोटि बिरक्त मध्य श्रुति कहई। सम्यक ग्यान सकृत कोउ लहई ॥
ग्यानवंत कोटिक महँ कोऊ। जीवन्मुक्त सकृत जग सोऊ ॥
तिन सहस्र महुँ सब सुख खानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी ॥
धर्मसील बिरक्त अरु ग्यानी। जीवन्मुक्त ब्रह्मपर प्रानी ॥
सब तें सो दुरलभ सुरराया। राम भगति रत गत मद माया ॥

— ७ । ५४

भीड़ जो देखने को मिलती है वह सच्चे साधुओं की नहीं है, शुद्ध सन्तों की हो ही नहीं सकती। जिसका संख्या में एक मिलना भी कठिन है उसकी भीड़ कहाँ से मिलेगी। सन्त कबीर की उक्ति है —

सिंहों के लँहड़े नहीं, हंसों की नहिं पाँत।
लालों की नहिं बोरियाँ, साधु न चलें जमात ॥

इसीलिए विशुद्ध पूर्ण सन्त देखने को मिल भी जायँ तो हम उन्हें पहचान नहीं पाते। उन्हें देखकर हमारा मन नाना प्रकार के संशयों, वितर्कों से भर जाता है — ये कैसे साधु हैं, इन्हें साधु कौन कहेगा, इन्हें भला इतने बहुमूल्य वस्त्राभूषणों की क्या जरूरत है, ये तो पूरे भोगी प्रतीत होते हैं। इनके यहाँ न कोई धार्मिक आचार-विचार है, न जात-पाँत का विचार, — इस प्रकार अपनी प्रबल परम्पराओं तथा अपने बद्धमूल पूर्वाग्रहों से ग्रस्त होने के कारण हम उनके वास्तविक स्वरूप को नहीं पहचान पाते और उनसे विमुख होकर लौट आते हैं।

हमें पन्थों तथा सम्प्रदायों का नाम सुनकर एवं उन पन्थों, सम्प्रदायों के विशेष आचार-विचार, वेषभूषा देखकर सन्तुष्ट होने की आदत पड़ी हुई है, जबकि

विशुद्ध सन्त गुणातीत होने के कारण विधि-निषेध के चरखे से परे होते हैं, अतः उन्हें पहचान पाना हमारे बस के बाहर होता है।

सच तो यह है कि परब्रह्म के नित्य करुणावतार तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु उसे ही प्राप्त होते हैं जिसे वे स्वयं प्राप्त होना चाहते हैं, जिसकी निरन्तर निरभिमान निष्काम सेवा और दीनता देखकर वे द्रवीभूत हो जाते हैं। सन्त तुलसीदास कहते हैं –

ते तब मिलैं द्रवै जब सोई।

उपनिषद् का वचन है –

यमेवैष वृणुते तेन लभ्यः।

– कठोप० १।२।२३

– जिसका वह स्वयं वरण कर लेता है उसी के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है।

उनके द्वारा ले जाए जाने के अतिरिक्त कोई अन्य उपाय पहुँचने की चाह रखनेवाले के पास है ही कहाँ ? वह तो बेचारा जब से उनसे बिछुड़ा है, उस ओर पीठ ही रही है उसकी। अब तो इतना समय बीत गया है अलग हुए कि वह दिग्भ्रान्त हो गया है, सब कुछ भूल गया है। अब मिलना चाहे भी तो कहाँ किस ओर जाए, क्या करे। वहाँ पहुँचा हुआ कोई परमभाग्यशाली दिल की गहराई से किस खूबसूरती से यह सच्ची बात कह रहा है –

कहाँ अपनी ऐसी तलाश थी, कहाँ अपनी ऐसी थी जुस्तजू।
ये तेरे करम की ही बात है, तेरी बारगाह में आ गए॥

अद्वयतारकोपनिषद्

अद्वयतारकोपनिषद् में सन्तमत में स्वीकृत साधना-पद्धति ध्यान आदि का विस्तार से वर्णन किया गया है जिसके कुछ विशिष्ट स्थल निम्नलिखित हैं।

सद्गुरु से दीक्षाद्वारा प्राप्त होनेवाले नाम का ही पर्यायवाची शब्द है 'तारक'। इस नाम का अर्थ बतलाते हुए कहा गया है कि गर्भवास, वृद्धावस्था तथा मृत्यु से युक्त संसाररूपी महान् भय से सन्तरण करा देनेवाला होने के कारण इसे तारक कहा जाता है –

गर्भजन्मजरामरणसंसारमहद्भयात् संतारयति तस्मात् तारकमिति।

मन से युक्त होकर दृष्टि जब भीतर जाती है तब वह तारक को प्रकाशित कर देती है –

मनोयुक्तान्तर्दृष्टिस्तारकप्रकाशा भवति।

चित्स्वरूप अर्थात् बोधमय सद्गुरु का ध्यान करते हुए नेत्र बन्द करके अथवा अधखुले रखकर अन्तर्दृष्टि द्वारा भौंहों के मध्य ललाट के भीतर वर्तमान आकाश के ऊपर सच्चिदानन्द प्रकाशपुञ्जरूप परब्रह्म को देखता हुआ साधक उसी रूप का हो जाता है –

> चित्स्वरूपोऽहमिति सदा भावयन्सम्यङ्निमीलिताक्षः किञ्चिदुन्मीलिताक्षो वाऽन्तर्दृष्ट्या भ्रूदहरादुपरि सच्चिदानन्दतेजःकूटरूपं परंब्रह्मावलोकयँस्तद्रूपो भवति।

— अद्वयतारकोप०

वह ब्रह्म मन के सहयोगी नेत्र से भीतर पैठी हुई दृष्टि द्वारा देखा-जाना जाता है –

> तद् ब्रह्म मनःसहकारिचक्षुषाऽन्तर्दृष्ट्या वेद्यं भवति।

— वही

किन्तु इस प्रकार उस ब्रह्म के अन्तःसाक्षात्कार का मूल तत्त्वदर्शी सद्गुरु ही होते हैं अर्थात् ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु की मौज से, उनकी कृपा से ही ब्रह्म का साक्षात्कार मस्तक के भीतर सम्भव हो सकता है –

> तद्दर्शनं सदाचार्यमूलम्।

— वही

वेद (ज्ञान) से सम्पन्न, विष्णुभक्त, मत्सरता से रहित, योग का ज्ञाता, योग में स्थित, योगमयी आत्मावाला, पवित्र, गुरुभक्ति से युक्त तथा विशेष रूप से पुरुष को यानी सद्गुरु के तात्त्विक स्वरूप को जाननेवाला – इन लक्षणों से युक्त पुरुष को सद्गुरु कहा जाता है। 'गु' शब्द अन्धकार है और 'रु' शब्द उसका निरोधक है। इस प्रकार अन्धकार का निरोधक होने के कारण वैसे पुरुष को गुरु कहा जाता है। ऐसा गुरु ही परंब्रह्म है, गुरु ही परम गति है, गुरु ही परा विद्या हैं, गुरु ही सर्वश्रेष्ठ आश्रय हैं, गुरु ही अन्तिम सीमा हैं, गुरु ही परम धन हैं, यतः परब्रह्म परमात्मा के साक्षात्कार के लिए उनके नाम और रूप का उपदेश वे ही देते हैं अतः वे ही सबसे अधिक महान् हैं, उनसे बड़ा कोई भी नहीं है –

> आचार्यो वेदसम्पन्नो विष्णुभक्तो विमत्सरः।
> योगज्ञो योगनिष्ठश्च सदा योगात्मकः शुचिः॥

गुरुभक्तिसमायुक्तः पुरुषज्ञो विशेषतः।
एवंलक्षणसम्पन्नो गुरुरित्यभिधीयते॥
गुशब्दस्त्वन्धकारः स्याद् रुशब्दस्तन्निरोधकः।
अन्धकारनिरोधित्वाद् गुरुरित्यभिधीयते॥
गुरुरेव परं ब्रह्म गुरुरेव परा गतिः।
गुरुरेव परा विद्या गुरुरेव परायणम्॥
गुरुरेव परा काष्ठा गुरुरेव परं धनम्।
यस्मात् तदुपदेष्टाऽसौ तस्माद् गुरुतरो गुरुरिति॥

— वही

पैङ्गलोपनिषद्

पैङ्गलोपनिषद् में पैङ्गल की जिज्ञासा शान्त करते हुए याज्ञवल्क्य कहते हैं कि पूर्वकर्मों के फलपाकबश यह जीव भँवर में पड़े हुए कीड़े की तरह विश्राम नहीं ही प्राप्त कर पाता। सत्कर्मों के परिपाकवश बहुत जन्म बीत जाने पर मनुष्यों में मोक्ष प्राप्त करने की इच्छा उत्पन्न होती है। तब वह सद्गुरु की शरण ग्रहण करता है और बहुत समय तक उनकी सेवा करने पर कोई-कोई जीव बन्धनों से मुक्त हो पाता है —

प्राक्कर्मफलपाकेनावर्तान्तरकीटवद् विश्रान्तिं नैव गच्छति। सत्कर्मपरिपाकतो बहूनां जन्मनामन्ते नृणां मोक्षेच्छा जायते। तदा सद्गुरुमाश्रित्य चिरकालसेवया बन्धमोक्षं कश्चित् प्रयाति।

— पैङ्गलोप० २

महोपनिषद्

महोपनिषद् में तत्त्वदर्शी साधु के सद्गुणों तथा लक्षणों का उल्लेख करने के बाद स्पष्ट शब्दों में कहा गया है कि इस कोटि के तत्त्वदर्शी महापुरुष की ही ऋत, आत्मा, परंब्रह्म, सत्य इत्यादि संज्ञाएँ व्यवहार के लिए पण्डितों द्वारा बना ली गयी हैं अर्थात् इन सभी तथा इन जैसे इनके पर्यायवाची सभी शब्दों का अर्थ तत्त्वज्ञानी सन्त-सद्गुरु ही होता है —

ऋतमात्मा परं ब्रह्म सत्यमित्यादिका बुधैः।
कल्पिता व्यवहारार्थं यस्य संज्ञा महात्मनः॥

— महोप० ४।४५

मोक्ष या तत्त्वज्ञान की जहाँ भी चर्चा हुई है वहाँ सद्गुरु का महत्त्व पहले स्वीकार किया गया है। इसी उपनिषद् में महात्मा ऋभु का कथन है कि स्वयं का अनुभव, शास्त्र और सद्गुरु के उपदेशों की एकरूपता होने के बाद निरन्तर अभ्यास के द्वारा ही आत्मसाक्षात्कार हो सकता है –

स्वानुभूतेश्च शास्त्रस्य गुरोश्चैवैकवाक्यता।
यस्याभ्यासेन तेनात्मा सततं चावलोक्यते॥

— महोप० ४।५

यहाँ शास्त्रवचनों को प्रमाणरूप में इसलिये ग्रहण किया गया है जिससे गुरु बननेवाले अनधिकारी, अयोग्य व्यक्ति भोली-भाली जनता को अपने प्रभाव में लाकर उनका शोषण न कर सकें तथा शास्त्र के माध्यम से सच्चे साधु की पहचान में सहायता प्राप्त हो। स्वानुभव तो सर्वोपरि सबल प्रमाण है ही।

यहीं आगे कहा गया है – मैं कौन हूँ, यह संसार कैसे दिन-दूना रात-चौगुना फूल-फल रहा है, इत्यादि बातों पर प्रयत्न करके तत्त्वज्ञानी साधु पुरुषों के साथ विचार करना चाहिए। इसके बाद भले-बुरे का ज्ञान हो जाने पर बुरे कर्मों से बचना चाहिए, दुष्टों के साथ नहीं रहना चाहिए तथा सबका संहार करनेवाली मृत्यु की उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, 'मरना है' यह बात सदा याद रखनी चाहिए –

कोऽहं कथमिदं चेति संसारमलमाततम्।
प्रविचार्य प्रयत्नेन प्राज्ञेन सह साधुना॥
नाकर्मसु नियोक्तव्यं नानार्येण सहावसेत्।
द्रष्टव्यः सर्वसंहर्ता न मृत्युरवहेलया॥

— महोप० ४।२१-२२

भगवान् ऋभु तत्वज्ञानी महापुरुष का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि जैसे कोई इच्छा न करता हुआ रत्न एक जगह पड़ा रहता है तो भी उसकी ओर सारे संसार की प्रवृत्ति होती है ऐसे ही परमतत्त्व (सद्गुरु) के वर्तमान रहने मात्र से सब लोग उनकी ओर अनायास खिंचते रहते हैं। आत्मा में इसी तरह कर्तापन और अकर्तापन साथ ही रहता हैं – इच्छा न रहने के कारण अकर्तापन और समीप में स्थितिमात्र के कारण कर्तापन। ब्रह्म में ये दोनों धर्म इसी रूप में समझना चाहिए। हे मुनि निदाघ ! जिस महापुरुष में इस प्रकार का चमत्कार दिखाई दे उसकी शरण ग्रहण करके स्थिर हो जाओ –

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः ॥
अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने।
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः ॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत कर्तृताकर्तृते मुने।
यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव ॥

— महोप० ४।१३-१५

सन्तमत की साधना-प्रक्रिया को समझाने के लिए जैसे प्रसिद्ध भक्त कवि रसखान ने एक उदाहरण दिया पनिहारिन का —

रसखान गुबिंदहिं यों भजिए ज्यों नागरि को चित गागर में।

अथवा जैसे अभी पीछे सिर पर घड़ा रखे नर्तकी के उदाहरण का उल्लेख हुआ है वैसा ही एक उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जैसे सती-साध्वी स्त्री को जो अन्तःपुर प्राप्त हो जाता है उसके आँगन से बाहर वह कभी नहीं जाना चाहती, उसके भीतर ही अपने पति के साथ विहार करती हुई सन्तुष्ट और प्रसन्न रहती है इसी प्रकार जिस साधक की बुद्धि मस्तक के भीतर वर्तमान ब्रह्मपुर में ही अपने स्वामी सद्गुरु के साथ रमण करती हुई सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहती है ऐसे व्यक्ति में ही स्वरूपानन्द प्रदान करनेवाली जीवन्मुक्तता उदित होती है --

रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवान्तःपुराजिरे।
सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी ॥

— महोप० ४।३८

किन्तु इस प्रकार की बुद्धि बिना सत्संग के प्राप्त होना सम्भव नहीं है अतः कहा गया है कि शास्त्र के उपदेशानुसार देश-काल का विचार रखते हुए, जैसे सुख मिले, यथासम्भव सत्संग करते रहना चाहिए, यही क्रम है मोक्षमार्ग का। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि जब तक मन को विश्रान्ति प्राप्त न हो तब तक सत्संग द्वारा सद्विचार अर्जित करता रहे —

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम्।
यथासम्भवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम्।
तावद्विचारयेत् प्राज्ञो यावद् विश्रान्तिमात्मनि ॥

— महोप० ४।३६

ईश्वरवादी तथा जीववादी सब विचारक भ्रम में ही हैं अतः मोक्ष चाहने-वाले साधक को जीववाद और ईश्वरवाद के चक्कर में पड़कर तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। बल्कि बुद्धि को स्थिर करके ब्रह्मतत्त्व का ही विचार करना चाहिए अर्थात् सगुण साकार ब्रह्म के मूर्तिमान् स्वरूप सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई साधना-विधि से उपासना करनी चाहिए। सम्पूर्ण चराचर सृष्टि को जो ज्ञानमय परमात्मा का स्वरूप ही समझता है वही साक्षात् विज्ञानी, वही वास्तव में प्रत्यक्ष शिव है, वही विष्णु है, वही ब्रह्मा है। ऐसे सद्गुरु की करुणा के बिना साधक न तो विषयों का त्याग कर सकता, न उसे तत्त्व-साक्षात्कार हो सकता और न ही सहजावस्था प्राप्त हो सकती –

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम्॥
अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्।
स एव साक्षाद् विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

– महोप० ४।७५-७७

ईश्वर का अंश होने के कारण जीव में जो अपार शक्ति है उसका बोध जव सद्गुरु की कृपा से जाग जाता है अथवा अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परात्पर ब्रह्म के स्वरूप अपने सद्गुरु के असीम सामर्थ्य का उन्हीं की दया से बोध जागृत हो जाता है तव शिष्य अन्य सभी कार्यों का हृदय से त्याग कर देता है अर्थात् सव ओर से अपना मन बटोरकर अपने सद्गुरु की सेवा में, उन्हीं के ध्यान में निमग्न हो जाता है। ऐसे योगी में सहजावस्था, जीवन्मुक्ति की दशा स्वयं उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यदि अपने सद्गुरु तथा स्वयं के वीच थोड़ा भी अन्तर शिष्य के मन में आ जाय तो वह सव ओर से भयग्रस्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है –

उत्पन्नशक्तिवोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते॥
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः।
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः॥

– महोप० ४।७८-७९

सन्त तुलसीदास कहते हैं कि यह कलियुग पाप का समुद्र है जिसमें हम जैसे लोगों का मन मछली की तरह निवास कर रहा है। जैसे मछली को पानी से निकाल कर बाहर कर दें तो वह मर जाती है ऐसे ही हमें पाप से अलग कर दिया जाय तो हम प्राण त्याग देंगे। हमारा जीवन पापमय है –

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥

ऐसी स्थिति में हम अपने मन की एक-एक वासना को अपने बल पर मिटाने की बात सोच भी नहीं सकते। सद्गुरु से प्राप्त पराविद्या के उपदेश में ही यह शक्ति है कि वासना के स्रोत को वह धीरे-धीरे सुखा देता है। यदि शिष्य अपनी सम्पूर्ण योग्यता से, पूरे मनोयोग से, त्वरित गति से, प्रेमपूर्वक सद्गुरु की आज्ञा का पालन करें तो विगत करोड़ों जन्मों से बुना जाता हुआ वासनाओं का यह गहन ज़ाल आज, अभी, क्षण भर में छिन्न-भिन्न हो सकता है जिसे नष्ट कर पाना भावी अनन्त जन्मों में भी सम्भव नहीं जान पड़ता। सन्त तुलसीदास की उक्ति है –

बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अबहीं आजु।

क्योंकि उनके राम का स्वरूप वासना-जालरूपी मच्छरों की विनाशक हिम-राशि है –

बहु बासना मसक हिम रासिहिं।

– रा० च० मा० ७।३०

इस प्रकार जिस शिष्य का हृदय सम्पूर्ण वासनाओं से मुक्त हो चुका है, जिसकी व्यग्रता समाप्त हो चुकी है उसी को उपनिषद् प्रत्यक्ष परमेश्वर कहता है –

हृदयात् संपरित्यज्य सर्ववासनपंक्तयः।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥

– महोप० ६।८

इन सद्गुरुस्वरूप परमेश्वर का स्थान मनुष्य के शरीर में ललाट के भीतर उस सीध में है जहाँ हम चन्दन लगाते हैं। इसी स्थान को 'हृद्गुहा' कहते हैं और इस हृद्गुहा के भीतर सहस्रदल पद्म की कर्णिका में हंस पर विराजमान सद्गुरु ही हृद्गुहा के स्वामी हैं। उपनिषद् का कथन है कि उन हृद्गुहा के स्वामी सद्गुरु को छोड़कर जो लोग दूसरे देवी-देवताओं की पूजा के चक्कर में पड़े हैं वे मानो अपने हाथ पर रखे कौस्तुभ मणि को छोड़कर दूसरे रत्नों को पाने की इच्छा कर रहे हैं –

सन्त्यज्य हृद्‌गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभा :॥

— महोप० ६।२०

अपने सद्‌गुरुदेव को छोड़कर दूसरे अनेक देवी-देवताओं की पूजा में उलझे लोगों के प्रति सन्त पलटूसाहब की भी कुछ ऐसी ही दृष्टि है। वे कहते हैं कि जिस एक गाँव में दो हाकिम (अधिकारी) बसते हों वहाँ की प्रजा उजड़ जाती है, फिर जिस साधक के अन्तःकरण में दस देवता पूज्य बनकर बैठे हों वहाँ सुख-शान्ति कैसे रह सकती है ! —

पलटू जहँवाँ दो अमल, रैयत होत उजाड़।
जिस घर में दस देवता, क्योंकर बसै बजार॥

योगशिखोपनिषद्

योगशिखोपनिषद् में भी कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य की साँस में भीतर जाते समय 'हं' और बाहर आते समय 'सः' की ध्वनि अनायास होती रहती है अर्थात् जीव सदा हंसमन्त्र का अज्ञात भाव से जप करता रहता है। यही हंसमन्त्र सद्‌गुरु के मुख से निकले हुए वाक्य द्वारा जब ज्ञात रूप से विपरीत होकर सुषुम्णा में चला जाता है तब वही पश्चिम मार्ग में 'सः अहम्' (सोऽहं) अर्थात् 'वह मैं हूँ' यानी 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति बन जाता है —

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः॥
हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते।
गुरुवाक्यात् सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः॥
सोऽहंसोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते।
प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि॥

— योगशिखोप० १।१३०-३२

'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) यह वाक्य आध्यात्मिक उपलब्धि के स्तर को प्रकट करने का माध्यम है, प्रयास है, प्रतीकवाक्य है। यह मात्र साधक की अनुभूति है, कथन नहीं।

सगुण साकार ब्रह्मस्वरूप सन्त-सद्‌गुरु परमात्मा के नित्य करुणावतार होते हैं। शिष्य को जब उनके इस करुणामय स्वरूप और स्वभाव का बोध हो जाता

है तब वह उनकी कृपा, दया, निरतिशय परम उदारता तथा वत्सलता से अभिभूत हो जाता है, उनसे अनुरागपूर्ण घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और सहज भाव से उन्हीं के चिन्तन-ध्यान में लीन रहने लगता है। इसके अतिरिक्त फिर उसे कुछ अच्छा नहीं लगता। वह शारीरिक मानसिक रूप से पूर्णतया समर्पित हो जाता है। भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं –

उमा राम स्वभाव जिन जाना। तिनहिं भजन तजि भाव न आना ॥

सद्गुरु के स्वरूप और उनकी महिमा में डूबे हुए मनवाले शिष्य का 'अहम्' (मैं) सद्गुरु में ही विलीन हो जाता है, तब केवल अखण्ड एकरस अपने इष्ट ब्रह्मरूप सद्गुरु के अस्तित्व (होने) की ही अनुभूति रह जाती है। यही बोधमयता है, यही ब्रह्ममयता है, भक्ति की पराकाष्ठा है। बाहर-भीतर सद्गुरु के अतिरिक्त कहीं अवकाश ही नहीं रह जाता किसी अन्य प्रतीति के लिये। जब स्वयं के होने का ही भान नहीं रह गया तो अब कौन सा अनुभव शेष रह जायगा ! अब तो उस शिष्य के रूप में ब्रह्मरूप सद्गुरु ही बोलते हैं, देखते हैं, सुनते हैं – अब वह सद्गुरु ही हो चुका होता है। यही भ्रमरकीटन्याय से जीवन्मुक्ति का लाभ है।

यह है उस शिष्य की आन्तरिक अनुभूति जिसका एकमात्र वही साक्षी है। किन्तु अपने सद्गुरु की मौज से, जो अब उसकी ही मौज है, उसे लोककल्याण तो करना ही है, इसके लिए कुछ व्यवहार भी करना है, कुछ कहना है, कुछ सुनना है। किस हैसियत से वह यह सब करे ? अपने इष्टदेव के सेवक के रूप में, अपने सद्गुरु के शिष्य के रूप में ही उसके द्वारा सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार सम्पन्न होंगे। इससे भिन्न कोई अन्य स्वरूप व्यक्त कैसे हो सकता है ! कौन सा स्वरूप व्यक्त होगा, क्योंकि सारा उलट-फेर तो भीतर का है, परिवर्तन भीतर हुआ है, बाहर तो कुछ बदला नहीं।

मान लें, वह मौज में आकर कह ही दे कि 'मैं ब्रह्म हूँ', तो हम-आपमें से कौन मानेगा, किस आधार पर मानेगा। ऐसा कहनेवालों की तो हमने खाल उधेड़ ली है और जंगल में छोड़ दिया है तड़प-तड़पकर मरने के लिए। 'अनलहक' (अहं ब्रह्मास्मि) कहनेवाले प्रातःस्मरणीय सन्तों को, फकीरों को हमने सूली पर चढ़ाकर मार डाला है। क्या-क्या यातनाएँ नहीं दीं हमने उन्हें। इतिहास पढ़नेवाले इस तथ्य से परिचित हैं।

यदि ऐसा हुआ तब तो लोककल्याण का उद्देश्य ही समाप्त हो गया, लोक का तो महान् अमंगल हो गया। जहाँ साधु की अवज्ञा मात्र से सम्पूर्ण कल्याण जलकर

राख हो जाते हैं वहाँ साधु की ऐसी नृशंस हत्या का क्या परिणाम होगा ! संसार ने अनेक बार भोगा है।

ऐसे परमभाग्यशाली ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु के शिष्य की वास्तविक आन्तरिक स्थिति उसी की समझ में आ सकती है जो उसकी समकक्षता के आसपास हो अथवा वह स्वयं कृपा करके जिसे अपना वह स्वरूप समझा देना चाहे, दिखा देना चाहे।

इस प्रकार समझ में यही आता है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य मात्र अनुभूति का, आध्यात्मिक साधना की पूर्णता-प्राप्ति का परिचायक प्रतीक प्रयोग है, यह शिष्य के कहने-समझने या भूलने याद रखने की बात नहीं है, क्योंकि वस्तुतः ब्रह्मवेत्ता महापुरुष में 'अहं' का तो अभाव हो चुका होता है, केवल ब्रह्म ही रह जाता है। उसके सद्गुरुदेव का दिव्य तेजोमय तात्त्विक स्वरूप ही रह जाता है।

सन्तमत की मान्यता है कि तत्त्वदर्शी सद्गुरु से जिस जीव को परानाम का उपदेश प्राप्त हो जाता है वह साधनाभ्यास पूर्ण न होने पर भी शरीर छोड़ने के बाद नरकगामी नहीं होता तथा उसे कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि प्राप्त नहीं होती। वह मनुष्य-योनि में ही जन्म लेता है जहाँ उसे पुनः सद्गुरु की प्राप्ति होती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो जाती। गीता आदि के प्रमाणों तथा तर्कों के द्वारा पीछे इस तथ्य का समर्थन करने का प्रयास किया गया है। यहाँ योगशिखोपनिषद् में इस बात को काकमत संज्ञा देकर स्पष्ट शब्दों में सम्पुष्ट किया गया है।

योगसाधना में सफलता प्राप्त हुए बिना ही यदि शिष्य का शरीर छूट जाता है तो पूर्वजन्म की वासनावश उसे पुनः कर्मयोनि, मानवदेह ही प्राप्त होती है तथा पूर्वपुण्यों के फलस्वरूप उसे फिर सद्गुरु की संगति की प्राप्ति होती है और तब पश्चिम द्वार[1] मार्ग से उसे शीघ्र फल प्राप्त हो जाता है। यही काकमत कहा जाता

---

१. पश्चिममार्ग — जैसे दिग्विजय में चारों दिशाओं की विजय प्राप्त की जाती है वैसे ही आध्यात्मिक राज्य में भी पूर्णता-प्राप्ति के निमित्त चारों दिशाओं की यात्रा में पूर्णता प्राप्त की जाती है। आध्यात्मिक राज्य की यह यात्रा देह केही अन्दर अपनी चेतना के द्वारा पूर्ण होती है। पूर्व दिशा का मार्ग पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सन्धिस्थान तक है। यह सन्धिस्थान नासिका के ऊपरी छोर पर दोनों भौंहों के बीच में होता है। इस सन्धिस्थान के अर्थात् भ्रूमध्य के कुछ ऊपर विशुद्धविन्दु है। यह विशुद्धविन्दु

निरिच्छे संस्थिते रत्ने यथा लोकः प्रवर्तते।
सत्तामात्रे परे तत्त्वे तथैवायं जगद्गणः॥
अतश्चात्मनि कर्तृत्वमकर्तृत्वं च वै मुने।
निरिच्छत्वादकर्ताऽसौ कर्ता सन्निधिमात्रतः॥
ते द्वे ब्रह्मणि विन्देत कर्तृताकर्तृते मुने।
यत्रैवैष चमत्कारस्तमाश्रित्य स्थिरो भव॥

— महोप० ४।१३-१५

सन्तमत की साधना-प्रक्रिया को समझाने के लिए जैसे प्रसिद्ध भक्त कवि रसखान ने एक उदाहरण दिया पनिहारिन का —

रसखान गुविंदहिं यों भजिए ज्यों नागरि को चित गागर में।

अथवा जैसे अभी पीछे सिर पर घड़ा रखे नर्तकी के उदाहरण का उल्लेख हुआ है वैसा ही एक उत्तम उदाहरण प्रस्तुत करते हुए कहा गया है कि जैसे सती-साध्वी स्त्री को जो अन्तःपुर प्राप्त हो जाता है उसके आँगन से बाहर वह कभी नहीं जाना चाहती, उसके भीतर ही अपने पति के साथ विहार करती हुई सन्तुष्ट और प्रसन्न रहती है इसी प्रकार जिस साधक की बुद्धि मस्तक के भीतर वर्तमान ब्रह्मपुर में ही अपने स्वामी सद्गुरु के साथ रमण करती हुई सन्तुष्ट एवं प्रसन्न रहती है ऐसे व्यक्ति में ही स्वरूपानन्द प्रदान करनेवाली जीवन्मुक्तता उदित होती है —

रमते धीर्यथाप्राप्ते साध्वीवान्तःपुराजिरे।
सा जीवन्मुक्ततोदेति स्वरूपानन्ददायिनी॥

— महोप० ४।३८

किन्तु इस प्रकार की बुद्धि बिना सत्संग के प्राप्त होना सम्भव नहीं है अतः कहा गया है कि शास्त्र के उपदेशानुसार देश-काल का विचार रखते हुए, जैसे सुख मिले, यथासम्भव सत्संग करते रहना चाहिए, यही क्रम है मोक्षमार्ग का। बुद्धिमान् व्यक्ति को चाहिए कि जब तक मन को विश्रान्ति प्राप्त न हो तब तक सत्संग द्वारा सद्विचार अर्जित करता रहे —

यथाक्षणं यथाशास्त्रं यथादेशं यथासुखम्।
यथासम्भवसत्सङ्गमिमं मोक्षपथक्रमम्।
तावद्विचारयेत् प्राज्ञो यावद् विश्रान्तिमात्मनि॥

— महोप० ४।३९

ईश्वरवादी तथा जीववादी सब विचारक भ्रम में ही हैं अतः मोक्ष चाहने-वाले साधक को जीववाद और ईश्वरवाद के चक्कर में पड़कर तर्क-वितर्क नहीं करना चाहिए। बल्कि बुद्धि को स्थिर करके ब्रह्मतत्त्व का ही विचार करना चाहिए अर्थात् सगुण साकार ब्रह्म के मूर्तिमान् स्वरूप सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई साधना-विधि से उपासना करनी चाहिए। सम्पूर्ण चराचर सृष्टि को जो ज्ञानमय परमात्मा का स्वरूप ही समझता है वही साक्षात् विज्ञानी, वही वास्तव में प्रत्यक्ष शिव है, वही विष्णु है, वही ब्रह्मा है। ऐसे सद्गुरु की करुणा के बिना साधक न तो विषयों का त्याग कर सकता, न उसे तत्त्व-साक्षात्कार हो सकता और न ही सहजावस्था प्राप्त हो सकती –

तस्मान्मुमुक्षुभिर्नैव मतिर्जीवेशवादयोः।
कार्या किन्तु ब्रह्मतत्त्वं निश्चलेन विचार्यताम्॥
अविशेषेण सर्वं तु यः पश्यति चिदन्वयात्।
स एव साक्षाद् विज्ञानी स शिवः स हरिर्विधिः॥
दुर्लभो विषयत्यागो दुर्लभं तत्त्वदर्शनम्।
दुर्लभा सहजावस्था सद्गुरोः करुणां विना॥

– महोप० ४।७५-७७

ईश्वर का अंश होने के कारण जीव में जो अपार शक्ति है उसका बोध जब सद्गुरु की कृपा से जाग जाता है अथवा अनन्तकोटिब्रह्माण्डनायक परात्पर ब्रह्म के स्वरूप अपने सद्गुरु के असीम सामर्थ्य का उन्हीं की दया से बोध जागृत हो जाता है तब शिष्य अन्य सभी कार्यों का हृदय से त्याग कर देता है अर्थात् सब ओर से अपना मन बटोरकर अपने सद्गुरु की सेवा में, उन्हीं के ध्यान में निमग्न हो जाता है। ऐसे योगी में सहजावस्था, जीवन्मुक्ति की दशा स्वयं उत्पन्न हो जाती है। किन्तु यदि अपने सद्गुरु तथा स्वयं के बीच थोड़ा भी अन्तर शिष्य के मन में आ जाय तो वह सब ओर से भयग्रस्त हो जायगा, इसमें सन्देह नहीं है –

उत्पन्नशक्तिबोधस्य त्यक्तनिःशेषकर्मणः।
योगिनः सहजावस्था स्वयमेवोपजायते॥
यदा ह्येवैष एतस्मिन्नल्पमप्यन्तरं नरः।
विजानाति तदा तस्य भयं स्यान्नात्र संशयः॥

– महोप० ४।७८-७९

सन्त तुलसीदास कहते हैं कि यह कलियुग पाप का समुद्र है जिसमें हम जैसे लोगों का मन मछली की तरह निवास कर रहा है। जैसे मछली को पानी से निकाल कर बाहर कर दें तो वह मर जाती है ऐसे ही हमें पाप से अलग कर दिया जाय तो हम प्राण त्याग देंगे। हमारा जीवन पापमय है —

कलि केवल मल मूल मलीना। पाप पयोनिधि जन मन मीना ॥

ऐसी स्थिति में हम अपने मन की एक-एक वासना को अपने बल पर मिटाने की बात सोच भी नहीं सकते। सद्गुरु से प्राप्त पराविद्या के उपदेश में ही यह शक्ति है कि वासना के स्रोत को वह धीरे-धीरे सुखा देता है। यदि शिष्य अपनी सम्पूर्ण योग्यता से, पूरे मनोयोग से, त्वरित गति से, प्रेमपूर्वक सद्गुरु की आज्ञा का पालन करे तो विगत करोड़ों जन्मों से बुना जाता हुआ वासनाओं का यह गहन जाल आज, अभी, क्षण भर में छिन्न-भिन्न हो सकता है जिसे नष्ट कर पाना भावी अनन्त जन्मों में भी सम्भव नहीं जान पड़ता। सन्त तुलसीदास की उक्ति है —

बिगरी जन्म अनेक की सुधरै अवहीं आजु।

क्योंकि उनके राम का स्वरूप वासना-जालरूपी मच्छरों की विनाशक हिम-राशि है —

बहु बासना मसक हिम रासिहिं।

— रा० च० मा० ७।३०

इस प्रकार जिस शिष्य का हृदय सम्पूर्ण वासनाओं से मुक्त हो चुका है, जिसकी व्यग्रता समाप्त हो चुकी है उसी को उपनिषद् प्रत्यक्ष परमेश्वर कहता है —

हृदयात् संपरित्यज्य सर्ववासनपंक्तयः।
यस्तिष्ठति गतव्यग्रः स मुक्तः परमेश्वरः ॥

— महोप० ६।८

इन सद्गुरुस्वरूप परमेश्वर का स्थान मनुष्य के शरीर में ललाट के भीतर उस सीध में है जहाँ हम चन्दन लगाते हैं। इसी स्थान को 'हृद्गुहा' कहते हैं और इस हृद्गुहा के भीतर सहस्रदल पद्म की कर्णिका में हंस पर विराजमान सद्गुरु ही हृद्गुहा के स्वामी हैं। उपनिषद् का कथन है कि उन हृद्गुहा के स्वामी सद्गुरु को छोड़कर जो लोग दूसरे देवी-देवताओं की पूजा के चक्कर में पड़े हैं वे मानो अपने हाथ पर रखे कौस्तुभ मणि को छोड़कर दूसरे रत्नों को पाने की इच्छा कर रहे हैं —

सन्त्यज्य हृद्गुहेशानं देवमन्यं प्रयान्ति ये।
ते रत्नमभिवाञ्छन्ति त्यक्तहस्तस्थकौस्तुभा :॥

— महोप० ६।२०

अपने सद्गुरुदेव को छोड़कर दूसरे अनेक देवी-देवताओं की पूजा में उलझे लोगों के प्रति सन्त पलटूसाहब की भी कुछ ऐसी ही दृष्टि है। वे कहते हैं कि जिस एक गाँव में दो हाकिम (अधिकारी) बसते हों वहाँ की प्रजा उजड़ जाती है, फिर जिस साधक के अन्तःकरण में दस देवता पूज्य बनकर बैठे हों वहाँ सुख-शान्ति कैसे रह सकती है ! —

पलटू जहँवाँ दो अमल, रैयत होत उजाड़।
जिस घर में दस देवता, क्योंकर बसै बजार ॥

योगशिखोपनिषद्

योगशिखोपनिषद् में भी कहा गया है कि प्रत्येक मनुष्य की साँस में भीतर जाते समय 'हं' और बाहर आते समय 'सः' की ध्वनि अनायास होती रहती है अर्थात् जीव सदा हंसमन्त्र का अज्ञात भाव से जप करता रहता है। यही हंसमन्त्र सद्गुरु के मुख से निकले हुए वाक्य द्वारा जब ज्ञात रूप से विपरीत होकर सुषुम्णा में चला जाता है तब वही पश्चिम मार्ग में 'सः अहम्' (सोऽहं) अर्थात् 'वह मैं हूँ' यानी 'अहं ब्रह्मास्मि' की अनुभूति बन जाता है —

हकारेण बहिर्याति सकारेण विशेत् पुनः ॥
हंसहंसेति मन्त्रोऽयं सर्वैर्जीवैश्च जप्यते।
गुरुवाक्यात् सुषुम्णायां विपरीतो भवेज्जपः ॥
सोऽहंसोऽहमिति प्रोक्तो मन्त्रयोगः स उच्यते।
प्रतीतिर्मन्त्रयोगाच्च जायते पश्चिमे पथि ॥

— योगशिखोप० १।१३०-३२

'अहं ब्रह्मास्मि' (मैं ब्रह्म हूँ) यह वाक्य आध्यात्मिक उपलब्धि के स्तर को प्रकट करने का माध्यम है, प्रयास है, प्रतीकवाक्य है। यह मात्र साधक की अनुभूति है, कथन नहीं।

सगुण साकार ब्रह्मस्वरूप सन्त-सद्गुरु परमात्मा के नित्य करुणावतार होते हैं। शिष्य को जब उनके इस करुणामय स्वरूप और स्वभाव का बोध हो जाता

है तब वह उनकी कृपा, दया, निरतिशय परम उदारता तथा वत्सलता से अभिभूत हो जाता है, उनसे अनुरागपूर्ण घनिष्ठतम सम्बन्ध स्थापित कर लेता है और सहज भाव से उन्हीं के चिन्तन-ध्यान में लीन रहने लगता है। इसके अतिरिक्त फिर उसे कुछ अच्छा नहीं लगता। वह शारीरिक मानसिक रूप से पूर्णतया समर्पित हो जाता है। भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं —

उमा राम स्वभाव जिन जाना। तिनहिं भजन तजि भाव न आना॥

सद्गुरु के स्वरूप और उनकी महिमा में डूबे हुए मनवाले शिष्य का 'अहम्' (मैं) सद्गुरु में ही विलीन हो जाता है, तव केवल अखण्ड एकरस अपने इष्ट ब्रह्मरूप सद्गुरु के अस्तित्व (होने) की ही अनुभूति रह जाती है। यही बोधमयता है, यही ब्रह्ममयता है, भक्ति की पराकाष्ठा है। बाहर-भीतर सद्गुरु के अतिरिक्त कहीं अवकाश ही नहीं रह जाता किसी अन्य प्रतीति के लिये। जब स्वयं के होने का ही भान नहीं रह गया तो अव कौन सा अनुभव शेष रह जायगा ! अव तो उस शिष्य के रूप में ब्रह्मरूप सद्गुरु ही बोलते हैं, देखते हैं, सुनते हैं — अब वह सद्गुरु ही हो चुका होता है। यही भ्रमरकीटन्याय से जीवन्मुक्ति का लाभ है।

यह है उस शिष्य की आन्तरिक अनुभूति जिसका एकमात्र वही साक्षी है। किन्तु अपने सद्गुरु की मौज से, जो अब उसकी ही मौज है, उसे लोककल्याण तो करना ही है, इसके लिए कुछ व्यवहार भी करना है, कुछ कहना है, कुछ सुनना है। किस हैसियत से वह यह सब करे ? अपने इष्टदेव के सेवक के रूप में, अपने सद्गुरु के शिष्य के रूप में ही उसके द्वारा सम्पूर्ण बाह्य व्यवहार सम्पन्न होंगे। इससे भिन्न कोई अन्य स्वरूप व्यक्त कैसे हो सकता है ! कौन सा स्वरूप व्यक्त होगा, क्योंकि सारा उलट-फेर तो भीतर का है, परिवर्तन भीतर हुआ है, बाहर तो कुछ बदला नहीं।

मान लें, वह मौज में आकर कह ही दे कि 'मैं ब्रह्म हूँ', तो हम-आपमें से कौन मानेगा, किस आधार पर मानेगा। ऐसा कहनेवालों की तो हमने खाल उधेड़ ली है और जंगल में छोड़ दिया है तड़प-तड़पकर मरने के लिए। 'अनलहक' (अहं ब्रह्मास्मि) कहनेवाले प्रातःस्मरणीय सन्तों को, फकीरों को हमने सूली पर चढ़ाकर मार डाला है। क्या-क्या यातनाएँ नहीं दीं हमने उन्हें। इतिहास पढ़नेवाले इस तथ्य से परिचित हैं।

यदि ऐसा हुआ तब तो लोककल्याण का उद्देश्य ही समाप्त हो गया, लोक का तो महान् अमंगल हो गया। जहाँ साधु की अवज्ञा मात्र से सम्पूर्ण कल्याण जलकर

राख हो जाते हैं वहाँ साधु की ऐसी नृशंस हत्या का क्या परिणाम होगा ! संसार ने अनेक बार भोगा है।

ऐसे परमभाग्यशाली ब्रह्मस्वरूप सद्गुरु के शिष्य की वास्तविक आन्तरिक स्थिति उसी की समझ में आ सकती है जो उसकी समकक्षता के आसपास हो अथवा वह स्वयं कृपा करके जिसे अपना वह स्वरूप समझा देना चाहे, दिखा देना चाहे।

इस प्रकार समझ में यही आना है कि 'अहं ब्रह्मास्मि' महावाक्य मात्र अनुभूति का, आध्यात्मिक साधना की पूर्णता-प्राप्ति का परिचायक प्रतीक प्रयोग है, यह शिष्य के कहने-समझने या भूलने याद रखने की बात नहीं है, क्योंकि वस्तुतः ब्रह्मवेत्ता महापुरुष में 'अहं' का तो अभाव हो चुका होता है, केवल ब्रह्म ही रह जाता है। उसके सद्गुरुदेव का दिव्य तेजोमय तात्त्विक स्वरूप ही रह जाता है।

सन्तमत की मान्यता है कि तत्त्वदर्शी सद्गुरु से जिस जीव को परानाम का उपदेश प्राप्त हो जाता है वह साधनाभ्यास पूर्ण न होने पर भी शरीर छोड़ने के बाद नरकगामी नहीं होता तथा उसे कीट-पतंग, पशु-पक्षी आदि तिर्यग्योनि प्राप्त नहीं होती। वह मनुष्य-योनि में ही जन्म लेता है जहाँ उसे पुनः सद्गुरु की प्राप्ति होती है। यह क्रम तब तक चलता रहता है जब तक उसे मुक्ति नहीं प्राप्त हो जाती। गीता आदि के प्रमाणों तथा तर्कों के द्वारा पीछे इस तथ्य का समर्थन करने का प्रयास किया गया है। यहाँ योगशिखोपनिषद् में इस बात को काकमत संज्ञा देकर स्पष्ट शब्दों में सम्पुष्ट किया गया है।

योगसाधना में सफलता प्राप्त हुए बिना ही यदि शिष्य का शरीर छूट जाता है तो पूर्वजन्म की वासनावश उसे पुनः कर्मयोनि, मानवदेह ही प्राप्त होती है तथा पूर्वपुण्यों के फलस्वरूप उसे फिर सद्गुरु की संगति की प्राप्ति होती है और तब पश्चिम द्वार[1] मार्ग से उसे शीघ्र फल प्राप्त हो जाता है। यही काकमत कहा जाता

---

१. पश्चिममार्ग — जैसे दिग्विजय में चारों दिशाओं की विजय प्राप्त की जाती है वैसे ही आध्यात्मिक राज्य में भी पूर्णता-प्राप्ति के निमित्त चारों दिशाओं की यात्रा में पूर्णता प्राप्त की जाती है। आध्यात्मिक राज्य की यह यात्रा देह केही अन्दर अपनी चेतना के द्वारा पूर्ण होती है। पूर्व दिशा का मार्ग पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सन्धिस्थान तक है। यह सन्धिस्थान नासिका के ऊपरी छोर पर दोनों भौंहों के बीच में होता है। इस सन्धिस्थान के अर्थात् भ्रूमध्य के कुछ ऊपर विशुद्धविन्दु है। यह विशुद्धविन्दु

है। इस काकमत से बढ़कर श्रेष्ठ दूसरा कोई अभ्यास नहीं है, इसी से जीव को मुक्ति प्राप्त होती है, शिव का यह कथन अन्यथा नहीं हो सकता –

योगसिद्धिं विना देहः प्रमादाद् यदि नश्यति।
पूर्ववासनया युक्तः शरीरं चान्यदाप्नुयात्॥
ततः पुण्यवशात् सिद्धो गुरुणा सह संगतः।
पश्चिमद्वारमार्गेण जायते त्वरितं फलम्॥
पूर्वजन्मकृताभ्यासात् सत्वरं फलमश्नुते।
एतदेव हि विज्ञेयं तत् काकमतमुच्यते॥
नास्ति काकमतादन्यदभ्यासाख्यमतः परम्।
तेनैव प्राप्यते मुक्तिर्नान्यथा शिवभाषितम्॥

— योगशिखोप० – १।१४१ – ४४

मट गड़वाघाट आश्रम में मात्र छह, दस या बारह दिनों के बच्चों को गोद में लिए माताएँ दर्शन करने आतीं। वे दण्डवत् करने के बाद उस बच्चे का सिर सद्गुरुदेव के सामने कर देतीं। गुरुदेव धीरे से उसके कान में कुछ कहकर फूँक मार देते। यह सब देखकर हम छात्रों को बड़ा गड़बड़ मालूम होता। मन किसी

विशुद्ध ज्ञान (संकल्प-विकल्प से रहित ज्ञान) का प्रकाशक होने से ज्ञाननेत्र भी कहा जाता है। सन्त-सद्गुरु के शिष्य इसी विशुद्ध-विन्दु के स्थान पर अपने सद्गुरुदेव के स्वरूप का ध्यान करते हैं। यही विन्दुध्यान है – 'रूपं बिन्दुरिति ज्ञेयम्'। पूर्वमार्ग की यात्रा पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सन्धिस्थान अर्थात् भ्रूमध्य के भेदन के बाद विशुद्धविन्दु या ज्ञाननेत्र के भेदन तक होती है।

पिण्ड और ब्रह्माण्ड के सन्धिस्थान अर्थात् भ्रूमध्य और उससे थोड़ा ऊपर विशुद्धविन्दु का भेदन हो जाने पर ब्रह्माण्ड में प्रवेश के बाद महाशून्य तक की यात्रा पश्चिममार्ग की यात्रा कहलाती है।

पूर्वपथ में चेतना एकाग्र होकर सत्ता के मूल केन्द्र में पहुँचती है। इस पूर्वपथ में अन्तर्मुख चेतना द्रष्टा होती है और उसके सामने उन स्थानों के दृश्य रहते हैं। परन्तु पश्चिममार्ग की यात्रा में चेतना प्रत्याहार (दृश्य से लौटकर अपने आप में लीन होने) की स्थिति में आ जाती है। पश्चिमपथ में विश्वप्रपंच आत्मा में लीन हो जाता है और चेतना की ऊर्ध्वगति होती है। पश्चिममार्ग चेतना की ऊर्ध्वगति का मार्ग है जो भ्रूमध्य से महाशून्य तक फैला हुआ है।

तरह इस बात को सही मानने को तैयार न होता – नादान बच्चे को भला इससे क्या लाभ हो सकता है। होश सँभालने पर इसे स्मरण भी नहीं रहेगा। किन्तु ऐसा निरर्थक काम सन्त भला क्यों करेंगे, क्या औचित्य है इसका !

पूछने पर महात्मा-गण अपने शब्दों में जो कुछ समझाते थे उसका अक्षरशः अनुवाद यह है – मालिक देह को नहीं, जीव को उपदेश देते हैं। उन्हें देह का नहीं, जीव का उद्धार करना है। उपदेश पाए हुए जीव पर मालिक की मोहर लग गयी। होश सँभालेगा तो कोई याद धरा देगा। भजन नहीं करेगा तब भी मरने पर चौरासी में नहीं जायगा। भजन न करने के दण्ड में स्वर्ग मिलेगा। फिर आदमी का जन्म मिलेगा। फिर मालिक मिलेंगे – हर जन्म में, जब तक जीव मुक्त नहीं हो जायगा। मालिक की फूँक पड़ गयी, समझ लो अब वह जीव निबुक गया।

अब गीता-उपनिषद् पढ़ने पर विचार आता है कि उन अपढ़ महात्माओं ने कौन से उपनिषद् पढ़े होंगे !

योग की महिमा के प्रसंग में शंकर कहते हैं – जो मनुष्य सद्गुरु के बतलाए हुए पराविद्या के मूलमन्त्र को जानता है उसने सभी विद्याएँ पढ़ लीं, सब कुछ सुन लिया तथा सभी अनुष्टान पूरे कर लिए। अब उसे न कुछ पढ़ना है, न सुनना है, न कोई अनुष्टान करने की ही आवश्यकता है –

तेनाधीतं श्रुतं तेन तेन सर्वमनुष्ठितम्।
मूलमन्त्रं विजानाति यो विद्वान् गुरुदर्शितम्॥

– योगशिखोप० २ । ४

सद्गुरु जिस साधनापद्धति का उपदेश देते हैं उसके अनुसार अभ्यास करने पर परब्रह्म परमात्मा के स्थूल, सूक्ष्म और पर – ये तीनों शरीर सहसा ही प्रकाशित हो जाते हैं –

गुरूपदेशमार्गेण सहसैव प्रकाशते।
स्थूलं सूक्ष्मं परं चेति त्रिविधं ब्रह्मणो वपुः॥

– योगशिखोप० २ । १४

गुरु ही ब्रह्मा हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही भगवान् सदाशिव हैं, तीनों लोकों में गुरु से अधिक श्रेष्ट दूसरा कोई भी नहीं है। शिष्य को चाहिए कि दिव्य ज्ञान का उपदेश देनेवाले परमेश्वर सद्गुरु की परमश्रेष्ट भक्ति के साथ पूजा करे, तभी

उसका ज्ञान सफल होता है। जो प्रत्यक्ष वर्तमान सद्गुरुदेव हैं वे ही हमारे उपास्य परमात्मा हैं, जो हमारे उपास्य परमात्मा हैं वही प्रत्यक्ष वर्तमान सद्गुरुदेव हैं, इन दोनों में कोई भेद नहीं है अतः महाभक्ति से गुरुदेव की पूजा करनी चाहिए। अपने सद्गुरु से जीव और ब्रह्म की एकता की बात कभी नहीं करनी चाहिए, अपने अभीष्ट देव को अपने सद्गुरु में ही देखना चाहिए –

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवः सदाशिवः।
न गुरोरधिकः कश्चित् त्रिषु लोकेषु विद्यते॥
दिव्यज्ञानोपदेष्टारं देशिकं परमेश्वरम्।
पूजयेत् परया भक्त्या तस्य ज्ञानफलं भवेत्॥
यथा गुरुस्तथैवेशो यथैवेशस्तथा गुरुः।
पूजनीयो महाभक्त्या न भेदो विद्यतेऽनयोः॥
नाद्वैतवादं कुर्वीत गुरुणा सह कुत्रचित्।
अद्वैतं भावयेद् भक्त्या गुरोर्देवस्य चात्मनः॥

– योगशिखोप० ५।५६-५६

इसी के साथ कहा गया है कि जो बुद्धिमान् शिष्य सद्गुरु से प्राप्त होनेवाले इस योगशिखा, योगशीर्ष, यानी सर्वश्रेष्ठ, योगों के सिरमौर इस महागुप्त दुर्लभ योग को जानता है उसके लिए तीनों लोकों में कुछ भी अज्ञात नहीं रह जाता। न उसे कोई पुण्य-पाप लगता है, न वह अस्वस्थ होता, न उसे कोई दुःख होता, न उसकी कहीं पराजय होती और न ही इस संसार-चक्र में उसका पुनः आगमन होता। चित्त के चंचल होने के कारण यदि वह शिष्य सिद्धि में चित्त को न लगावे, तो उसे तत्त्वज्ञान अवश्य हो जाता है, फिर तो वह मुक्त ही है। इसमें कोई सन्देह नहीं है –

योगशिखां (योगशीर्षं) महागुह्यं यो जानाति महामतिः।
न तस्य किञ्चिदज्ञातं त्रिषु लोकेषु विद्यते॥
न पुण्यपापे नास्वस्थो न दुःखं न पराजयः।
न चास्ति पुनरावृत्तिरस्मिन् संसारमण्डले॥
सिद्धौ चित्तं न कुर्वीत चञ्चलत्वेन चेतसः।
तदा विज्ञाततत्त्वोऽसौ मुक्त एव न संशयः॥

– योगशिखोप० ५।६०-६२

 सर्वज्ञ, सर्वव्यापी, शान्त, सबके हृदय में विराजमान सच्चिदानन्द परमात्मा

गुरुमत (सद्गुरु से दीक्षा लेकर उनकी बतलायी विधि से निरन्तर उपासना करते रहने) से ही प्राप्त किया जा सकता है किन्तु जिसका चित्त गुरुमत से विमुख हो जाता है उसे परमात्मा का ज्ञान कभी नहीं हो सकता –

सर्वज्ञं सर्वगं शान्तं सर्वेषां हृदये स्थितम्।
सुसंवेद्यं गुरुमतात् सुदुर्बोधमचेतसाम्॥

– योगशिखोप० ३।२०

सुषुम्णारूपी आधार से ही विश्व उत्पन्न होता है तथा उसी में लीन हो जाता है। उस आधारस्वरूप सुषुम्णा तक जीव को केवल सद्गुरु ही पहुँचा सकते हैं, इसलिये सब तरह का प्रयत्न करके सद्गुरु के चरणों का ही आश्रय ग्रहण करना चाहिए –

केचिद् वदन्ति चाधारं सुषुम्ना च सरस्वती।
आधाराज्जायते विश्वं विश्वं तत्रैव लीयते॥
तस्मात् सर्वप्रयत्नेन गुरुपादं समाश्रयेत्।

– योगशिखोप० ६।२२-२३

सुषुम्णारूपी आधार के तेजोमय छोर पर बिजली की राशि के समान प्रकाशवाली कुण्डलिनी (गुरुदेव की भक्ति से जागी हुई सुरत) को जानकर मनुष्य पापों से मुक्त हो जाता है, किन्तु सद्गुरु यदि सेवक पर स्वयं सन्तुष्ट हो जायँ तो मुक्ति के प्राप्त हो जाने में कोई सन्देह नहीं है –

आधारं यो विजानाति तमसः परमश्नुते।
तस्य विज्ञानमात्रेण नरः पापैः प्रमुच्यते॥
आधारचक्रमहसा विद्युत्पुञ्जसमप्रभा।
तदा मुक्तिर्न सन्देहो यदि तुष्टः स्वयं गुरुः॥

– योगशिखोप० ६।२४-२६

जैसे लकड़ी के मध्य गुप्त रूप से वर्तमान अग्नि विना मन्थन के प्रकट नहीं होती उसी तरह योगाभ्यास के विना ज्ञानदीप प्रकाशित नहीं होता। जैसे घड़े के भीतर रखा दीपक वाहर प्रकाश नहीं करता किन्तु घड़ा फूट जाने पर वही दीपक चारों ओर प्रकाशित होने लगता है उसी प्रकार हमारा यह शरीर ही घड़ा है और जीव उसके भीतर की ज्योति है। सद्गुरु से प्राप्त परानाम में जव मन डूब जाता है तभी ब्रह्मज्ञान प्रकाशित हो उठता है। अतः गुरुरूपी कर्णधार और उनसे प्राप्त

उपदेशरूपी सुदृढ़ नौका प्राप्त करके अभ्यास में मन लीन हो जाने की शक्ति पाकर जीव भवसागर को पार कर जाते हैं –

यथाऽग्निर्दारुमध्यस्थो नोत्तिष्ठेन्मथनं विना।
विना चाभ्यासयोगेन ज्ञानदीपस्तथा नहि॥
घटमध्ये यथा दीपो बाह्ये नैव प्रकाशते।
भिन्ने तस्मिन् घटे चैव दीपज्वाला च भासते॥
स्वकायं घटमित्युक्तं यथा जीवो हि तत्पदम्।
गुरुवाक्यसमाभिन्ने ब्रह्मज्ञानं प्रकाशते॥
कर्णधारं गुरुं प्राप्य तद्वाक्यं प्लववद् दृढम्।
अभ्यासवासनाशक्त्या तरन्ति भवसागरम्॥

– योगशिखोप० ६। ७६-७९

संन्यासोपनिषद्

संन्यासोपनिषद् का मत है कि सभी पापों के समुदाय से यदि मनुष्य घिर जाय तो सद्गुरुप्रदत्त मन्त्र का बारह हजार जप करने से वे सभी पाप नष्ट हो जाते हैं तथा जो साधक सद्गुरु से प्राप्त परानाम का बारह हजार संख्या में प्रतिदिन जप करता है उसके हृदय में बारह महीनों में ही ब्रह्म प्रकाशित हो जाता है –

सर्वेषामेव पापानां सङ्घाते समुपस्थिते।
तारं द्वादशसाहस्रमभ्यसेच्छेदनं हि तत्॥
यस्तु द्वादशसाहस्रं प्रणवं जपतेऽन्वहम्।
तस्य द्वादशभिर्मासैः परं ब्रह्म प्रकाशते॥

– संन्यासोप० १०३-४

अन्नपूर्णोपनिषद्

अन्नपूर्णोपनिषद् में ब्रह्मवेत्ता महात्मा ऋभु का आत्मविद्या के विषय में प्रश्नोत्तर वर्णित है। वहाँ एक स्थान पर महात्मा ऋभु का कथन है कि सीमित भोजन करते हुए आसन पर दृढ़ता के साथ बैठकर सद्गुरु द्वारा बतलायी गयी युक्ति से प्राणायाम का दृढ़ अभ्यास करने पर प्राणवायु की हलचल मिट जाती है –

प्राणायामदृढाभ्यासैर्युक्त्या च गुरुदत्तया।
आसनाशनयोगेन प्राणस्पन्दो निरुध्यते॥

– अन्नपूर्णोप० ४। ८७

सद्गुरु द्वारा वतलायी गयी युक्ति के विना मन पर विजय पाना सम्भव नहीं है –

न शक्यते मनो जेतुं विना युक्तिमनिन्दिताम् ।

– वही ४ । ६०

जीव के वन्धन-मोक्ष, पाप-पुण्य, सुख-दुःख, सद्गति-दुर्गति आदि का हेतु यह मन ही है । मन विषयासक्त हो तो वन्धन प्रदान करता है, मन विषयों के चिन्तन से रहित हो जाय तो मुक्ति प्रदान कर देता है –

मन एव मनुष्याणां कारणं वन्धमोक्षयोः ।
वन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः ॥

आचार्य शंकर कहते हैं कि वायु ही मेघों को उड़ा लाता है तो आकाश में वादल छा जाते हैं और वही वायु जव मेघों को उड़ा ले जाता है तो आकाश स्वच्छ हो जाता है । इसी प्रकार वन्धन और मोक्ष दोनों मन के द्वारा ही कल्पित हैं –

वायुनाऽऽनीयते मेघः पुनस्तेनैव नीयते ।
मनसा कल्प्यते वन्धो मोक्षस्तेनैव कल्प्यते ॥

– विवेकचूडामणि

जन्म-जन्म से विगड़े इस मन पर अंकुश लगाना जितना आवश्यक है उतना ही कठिन भी है । अर्जुन कहते हैं कि यह मन अत्यन्त चंचल है, एक क्षण भी स्थिर नहीं रह सकता, कभी पूरी न होनेवाली कामनाओं में डूवा हुआ मन जीव को मथता रहता है, अतिशय शक्तिशाली है । इसे वश में करना उतना ही कठिन है जितना वायु को डिविया में वन्द कर रखना –

चञ्चलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि वलवद्दृढम् ।
तस्याहं निग्रहं मन्ये वायोरिव सुदुष्करम् ॥

– श्रीमद्भगवद्गीता ६ । ३४

सन्त-सद्गुरु की वतलायी युक्ति के विना मन पर नियन्त्रण करने का कोई अन्य उपाय नहीं है । सद्गुरुरूपी वैद्य के वचनों पर विश्वास करना और विषयों की आशा न करना, यही एक मात्र उपाय है रोगी मन को स्वस्थ करने का । सन्त तुलसीदास कहते हैं –

सद्गुरु वैद वचन विस्वासा । संजम यह न विषय कै आसा ॥
यहि विधि भलेहि कुरोग नसाहीं । नाहिं त कोटि जतन नहिं जाहीं ॥

मन को वश में करने के लिये सन्त-सद्गुरु द्वारा वतलायी जानेवाली युक्ति का स्वरूप एक प्रेताख्यान से स्पष्ट समझा जा सकता है जो इस प्रकार है — एक मनुष्य को एक प्रेत सिद्ध हो गया। प्रेत की शर्त यह थी कि तुम जव तक मुझे काम वतलाते रहोगे, मैं तुम्हारी सेवा करता रहूँगा। यदि तुमने काम न वतलाया तो मैं तुम्हें मारकर आजाद हो जाऊँगा, क्योंकि मैं विना कुछ किए स्थिर नहीं रह सकता।

आदमी ने प्रेत को वड़े से वड़े काम वतलाए जिन्हें सैकड़ों मनुष्य महीनों में भी पूरा न कर पावें पर प्रेत में तो अपार अतिमानवीय शक्ति थी, वह क्षण भर में काम पूरा कर दिखा देता और पूछता — अव क्या करूँ ? जव उस आदमी को कोई काम वतलाना न सूझा तो वह डरकर भाग खड़ा हुआ, प्रेत ने उसे दौड़ा लिया। भागते हुए जव वह मनुष्य एक साधु के पास से गुजरा तो साधु ने उसे अपने पास रोककर निर्भय किया और उसकी सारी व्यथा-कथा सुनकर कहा कि अव तुम इस प्रेत से कहकर जंगल से एक वहुत वड़ा पका वाँस मँगाओ, फिर उसे अपने ही आँगन में मजवूती से गड़वा लो, फिर उस प्रेत को आदेश दो कि तुम इस वाँस की फुनगी तक तव तक चढ़ते-उतरते रहो, जव तक मैं तुम्हें कोई दूसरा काम न वतलाऊँ।

इस युक्ति से उस मनुष्य की प्रेत से रक्षा हो गयी और वह उसी प्रेत से दुःख पाने की जगह सुख प्राप्त करने लगा।

मनरूपी प्रेत पर नियन्त्रण कर उससे काम लेने और सुख प्राप्त करने की ऐसी ही युक्ति तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु वतलाते हैं, और केवल वही वतला सकते हैं, अन्य कोई नहीं वतला सकता। यदि कोई अनधिकारचेष्टा कर किसी को वतलावे भी तो वह युक्ति कारगर नहीं होगी। इसी आशय से ऊपर कहा गया 'सद्गुरु प्रदत्त युक्ति के द्वारा।'

महात्मा ऋभु कहते हैं कि मूर्खता जव सक्रिय रहती है तव कर्म उत्पन्न होते हैं तथा मूर्खता जव शान्त रहती है उस समय कर्म नहीं उत्पन्न होते। बलपूर्वक शास्त्र के अर्थ और गुरु के स्वरूप का संगमन करके अर्थात् शास्त्र के आदेश के अनुसार सगुण साकार व्रह्म के प्रत्यक्ष स्वरूप सद्गुरु से उपदेश (दीक्षा) लेकर परानाम के जप, सद्गुरु के स्वरूप के स्मरण-चिन्तन-ध्यान तथा सद्गुरु की सेवा द्वारा कर्मों की इस परम्परा को विलीन कर दो —

मौर्ख्योन्मेषनिमेषाभ्यां कर्मणां प्रलयोदयौ।
तद् विलीनं कुरु बलाद् गुरुशास्त्रार्थसंगमैः॥

— अन्नपूर्णोप० ५।४२

उपनिषद् की फलश्रुति में भी यही बात है कि सद्गुरु के अनुग्रह से जो इस उपनिषद् को पढ़ता है, इसके अनुसार आचरण करता है वह जीवन्मुक्त होकर स्वयं ब्रह्म ही हो जाता है —

अन्नपूर्णोपनिषदं योऽधीते गुर्वनुग्रहात्।
स जीवन्मुक्ततां प्राप्य ब्रह्मैव भवति स्वयम्॥

— अन्नपूर्णोप० ५।१२०

आत्मोपनिषद्

आत्मोपनिषद् में कहा गया है कि जैसे बनावटी वेष उतार देने पर अभिनेता पुरुष का वास्तविक स्वरूप प्रत्यक्ष हो जाता है अथवा जैसे घड़ा टूट जाने पर घटाकाश महाकाश ही हो जाता है उसी प्रकार देहादिरूप उपाधि की प्रतीति से रहित जीवन्मुक्त पुरुष ही स्वयं सदा साक्षात् ब्रह्म है, इसके अतिरिक्त कहीं कोई ब्रह्म नहीं है —

शैलूषो वेषसद्भावाभावयोश्च यथा पुमान्॥
तथैव ब्रह्मविच्छ्रेष्ठः सदा ब्रह्मैव नापरः।
घटे नष्टे यथा व्योम व्योमैव भवति स्वयम्॥
तथैवोपाधिविलये ब्रह्मैव ब्रह्मवित् स्वयम्॥

— आत्मोप० २१ – २३

अवधूतोपनिषद्

अवधूतोपनिषद् में तत्त्वदर्शी भगवान् दत्तात्रेय और शिष्य सांकृति का प्रश्नोत्तर है। शिष्य ने पूछा कि भगवन्, अवधूत (तत्त्वज्ञानी) महापुरुष की मानसिक दशा कैसी होती है ? उत्तर में भगवान् दत्तात्रेय अवधूत का अनुभव और चिन्तन बतलाते हैं। विस्तृत वर्णन है। अन्त में वे कहते हैं — तत्त्वज्ञान हो जाने पर वह पुरुष सम्पूर्ण कृत्य समाप्त कर चुकने के कारण तथा परम प्राप्तव्य प्राप्त कर चुकने के कारण मन ही मन तृप्त होता हुआ निरन्तर ऐसा मानता है कि धन्य हूँ, धन्य हूँ मैं जो कि अपने नित्य आत्मा (आत्मस्वरूप सद्गुरु) को जान रहा हूँ। धन्य हूँ, धन्य हूँ मैं जो कि ब्रह्मानन्द मेरे सामने स्पष्ट रूप से प्रकाशित हैं।

धन्य हूँ, धन्य हूँ मैं कि मुझे अब कोई सांसारिक दुःख दिखाई नहीं पड़ता। धन्य हूँ, धन्य हूँ मैं कि मेरा अज्ञान न जाने कहाँ विलीन हो गया। धन्य हूँ, धन्य हूँ मैं कि अब मेरा कोई कर्तव्य बचा ही नहीं। धन्य हूँ, धन्य हूँ मैं कि जो सबसे बढ़कर पाने योग्य था वह सब मुझे मिल गया। धन्य हूँ, धन्य हूँ मैं कि अब भला मेरी तृप्ति की कौन सी उपमा है संसार में ! धन्य हूँ, धन्य हूँ, धन्य हूँ, मुझे बार-बार धन्य है। वाह, मेरे कैसे पुण्य फलित हो गए, कैसे फलित हो गए सम्पूर्ण पुण्य एक साथ! इस पुण्य की अधिकता का क्या कहना ! धन्य हैं हम, धन्य हैं हम। वाह, क्या ज्ञान है, क्या ज्ञान है। वाह, क्या सुख है, क्या सुख है। वाह, क्या शास्त्र है, क्या शास्त्र है (अध्यात्मशास्त्र में कैसी उत्तम दिव्य बातें बतलाई गई हैं)। वाह गुरु, वाह गुरु (आदि से अन्त तक जिनकी कृपा से मुझे यह सब कुछ प्राप्त हुआ) ! –

कृतकृत्यतया तृप्तः प्राप्तप्राप्यतया पुनः।
तृप्यन्नेवं स्वमनसा मन्यतेऽसौ निरन्तरम् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं नित्यं स्वात्मानमञ्जसा वेद्मि।
धन्योऽहं धन्योऽहं ब्रह्मानन्दो विभाति मे स्पष्टम् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं दुःखं सांसारिकं न वीक्षेऽद्य।
धन्योऽहं धन्योऽहं स्वस्याज्ञानं पलायितं क्वापि ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं कर्तव्यं मे न विद्यते किञ्चित्।
धन्योऽहं धन्योऽहं प्राप्तव्यं सर्वमत्र सम्पन्नम् ॥
धन्योऽहं धन्योऽहं तृप्तेर्मे कोपमा भवेल्लोके।
धन्योऽहं धन्योऽहं धन्यो धन्यः पुनः पुनर्धन्यः ॥
अहो पुण्यमहो पुण्यं फलितं फलितं दृढम्।
अस्य पुण्यस्य सम्पत्तेरहो वयमहो वयम् ॥
अहो ज्ञानमहो ज्ञानमहो सुखमहो सुखम्।
अहो शास्त्रमहो शास्त्रमहो गुरुरहो गुरुः ॥

— अवधूतोप० २६-३२

वास्तव में आत्मसाक्षात्कार का दिव्य अनुभव अनिर्वचनीय, कल्पनातीत, अतिशय आश्चर्यों से भरा होता है। तभी तो श्रीकृष्ण कहते हैं –

आश्चर्यवत् पश्यति कश्चिदेन-
माश्चर्यवद् वदति तथैव चान्यः।

आश्चर्यवच्चैनमन्यः श्रृणोति
श्रुत्वाप्येनं वेद न चैव कश्चित् ॥

— श्रीमद्भगवद्गीता २ । २९

— कोई एकाध महापुरुष ही इस आत्मा को आश्चर्य की भाँति देखता है और वैसे ही दूसरा कोई महापुरुष ही इसके तत्त्व का अथवा इसकी विचित्रता का आश्चर्य की भाँति वर्णन करता है तथा दूसरा कोई अधिकारी पुरुष ही इसे आश्चर्य की भाँति सुनता है और कोई-कोई तो सुनकर भी इसको नहीं जान पाता। भाव यह कि इस आत्मतत्त्व के द्रष्टा, वक्ता तथा श्रोता सव परम दुर्लभ हैं।

कठरुद्रोपनिषद्

सन्त-दरवार में प्रचारित है कि संचित, प्रारव्ध और क्रियमाण कर्मों में से जीव के क्रियमाण कर्म दीक्षा देने के साथ ही सद्गुरु ले लेते हैं। संचित और प्रारव्ध का भोग सद्गुरु वड़ी सरलता से यथाशीघ्र पूरा करा देते हैं और इस प्रकार जीव कर्मों के चक्र में पड़ने से वच जाता है। दुर्घटनाएँ तो अवश्य घटती देखी जाती हैं पर सद्गुरु की कृपा से उनका संभावित प्रतिकूल प्रभाव पड़ते नहीं देखा जाता। इस भावना को कठरुद्रोपनिषद् में अत्यन्त संक्षेप में इस प्रकार व्यक्त किया गया है — अपने सद्गुरु के उपदेश से जो ऐसा (पूर्वोक्त ब्रह्मानन्द का) अनुभव करता है वह सर्वसमर्थ पुरुष अच्छे-वुरे कर्मों से कभी सन्तप्त नहीं होता, उनसे कभी प्रभावित नहीं होता —

एवं यस्तु विजानति स्वगुरोरुपदेशतः।
स साध्वसाधुकर्मभ्यां सदा न तपति प्रभुः ॥

— कठरुद्रोप० ३५

भावनोपनिषद्

भावनोपनिषद् का प्रथम वचन है — 'ओम् श्रीगुरुः सर्वकारणभूता शक्तिः', अथवा पाठान्तर — 'ऊँ श्रीगुरुः परमकारणम्' अर्थात् स्थूल से स्थूल और सूक्ष्म से सूक्ष्म सम्पूर्ण दृश्य-अदृश्य जड़-चेतन के विस्तार और उपसंहार का मूल कारण श्री सद्गुरु की शक्ति है, अथवा श्रीसद्गुरु ही सवके आदि और अन्तिम कारण हैं।

रुद्रहृदयोपनिषद्

रुद्रहृदयोपनिषद् में पराविद्या द्वारा जाने गए व्रह्म का स्वरूप वतलाते हुए

कहा गया है कि ज्ञान से ही संसार का यानी संसार से प्राप्त होनेवाले दोषों का, जन्म-मरण का विनाश होता है, कर्म से नहीं। अतः उस पराविद्या का ज्ञान प्राप्त करने के लिये अपने सद्गुरु की (श्रोत्रिय=श्रुतिधर – अपने सद्गुरु का उपदेश सुनकर जिसने उसे धारण कर लिया हो, उसकी) शरण में विधिपूर्वक जाना चाहिए, तव सद्गुरु उस शिष्य को आत्मज्ञान करानेवाली विद्या प्रदान करेंगे। गुहा में अर्थात् मस्तक के भीतर के गुप्त आकाश-कमलगृह में विराजमान अक्षरब्रह्म को मनुष्य यदि जान लेता है तो अविद्या की महाग्रन्थि को काटकर सनातन शिव को प्राप्त हो जाता है। यही अमृत है, यही सत्य है, मोक्ष चाहनेवालों को इसका ही जान लेना परम आवश्यक है। धनुष है सद्गुरु से प्राप्त नाम, अपना आत्मा वाण है और निशाना है ब्रह्म। सदा जागरूक रहकर सावधानी से लक्ष्यवेध करना चाहिए। धनुष से छूटा हुआ वाण जैसे बिना एक क्षण भी कहीं रुके, निशाने की सीध में पूरे वेग से लगातार एकरस चला जाता है इसी प्रकार शिष्य को सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई साधना-विधि में तल्लीन हो जाना चाहिए –

ज्ञानेनैव हि संसारविनाशो नैव कर्मणा।
श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठं स्वगुरुं गच्छेद् यथाविधि॥
गुरुस्तस्मै परां विद्यां दद्याद् ब्रह्मप्रवोधिनीम्।
गुहायां निहितं साक्षादक्षरं वेद चेन्नरः॥
छित्त्वाऽविद्यामहाग्रन्थिं शिवं गच्छेत् सनातनम्।
तदेतदमृतं सत्यं तद् बोद्धव्यं मुमुक्षुभिः॥
धनुस्तारं शरो ह्यात्मा ब्रह्म तल्लक्ष्यमुच्यते।
अप्रमत्तेन वेद्धव्यं शरवत् तन्मयो भवेत्॥

– रुद्रहृदयोप० ३५-३८

इसी में आगे कहा गया है कि अपने शरीर के भीतर विराजमान स्वयंज्योतिःस्वरूप, सबके साक्षी परमात्मा का वे ही अन्तःसाक्षात्कार कर सकते हैं जिनके दोष क्षीण हो चुके हों, दूसरे वे लोग नहीं, जो माया से घिरे रहते हैं। जिस परमयोगी को इस प्रकार का स्वरूपज्ञान हो जाता है उस पूर्ण स्वरूपवाले को अव कहीं जाने की कोई आवश्यकता नहीं रह जाती। जैसे एक का एक, सम्पूर्ण आकाश कहीं नहीं जाता इसी प्रकार अपने आत्मा (सद्गुरुदेव) के यथार्थ स्वरूप को जाननेवाला फिर कहीं नहीं आता-जाता। वह जो मुनि, सद्गुरु से परानाम का

श्रवण कर उसका मनन करनेवाला जो पुरुष उस परम ब्रह्म को उपर्युक्त प्रकार से जान लेता है वह अपने आप में स्थित सच्चिदानन्द शब्द का अर्थस्वरूप ब्रह्म ही हो जाता है –

स्वशरीरे स्वयंज्योतिःस्वरूपं सर्वसाक्षिणम् ।
क्षीणदोषाः प्रपश्यन्ति नेतरे माययाऽऽवृताः ॥
एवं रूपपरिज्ञानं यस्यास्ति परयोगिनः ।
कुत्रचिद् गमनं नास्ति तस्य पूर्णस्वरूपिणः ॥
आकाशमेकं सम्पूर्णं कुत्रचिन्नैव गच्छति ।
तद्वत् स्वात्मपरिज्ञानी कुत्रचिन्नैव गच्छति ॥
स यो ह वै तत् परमं, ब्रह्म यो वेद वै मुनिः ।
ब्रह्मैव भवति स्वस्थः सच्चिदानन्दमातृकः ॥

– रुद्रहृदयोप० ४६-५२

जाबालदर्शनोपनिषद्

वाराणसी की महिमा से सभी परिचित हैं। जो जीव वाराणसी पहुँचकर प्राणत्याग करते हैं वे मुक्त हो जाते हैं। वह वाराणसी वास्तव में कहाँ है, यह बतलाते हुए जाबालदर्शनोपनिषद् में भगवान् दत्तात्रेय कहते हैं – हे महाबुद्धिमान् सांकृति, वह वाराणसी मनुष्य की दोनों भौंहों के मध्य नासिकामूल के ऊपर स्थित है –

वाराणसी महाप्राज्ञ भ्रुवोर्घ्राणस्य मध्यमे ।

– जाबालदर्शनोप० ४ । ४८

आगे वे कहते हैं कि इस आत्मतीर्थ को छोड़कर जो बाहरी तीर्थों का सेवन करते हैं वे मानो हाथ में रखे हुए महान् रत्न को फेंककर काँच के टुकड़े ढूँढ़ते फिरते हैं। भावतीर्थ ही वास्तव में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ है और वही सभी कार्यों में प्रमाण भी है। शरीर से होनेवाले सभी कार्यों में मन के भाव ही तो प्रधान होते हैं। मनुष्य अपनी पत्नी का भी आलिंगन करता है और अपनी जवान बेटी को भी गले लगाता है। पर मनोभाव में अन्तर होने के कारण ही दोनों कार्यों में भिन्नता होती है –

आत्मतीर्थं समुत्सृज्य बहिस्तीर्थानि यो व्रजेत् ।
करस्थं स महारत्नं त्यक्त्वा काचं विमार्गते ॥

भावतीर्थं परं तीर्थं प्रमाणं सर्वकर्मसु।
अन्यथाऽऽलिङ्ग्यते कान्ता चान्यथाऽऽलिङ्ग्यते सुता॥

— जाबालदर्शनोप० ५।५०-५१

वराहोपनिषद्

व्रत-उपवास का जो स्वरूप आज समाज में प्रचलित है उसे सन्तमत में परमार्थ का साधक नहीं माना जाता। इसीलिये वे इन्हें निरर्थक मानते हैं। वराहोपनिषद् में उपवास का वास्तविक स्वरूप वतलाते हुए कहा गया है कि जीवात्मा का परमात्मा के समीप बास करना ही यथार्थ उपवास है, शरीर भूखा-प्यासा रखकर सुखा डालना उपवास नहीं है। जिनमें विवेक, भले-वुरे का, सत्-असत् का ज्ञान नहीं है ऐसे लोगों को शरीर सुखा डालने मात्र से क्या लाभ होगा। वल्मीक (बाँबी) को पीटते रहने मात्र से क्या महान् सर्प की मृत्यु हो सकती है ? —

उप समीपे यो वासो जीवात्मपरमात्मनोः ।
उपवासः स विज्ञेयो न तु कायस्य शोषणम् ॥
कायशोषणमात्रेण का तत्र ह्यविवेकिनाम् ।
वल्मीकताडनादेव मृतः किंनु महोरगः ॥

— वराहोप० २।३९-४०

सन्तमतसम्मत उपासना-विधि की ओर संकेत करते हुए कहा गया है कि निरन्तर विषयों को देखते रहने पर भी योगी ब्रह्म को देखने की बुद्धि को छोड़ता नहीं, जैसे सिर पर घड़ा रखकर नाचती हुई नर्तकी संगीत, लय, ताल, वाद्य आदि का अनुसरण करते हुए भी सिर पर रखे घड़े की सुरक्षा का प्रतिपल ध्यान रखती ही है —

पुङ्खानुपुङ्खविषयेक्षणतत्परोऽपि
ब्रह्मावलोकनधियं न जहाति योगी।
संगीततालयवाद्यवशं गतापि
मौलिस्थकुम्भपरिरक्षणधीर्नटीव ॥

— वराहोप० २।८२

निदाघ को सद्गुरु की महत्ता बतलाते हुए भगवान् ऋभु कहते हैं कि जिसकी बुद्धि तत्त्व में अनुभव करने तक गतिशील रहती है, सक्रिय बनी रहती है

अर्थात् जिसे सद्गुरु के उपदेश के अनुसार अभ्यास करते-करते बुद्धि द्वारा तत्त्व का अन्तःसाक्षात्कार हो जाता है ऐसे महापुरुष की दृष्टि जिन जीवों पर पड़ जाती है वे सभी सम्पूर्ण पापों से मुक्त हो जाते हैं। चाहे आकाशचारी जीव हों चाहे धरती पर निवास करनेवाले हों, ब्रह्मवेत्ता की दृष्टि में पड़नेवाले वे सभी जीव करोड़ों जन्मों में अर्जित पापों से तुरन्त ही मुक्त हो जाते हैं —

यस्यानुभवपर्यन्ता बुद्धिस्तत्त्वे प्रवर्तते।
तद्दृष्टिगोचराः सर्वे मुच्यन्ते सर्वपातकैः॥
खेचरा भूचराः सर्वे ब्रह्मविद्दृष्टिगोचराः।
सद्य एव विमुच्यन्ते कोटिजन्मार्जितैरघैः॥

— वराहोप० ४।४३-४४

ब्रह्म शब्द के वाद यदि किसी अन्य शब्द को समकक्ष समादर प्राप्त है तो वह है ब्राह्मण शब्द। भारतीय आचार, धर्म-कर्म, संस्कृति, संस्कार, अध्यात्म आदि सवका मूल आधार ब्राह्मण है। ब्राह्मण ही विप्र (सर्वोत्कृष्ट रूप से वर्तमान) है, वही भू-सुर है। भगवान् विष्णु कहते हैं कि ब्राह्मण के मुख में उत्तमोत्तम भोज्य पदार्थ के जो ग्रास पड़ते हैं वे मेरे ही मुख में पहुँचते हैं, ब्राह्मण का मुख मेरा ही मुख है। इसीलिये तो हम ब्राह्मणों को दान देते हैं, भोजन कराते हैं, दक्षिणा देते हैं, सव तरह से उनकी सेवा करते हैं, उनकी प्रसन्नता, उनका आशीर्वाद चाहते हैं, उनके अपमान से, तिरस्कार से, क्रोध से, शाप से डरते हैं।

ब्राह्मण के प्रति हमारी यह निष्ठा सर्वथा उचित है। हमारी तो वात ही क्या, इतने वड़े भगवान् श्रीराम का भी कहना है कि मैं विप्र की ही कृपा से सर्वथा अजेय हूँ, विप्र की की ही कृपा से कमला (लक्ष्मी) जैसी पत्नी का पति हूँ, विप्र की ही कृपा से धरणीधर हूँ, अधिक क्या, विप्र की ही कृपा से मेरा नाम राम है —

विप्रप्रसादादजिताजितोऽहं विप्रप्रसादात् कमलावरोऽहम्।
विप्रप्रसादाद् धरणीधरोऽहं विप्रप्रसादान्मम रामनाम॥

अपने मनुष्य जीवन को अमृतमय वनानेवाले उस ब्राह्मण के वास्तविक स्वरूप से परिचित होना हमारे लिये वहुत आवश्यक है। ऐसा न हो कि वालू पर चमकनेवाली सीपी को हम भ्रम से चाँदी समझ वैठें और भस्म में हवन करने के समान हमारे हाथ कुछ भी न लगे।

एक शब्द है 'वासुदेव'। वासुदेव होने के लिये यह आवश्यक है कि उसके पिता वसुदेव हों – 'वसुदेवस्य अपत्यं पुमान् वासुदेवः' (वसुदेव की पुरुष सन्तान वासुदेव है)। किन्तु ब्राह्मण होने के लिये स्वयं की योग्यता, स्वयं के ही गुण-कर्म अपेक्षित हैं, अन्य किसी के नहीं – 'ब्रह्म जानाति तदिव आचरतीति वा ब्राह्मणः' (जो ब्रह्म को जानता हो अथवा ब्रह्म के समान आचरण करे वह ब्राह्मण है)। दोनों का अर्थ एक ही है। जो ब्रह्म को जानेगा वह ब्रह्म ही हो जायगा और जो ब्रह्म ही हो जायगा वह ब्रह्म के समान ही आचरण करेगा, अथवा जो ब्रह्म के समान आचरण करेगा वह अवश्य ब्रह्म को जानता होगा अन्यथा वह क्या जाने कि ब्रह्म का आचरण क्या होता है।

वर्णाश्रम-व्यवस्था के प्रवर्तक श्रीकृष्ण का गीता में वचन है कि वर्णाश्रम की व्यवस्था मैंने गुण और कर्मों के विभाग के अनुसार की है –

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः।

– श्रीमद्भगवद्गीता ४।१३

वर्णव्यवस्था के परम पोषक, प्रवल पक्षधर लोग श्रीकृष्ण की पहली बात तो पकड़ लेते हैं – वर्णव्यवस्था भगवान् श्रीकृष्ण की बनाई हुई है किन्तु, दूसरी बात पर ध्यान नहीं देते कि यह व्यवस्था उन्होंनें गुण-कर्मों के विभागपूर्वक की है।

ब्राह्मणत्व न रहे तो ब्राह्मण कैसा, और ब्राह्मणत्व वहीं रहेगा जहाँ ब्रह्मण के गुण-कर्म रहेंगे। अतः ब्राह्मण के गुण-कर्म क्या हैं, ब्राह्मणत्व का आधार क्या है, यह जानने के वाद ही हम उसके अनुसार ब्राह्मण की पहचान कर सकेंगे।

वज्रसूची उपनिषद् में प्रश्न उठाया गया है कि ब्राह्मणत्व का आधार क्या जाति है, कर्म है, धर्म है अथवा ज्ञान आदि हैं ? इनमें से प्रत्येक का खण्डन करके किन शब्दों में ब्राह्मणत्व की स्थापना की गई है, देखना चाहिए, अन्यथा ब्राह्मणत्व से रहित हम जैसों को ब्राह्मण समझकर लोग दान-दक्षिणा देते रहेंगे और दुःख भी भोगते रहेंगे, कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं है।

ब्राह्मण कौन है, यह प्रश्न और इसका उत्तर यहाँ इसलिये आवश्यक हो गया है कि सन्तमत में केवल सद्गुरु को विप्र, ब्राह्मण या भूसुर माना जाता है, यह तथ्य पीछे अनेक तर्कों तथा उपनिषद्-वचनों से प्रमाणित हो चुका है पर वज्रसूची उपनिषद् में मात्र इस एक ही बात पर विस्तार से विचार हुआ है अतः उसका अनुवाद यहाँ विस्तार से प्रस्तुत किया जा रहा है। विज्ञ पाठक इसे देखकर स्वयं

निर्णय कर लेंगे कि सब प्रकार के भौतिक आध्यात्मिक लाभ की कामना सफल होने के लिये परम्परा और पूर्वाग्रह से चिपके रहना श्रेयस्कर है अथवा वेद-उपनिषद्-सम्मत सन्तमत का अनुसरण करने में कल्याण है।

वज्रसूची उपनिषद्

यज्ज्ञानाद् यान्ति मुनयो ब्राह्मण्यं परमाद्भुतम्।
तत् त्रैपदब्रह्मतत्त्वमहमस्मीति चिन्तये॥

– सच्चिदानन्दस्वरूप जिस त्रिपाद् ब्रह्मतत्त्व (प्रत्यक्ष वर्तमान तत्त्वदर्शी सद्-गुरुदेव) के ज्ञान से मननशील मनुष्य परम अद्भुत ब्राह्मणत्व को प्राप्त कर लेते हैं उसमें अपने विलीन होने की भावना करता हूँ।

ॐ आप्यायन्त्विति शान्तिः।

– 'ॐ आप्यायन्तु' इस वेदमन्त्र में उल्लिखित शान्ति प्राप्त हो।

चित्सदानन्दरूपाय सर्वधीवृत्तिसाक्षिणे।
नमो वेदान्तवेद्याय ब्रह्मणेऽनन्तरूपिणे॥

– वेदान्तशास्त्र में वताए गए उपायों से जानने योग्य, अनन्त स्वरूपवाले, सबके बुद्धिव्यापार के साक्षी, सच्चिदानन्दस्वरूप (प्रत्यक्ष वर्तमान ज्ञानानन्दमय सद्गुरु-देव) को प्रणाम है।

ॐ वज्रसूचीं प्रवक्ष्यामि शास्त्रमज्ञानभेदनम्।
दूषणं ज्ञानहीनानां भूषणं ज्ञानचक्षुषाम्॥

– ॐ ज्ञानहीनों के लिये दूषणरूप तथा ज्ञानदृष्टिवालों के लिये भूषणस्वरूप, अज्ञान को छिन्नभिन्न करनेवाले वज्रसूची (वज्र की सुई) नामक शास्त्र को कहता हूँ।

ब्रह्मक्षत्रियवैश्यशूद्रा इति चत्वारो वर्णास्तेषां वर्णानां ब्राह्मण एव प्रधान इति वेदवचनानुरूपं स्मृतिभिरप्युक्तम्। तत्र चोद्यमस्ति को वा ब्राह्मणो नाम – किं जीवः, किं देहः, किं जातिः, किं ज्ञानं, किं कर्म, किं धार्मिक इति॥

– ब्राह्मण-क्षत्रिय-वैश्य-शूद्र ये चार वर्ण होते हैं। इनमें ब्राह्मण ही प्रधान होता है, यह वेदानुरूप बात स्मृतियों में भी कही गई है। यहाँ प्रश्न है कि ब्राह्मण माना किसे जाय – क्या जीव ब्राह्मण है, क्या देह ब्राह्मण है, क्या जाति, ज्ञान अथवा कर्म ब्राह्मण है, अथवा धार्मिक पुरुष को ही ब्राह्मण मान लिया जाय ?

तत्र प्रथमो जीवो ब्राह्मण इति चेन्न। अतीतानागतानेकदेहानां जीवस्यैकरूपत्वात्, एकस्यापि कर्मवशादनेकदेहसम्भवात्, सर्वशरीराणां जीवस्यैकरूपत्वाच्च। तस्मान्न जीवो ब्राह्मण इति ॥

— इनमें पहले को यानी जीव को ब्राह्मण नहीं माना जा सकता क्योंकि भूत और भविष्य के अनेक देहों में विद्यमान जीव का वही एक रूप रहता है, वही एक जीव अपने कर्मानुसार विभिन्न योनियों में अनेक देह धारण करता है और उन सभी शरीरों में जीव एकरूप ही रहता है। इसलिये जीव ब्राह्मण नहीं है।

तर्हि देहो ब्राह्मण इति चेन्न। आचाण्डालादिपर्यन्तानां मनुष्याणां पाञ्चभौतिकत्वेन देहस्यैकरूपत्वाज्जरामरणधर्माधर्मादिसाम्यदर्शनाद् ब्राह्मणः श्वेतवर्णः क्षत्रियो रक्तवर्णो वैश्यः पीतवर्णः शूद्रः कृष्णवर्ण इति नियमाभावात्। पित्रादिशरीरदहने पुत्रादीनां ब्रह्महत्यादिदोषासम्भवाच्च। तस्मान्न देहो ब्राह्मण इति ॥

— तो क्या देह को ब्राह्मण मान लें ? नहीं। चाण्डाल पर्यन्त सभी मनुष्यों का शरीर पाञ्चभौतिक होने के कारण एक जैसा होता है, बुढ़ापा, मृत्यु आदि धर्म उन सभी शरीरों में एक जैसे ही होते हैं, फिर ब्राह्मण श्वेत रंग का, क्षत्रिय लाल रंग का, वैश्य पीले रंग का और शूद्र काले रंग का ही होता है, ऐसा कोई नियम नहीं है। देह को ब्राह्मण मान लें तो पिता आदि की मृत्यु के बाद उस देह को जला देनेवाले पुत्र आदि को ब्रह्महत्या का पाप लग जाना चाहिए, जैसा कि होता नहीं है। अतः देह को ब्राह्मण नहीं माना जा सकता।

तर्हि जातिर्ब्राह्मण इति चेत्तन्न। तत्र जात्यन्तरजन्तुष्वनेकजातिसम्भवा महर्षयो बहवः सन्ति। ऋष्यशृङ्गो मृग्याः, कौशिकः कुशात्, जाम्बूको जम्बूकात्, वाल्मीको वल्मीकात्, व्यासः कैवर्तकन्यायाम्, शशपृष्ठाद् गौतमः, वसिष्ठ उर्वश्याम्, अगस्त्यः कलशे जात इति श्रुतत्वात्। एतेषां जात्या विनाप्यग्रे ज्ञानप्रतिपादिता ऋषयो बहवः सन्ति। तस्मान्न जातिर्ब्राह्मण इति ॥

— तो क्या जाति को ब्राह्मण मान लें ? नहीं। संसार में दूसरी-दूसरी जातियों में उत्पन्न होनेवाले बहुत से ऋषि हुए हैं। ऋष्यशृंग ऋषि मृगी से जन्मे थे, महर्षि कौशिक कुश से उत्पन्न हुए थे, महर्षि जाम्बूक जम्बूक (?) से, वाल्मीकि वल्मीक (बाँवी) से, महर्षि व्यास मल्लाह की कन्या से, महर्षि गौतम ख़रगोश की पीठ

से, महर्षि वसिष्ठ उर्वशी से, और अगस्त्य घड़े से उत्पन्न हुए थे, ऐसा सुना जाता है। जाति का ठिकाना न होते हुए भी इनके ज्ञान को अपनाकर आगे और भी बहुत से ऋषि हुए हैं। अतः जाति को ब्राह्मण नहीं मान सकते।

तर्हि ज्ञानं ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयोऽपि परमार्थदर्शिनोऽभिज्ञा बहवः सन्ति। तस्मान्न ज्ञानं ब्राह्मण इति।

— तो ज्ञान को ब्राह्मण मान लिया जाय ? नहीं। बहुत से क्षत्रिय आदि भी परमार्थदर्शी और ज्ञानी हुए हैं। इसलिये ज्ञान को ब्राह्मण नहीं माना जा सकता।

तर्हि कर्म ब्राह्मण इति चेत् तन्न। सर्वेषां प्राणिनां प्रारब्धसंचितागामिकर्मसाधर्म्यदर्शनात् कर्माभिप्रेरिताः सन्तो जनाः क्रियाः कुर्वन्तीति। तस्मान्न कर्म ब्राह्मण इति।

— तो कर्म को ब्राह्मण मान लें ? नहीं। सभी प्राणियों को संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण कर्म समान रूप से प्रभावित करते हैं और अपने-अपने कर्मों से प्रेरित होकर ही लोग नाना प्रकार की क्रियाएँ करते हैं। इसलिए कर्म को ब्राह्मण नहीं मान सकते।

तर्हि धार्मिको ब्राह्मण इति चेत्तन्न। क्षत्रियादयो हिरण्यदातारो बहवः सन्ति। तस्मान्न धार्मिको ब्राह्मण इति। तर्हि को वा ब्राह्मणो नाम ?

— तो धार्मिक पुरुष को ही ब्राह्मण मान लेते हैं ? नहीं। क्षत्रिय आदि बहुत लोग स्वर्णदान करनेवाले हो गये हैं। अतः धार्मिक व्यक्ति को ब्राह्मण नहीं माना जा सकता। तो अब ब्राह्मण किसे माना जाय ?

यः कश्चिदात्मानमद्वितीयं जातिगुणक्रियाहीनं षडूर्मिषड्भावेत्यादिसर्वदोषरहितं सत्यज्ञानानन्दानन्तस्वरूपं स्वयं निर्विकल्पमशेषकल्पाधारमशेषभूतान्तर्यामित्वेन वर्तमानमन्तर्बहिश्चाकाशवदनुस्यूतमखण्डानन्दस्वभावमप्रमेयमनुभवैकवेद्यमपरोक्षतया भासमानं करतलामलकवत् साक्षादपरोक्षीकृत्य कृतार्थतया कामरागादिदोषरहितः शमदमादिसम्पन्नो भावमात्सर्यतृष्णाशामोहादिरहितो दम्भाहंकारादिभिरसंस्पृष्टचेता वर्तत एवमुक्तलक्षणो यः स एव ब्राह्मण इति श्रुतिस्मृति-पुराणेतिहासानामभिप्रायः। अन्यथा हि ब्राह्मणत्वसिद्धिर्नास्त्येव। सच्चिदानन्दमात्मानमद्वितीयं ब्रह्म भावयेदात्मानं सच्चिदानन्दं ब्रह्म भावयेदित्युपनिषत्। ॐ आप्यायन्त्विति शान्तिः॥

— अद्वितीय, जाति-गुण-क्रिया से रहित, [1]षडूर्मि-षड्भाव आदि सभी दोषों से रहित, सत्य-ज्ञान-आनन्द-अनन्त स्वरूपवाले, निर्विकल्प, सम्पूर्ण कल्पों के आधार (कालातीत), सभी प्राणियों के भीतर अन्तर्यामी रूप से विराजमान, सबके बाहर और भीतर आकाश के समान अणु-अणु में व्याप्त, अखण्ड आनन्द स्वभाववाले, अप्रमेय, अनुभव मात्र से जाने जा सकनेवाले तथा अपरोक्ष रूप से भासमान आत्मा (सद्गुरु) को जो कोई अपने हाथ में रखे हुए आँवले के फल के समान साक्षात् अपरोक्ष रूप से जानकर स्वयं कृतार्थ होने के कारण काम-राग आदि दोषों से रहित, शम-दम आदि से सम्पन्न, भाव-मात्सर्य-तृष्णा-आशा-मोह आदि से रहित हो तथा दम्भ-अहंकार आदि ने जिसके चित्त का स्पर्श भी न किया हो, ऐसे उपर्युक्त लक्षणोंवाला जो कोई भी हो, केवल वही ब्राह्मण है। यही श्रुति-स्मृति-पुराण तथा इतिहास का अभिप्राय है। यदि ऐसा न माना जाय तो ब्राह्मणत्व की सिद्धि किसी भी प्रकार नहीं हो सकती। सद्गुरु की सच्चिदानन्द अद्वितीय ब्रह्मरूप में भावना करे, सच्चिदानन्द ब्रह्म का सद्गुरु रूप में चिन्तन करे।

'ॐ आप्यायन्तु' इस मन्त्र में उल्लिखित शान्ति प्राप्त हो !

श्रीमद्भागवत महापुराण

उपनिषदों में तत्त्वदर्शी महापुरुष सन्त-सद्गुरु की महत्ता देख चुकने के अनन्तर परमपवित्र महापुराण श्रीमद्भागवत में भी देख लेना समुचित होगा कि परमात्मा की भक्ति, आत्मज्ञान, ब्रह्मज्ञान अथवा जीवन्मुक्ति प्राप्त करने के उपायों में तत्त्ववेत्ता साधु-सन्त या सद्गुरु की महत्ता और उनकी सेवा की अनिवार्यता किन शब्दों में वर्णित है। आस्तिक मनुष्य मात्र की आस्था का आधार श्रीमद्भागवत

१- शीत, उष्ण (गरम), सुख, दुःख, मान अपमान — ये छः भाव छः ऊर्मियाँ हैं। ऊर्मि लहर को कहते हैं। जिस प्रकार लहरों के उठने से शान्त सरोवर चञ्चल हो जाता है वैसे ही जिसके चित्त रूपी सरोवर में इन छः भावों में से किसी भी भाव का प्रभाव पड़ता है उसका चित्त चंचल हो जाता है। उसके चित्त की शान्ति जाती रहती है। केवल उस धीर व्यक्ति के चित्त को ये ऊर्मियाँ (तरंगें या लहरें) चंचल नहीं कर पातीं जिसका चित्त माथे में विराजमान अपने आत्मस्वरूप सद्गुरुदेव के विज्ञानमय स्वरूप में रमण करता रहता है। अचल, अद्वय और चिद्घन गुरुस्वरूप का ध्यान करते-करते उस व्यक्ति के चित्त में भी ये गुण आ जाते जिससे ये छहों ऊर्मियाँ उसके शान्त हुए चित्त को आन्दोलित नहीं कर पातीं।

परमहंसों की संहिता है। तत्त्वज्ञान की सर्वोच्च अवस्था को प्राप्त महापुरुष परमहंस कहे जाते हैं। महात्मा शुकदेवजी कहते हैं कि वेदरूपी कल्पवृक्ष का पका हुआ, रस-पूर्ण फल है श्रीमद्भागवत – 'निगमकल्पतरोर्गलितं फलम्।' उसकी कथाओं के एक-एक श्लोक में, एक-एक शब्द में वेदार्थ भरा हुआ है – 'तत्कथासु तु वेदार्थः श्लोके श्लोके पदे पदे' (श्रीमद्भा० माहा० २।६५), अस्तु।

महर्षि शौनक कहते हैं कि चिन्तामणि मात्र लौकिक सुख ही दे सकता है तथा कल्पवृक्ष अधिक से अधिक स्वर्ग की सम्पत्ति प्रदान कर सकता है किन्तु सद्गुरुदेव प्रसन्न हो जायँ तो बड़े-बड़े योगियों द्वारा भी दुष्प्राप्य, दुर्लभ वैकुण्ठलोक प्रदान कर देते हैं –

चिन्तामणिर्लोकसुखं सुरद्रुः स्वर्गसम्पदम्।
प्रयच्छति गुरुः प्रीतो वैकुण्ठं योगिदुर्लभम्॥

– श्रीमद्भा० माहा० १।८

परम भागवत महर्षि नारद की स्तुति करते हुए भक्ति कहती है कि हे ब्रह्मपुत्र ! सद्गुरु बनकर आपने केवल एक बार जो वचन उच्चारण कर सुनाया उसे धारण कर आपके उपदेशानुसार साधना-अभ्यास करने के फलस्वरूप भक्त बालक प्रह्लाद ने माया पर विजय प्राप्त कर ली तथा भक्त बालक ध्रुव ने सबसे ऊँचा ध्रुव पद प्राप्त कर लिया! ऐसे सर्वकल्याणमय आप महापुरुष के सम्मुख मैं नत-मस्तक हूँ –

जयति जगति मायां यस्य कायाधवस्ते
वचनरचनमेकं केवलं चाकलय्य।
ध्रुवपदमुपयातो यत्कृपातो ध्रुवोऽयं
सकलकुशलपात्रं ब्रह्मपुत्रं नतास्मि॥

– श्रीमद्भा० माहा० १।८०

महर्षि नारद ब्रह्मस्वरूप सनत्कुमार आदि महापुरुषों की स्तुति करते हुए कहते हैं – यह सुनिश्चित तथ्य है कि अनेक जन्मों में उपार्जित सौभाग्य का उदय होने पर पुरुष जब आप जैसे सन्तों का समागम प्राप्त करता है तभी उसके अज्ञान से उत्पन्न मद-मोहान्धकार का नाश हो जाने के बाद विवेक, सत्-असत् का, आत्म-अनात्म का ज्ञान उदित हो जाता है –

भाग्योदयेन बहुजन्मसमर्जितेन
सत्सङ्गमं च लभते पुरुषो यदा वै ।
अज्ञानहेतुकृतमोहमदान्धकार -
नाशं विधाय हि तदोदयते विवेकः ॥

— श्रीमद्भा० माहा० २।७६

महात्मा गोकर्ण के पिता ने जब उनसे पूछा कि मैं वन में जाकर क्या करूँ, मैं तो जीवनभर अज्ञान, मोह, मद के अन्धकार में ही डूबा रहा हूँ, तुम दयालु हो, मेरा उद्धार करो। तो महात्मा गोकर्ण ने उन्हें उपदेश देते हुए कहा — आत्मा की उन्नति करनेवाले धर्म का सदा सेवन करो, लोकधर्मों का परित्याग कर दो, यह तत्त्वज्ञानी साधु महापुरुषों की सेवा करने पर उनकी कृपा से ही सम्भव है अतः उनकी सेवा करो, काम की तृष्णा छोड़ दो, दूसरों के दोष-गुणों का चिन्तन जितनी जल्दी हो सके छोड़ दो तथा सन्त-सद्गुरुदेवों की सेवा और कथा का अमृतरस जी भरकर पीते रहो —

धर्मं भजस्व सततं त्यज लोकधर्मान्
सेवस्व साधुपुरुषाञ्जहि कामतृष्णाम् ।
अन्यस्य दोषगुणचिन्तनमाशु मुक्त्वा
सेवाकथारसमहो नितरां पिब त्वम् ॥

— श्रीमद्भा० माहा० ४।८०

श्री शुकदेव परीक्षित् से कहते हैं कि जो बुद्धिमान् पुरुष है, वह चाहे निष्काम हो, सम्पूर्ण कामनाओं से युक्त हो अथवा मोक्ष चाहता हो, उसे तो तीव्र भक्तियोग के द्वारा केवल पुरुषोत्तम भगवान् की ही आराधना करनी चाहिये। जितने भी उपासक हैं उनका सबसे बड़ा हित इसी में है कि वे भगवान् के प्रेमी भक्तों का संग करके पुरुषोत्तम भगवान् में अविचल प्रेम प्राप्त कर लें —

अकामः सर्वकामो वा मोक्षकाम उदारधीः ।
तीव्रेण भक्तियोगेन यजेत पुरुषं परम् ॥
एतावानेव यजतामिह निःश्रेयसोदयः ।
भगवत्यचलो भावो यद् भागवतसङ्गतः ॥

— श्रीमद्भा० २।३।१०-११

महाराज पृथु ब्रह्मस्वरूप सनत्कुमारजी से कहते हैं, — हे भगवन् ! यह निश्चय है कि जो आत्मवान् (धीर) पुरुषों में आत्मा रूप से प्रकाशित होते हैं और उपासकों के हृदय में अपने स्वरूप को प्रकट कर दिया करते हैं वे अजन्मा भगवान् नारायण ही अपने भक्तों पर कृपा करने के लिये आप जैसे सिद्ध पुरुषों के रूप में इस पृथ्वी पर विचरण करते रहते हैं —

व्यक्तमात्मवतामात्मा भगवानात्मभावनः।
स्वानामनुग्रहायेमां सिद्धरूपी चरत्यजः॥

— वही, ४।२२।१६

पुरंजन-उपाख्यान में नारदजी कहते हैं कि राजन्, जिस अविद्या के कारण परमार्थस्वरूप आत्मा को यह जन्म-मरणरूप अनर्थ-परम्परा प्राप्त हुई है उसकी निवृत्ति सद्गुरुस्वरूप भगवान् हरि में सुदृढ़ भक्ति होने पर ही हो सकती है —

अथात्मनोऽर्थभूतस्य यतोऽनर्थपरम्परा।
संसृतिस्तद्व्यवच्छेदो भक्त्या परमया गुरौ॥

— वही, ४।२९।३६

उसी प्रसंग में नारदजी का वचन है कि जिससे किसी को रंचमात्र भी भय नहीं होता वही उसका परमप्रिय आत्मा है, ऐसा जो पुरुष जानता है वही ज्ञानी है, और जो ज्ञानी है वही गुरु है तथा वही पुरुष साक्षात् हरि है —

स वै प्रियतमश्चात्मा यतो न भयमण्वपि।
इति वेद स वै विद्वान् यो विद्वान् स गुरुर्हरिः॥

— वही, ४।२९।५१

महात्मा जड़ भरत कहते हैं — रहूगण ! तपस्या, यज्ञ आदि वैदिक कर्म, अन्न आदि का दान, अतिथि सेवा, दीनों की सेवा आदि धर्मों का पालन, वेदों का स्वाध्याय, अथवा जल, अग्नि या सूर्य की उपासना आदि मनमुखी कार्य कितना भी क्यों न करते रहो, तत्त्वदर्शी महापुरुषों की चरणधूलि से स्नान किए विना यह परम आत्मज्ञान अन्य किसी भी उपाय से प्राप्त नहीं हो सकता —

रहूगणैतत् तपसा न याति
न चेज्यया निर्वपणाद् गृहाद् वा।
नच्छन्दसा नैव जलाग्निसूर्यै-
र्विना महत्पादरजोऽभिषेकम्॥

— वही, ५।१२।१२

ईश्वर के चरणों में स्वाभाविक प्रेम होने का भगवान् के द्वारा कथित उपाय बतलाते हुए भक्त प्रह्लाद कहते हैं कि सद्गुरु की सेवा द्वारा भक्ति प्राप्त कर जो कुछ प्राप्त हो वह उन्हें समर्पित करके साधु-भक्तों का संग करते हुए सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई विधि से भगवान् की आराधना करने से ईश्वर के चरणों में प्रेम उत्पन्न हो जाता है –

गुरुशुश्रूषया भक्त्या सर्वलब्धार्पणेन च।
सङ्गेन साधुभक्तानामीश्वराराधनेन च॥

– वही, ७।७।३०

हिरण्यकशिपु का शरीर शान्त हो जाने के बाद भगवान् नारायण की स्तुति करते हुए परम भागवत प्रह्लादजी कहते हैं – भगवन्, यह संसार एक ऐसा अँधेरा कुआँ है जिसमें कालरूप सर्प डँसने के लिये सदा तैयार रहता है। विषयभोगों की कामनावाले पुरुष उसी में गिरे पड़े रहते हैं। मैं भी कुसंगवश उसी में गिरने जा रहा था, किन्तु प्रभो, देवर्षि नारद ने मुझे अपनाकर बचा लिया। अब भला मैं आपके भक्तजनों की सेवा कैसे छोड़ सकता हूँ –

एवं जनं निपतितं प्रभवाहिकूपे
कामाभिकाममनु यः प्रपतन् प्रसङ्गात्।
कृत्वाऽऽमसात् सुरर्षिणा भगवन् गृहीतः
सोऽहं कथं नु विसृजे तव भृत्यसेवाम्॥

– वही, ७।६।२८

हम जैसे लोग तो नाम मात्र के ब्राह्मण हैं। हमें ब्राह्मण कहे जाने का फल मात्र इतना ही है कि विकृत परम्परा का निर्वाह होता रहे, व्यवहार चलता रहे। वास्तव में तत्त्वदर्शी, ब्रह्मवेत्ता सन्त-सद्गुरु ही ब्राह्मण हैं। इस बात पर पर्याप्त विचार हो चुका है। ऐसे ही ब्राह्मणों को भोजन कराने से भगवान् की तृप्ति होती है, यह बतलाते हुए महर्षि नारद युधिष्ठिर से कहते हैं –

न ह्यग्निमुखतोऽयं वै भगवान् सर्वयज्ञभुक्।
इज्येत हविषा राजन् यथा विप्रमुखे हुतैः॥

– वही, ७।१४।१७

— युधिष्ठिर, वैसे तो समस्त यज्ञों के भोक्ता भगवान् ही हैं, परन्तु ब्राह्मण के मुख में अर्पित किए हुए हविष्यान्न से उनकी जैसी तृप्ति होती है, वैसी अग्नि के मुख में हवन करने से नहीं।

नन्वस्य ब्राह्मणा राजन् कृष्णस्य जगदात्मनः।
पुनन्तः पादरजसा त्रिलोकीं दैवतं महत्॥

— वही, ७।१४।४२

— महाराज, हमारी-तुम्हारी तो बात ही क्या, ये जो सर्वात्मा भगवान् श्रीकृष्ण हैं, इनके भी इष्टदेव ब्राह्मण ही हैं, क्योंकि उनके चरणों की धूल से तीनों लोक पवित्र होते रहते हैं।

किन-किन साधनों से किन-किन दोषों पर विजय प्राप्त करनी चाहिए, इसकी विस्तृत तालिका प्रस्तुत करने के बाद नारदजी सद्गुरु का महत्त्व बतलाते हुए युधिष्ठिर से कहते हैं —

रजस्तमश्च सत्त्वेन सत्त्वं चोपशमेन च।
एतत् सर्वं गुरौ भक्त्या पुरुषो ह्यञ्जसा जयेत्॥
यस्य साक्षाद् भगवति ज्ञानदीपप्रदे गुरौ।
मर्त्याऽसद्धीः श्रुतं तस्य सर्वं कुञ्जरशौचवत्॥
एष वै भगवान् साक्षात् प्रधानपुरुषेश्वरः।
योगेश्वरैर्विमृग्याङ्घ्रिर्लोको यं मन्यते नरम्॥

— वही, ७।१५।२५-२७

— युधिष्ठिर, सत्त्वगुण के द्वारा रजोगुण एवं तमोगुण पर और उपरति के द्वारा सत्त्वगुण पर विजय प्राप्त करनी चाहिए। श्री गुरुदेव की भक्ति के द्वारा साधक इन सभी दोषों पर अनायास, सरलता से विजय प्राप्त कर सकता है। हृदय में ज्ञान का दीपक जलानेवाले सद्गुरुदेव साक्षात् भगवान् ही हैं। जो निन्दित बुद्धिवाला पुरुष उन्हें मनुष्य समझता है उसका सम्पूर्ण शास्त्र-श्रवण हाथी के स्नान के समान व्यर्थ है। बड़े-बड़े योगेश्वर जिनके चरणकमलों का अनुसन्धान करते रहते हैं, प्रकृति और पुरुष के अधीश्वर वे स्वयं भगवान् ही सद्गुरुदेव के रूप में प्रकट हैं। इन्हें जो लोग मनुष्य मानते हैं वे भ्रम में हैं।

सद्गुरुदेव के चरणों की सेवा-पूजा ही वह सबसे प्रधान कर्तव्य है जिससे तीनों गुणों के अलग-अलग प्रभावों से तथा तीनों के सन्निपात से भी उत्पन्न सारे

दोष-दुर्गुण अवश्य शान्त हो जाते हैं – यह तथ्य महर्षि नारद युधिष्ठिर को किन शब्दों में समझा रहे हैं, यह निम्नलिखित प्रसंग में अवलोकनीय है –

आहुः शरीरं रथमिन्द्रियाणि हयानभीषून् मन इन्द्रियेशम् ।
वर्त्मानि मात्रा धिषणां च सूतं सत्त्वं बृहद् बन्धुरमीशसृष्टम् ॥ ४१ ॥

अक्षं दशप्राणमधर्मधर्मौ चक्रेऽभिमानं रथिनं च जीवम् ।
धनुर्हि तस्य प्रणवं पठन्ति शरं तु जीवं परमेव लक्ष्यम् ॥ ४२ ॥

रागो द्वेषश्च लोभश्च शोकमोहौ भयं मदः ।
मानोऽवमानोऽसूया च माया हिंसा च मत्सरः ॥ ४३ ॥

रजः प्रमादः क्षुन्निद्रा शत्रवस्त्वेवमादयः ।
रजस्तमःप्रकृतयः सत्त्वप्रकृतयः क्वचित् ॥ ४४ ॥

यावन्नृकायरथमात्मवशोपकल्पं
धत्ते गरिष्ठचरणार्चनया निशातम् ।
ज्ञानासिमच्युतबलो दधदस्तशत्रुः
स्वाराज्यतुष्ट उपशान्त इदं विजह्यात् ॥ ४५ ॥

नो चेत् प्रमत्तमसदिन्द्रियवाजिसूता
नीत्वोत्पथं विषयदस्युषु निक्षिपन्ति ।
ते दस्यवः सहयसूतममुं तमोऽन्धे
संसारकूप उरुमृत्युभये क्षिपन्ति ॥ ४६ ॥

– वही, ७।१५।४१-४६

– उपनिषदों में कहा गया है कि शरीर रथ है, इन्द्रियाँ घोड़े हैं, इन्द्रियों का स्वामी मन लगाम है, शब्द आदि विषय मार्ग हैं, बुद्धि सारथि है, चित्त ही भगवान् के द्वारा निर्मित बाँधने की विशाल रस्सी है, दस प्राण धुरी हैं, धर्म और अधर्म पहिये हैं और इनका अभिमानी जीव रथी कहा गया है। ओंकार (सद्गुरु से प्राप्त परानाम) ही उस रथी का धनुष है, शुद्ध जीवात्मा बाण और परमात्मा (सद्गुरु का स्वरूप) लक्ष्य है (इस ओंकार यानी परानाम द्वारा अन्तरात्मा को परमात्मा में लीन कर देना चाहिए) ॥ ४१-४२ ॥ राग, द्वेष, लोभ, शोक, मोह, भय, मद, मान, अपमान, दूसरे के गुणों में दोष निकालना, छल, हिंसा, दूसरे की उन्नति देखकर जलना, तृष्णा, प्रमाद, भूख और नींद, ये सब और ऐसे ही जीवों के और भी बहुत से शत्रु हैं। उनमें रजोगुण और तमोगुणप्रधान वृत्तियाँ अधिक हैं। कहीं-कहीं कोई-कोई

सत्त्वगुणप्रधान ही होती हैं ॥ ४३-४४ ॥ यह मनुष्य-शरीररूपी रथ जब तक अपने वश में है और इसके इन्द्रियाँ, मन आदि सम्पूर्ण साधन अच्छी दशा में विद्यमान हैं तभी तक श्री सद्गुरुदेव के चरणकमलों की सेवा-पूजा से शान धरायी हुई ज्ञान की तीखी तलवार लेकर भगवान् के आश्रय (इस अन्तःकरण) से इन शत्रुओं का नाश करके अपने स्वाराज्य-सिंहासन पर विराजमान हो जाय और फिर अत्यन्त शान्त भाव से इस शरीर का भी परित्याग कर दे। अन्यथा थोड़ा सा भी प्रमाद या असावधानी हो जाने पर ये इन्द्रियरूप दुष्ट घोड़े और उनसे मित्रता रखनेवाला बुद्धिरूप सारथि रथ के स्वामी जीव को उल्टे रास्ते से ले जाकर विषयरूपी लुटेरों के हाथों में डाल देंगे। वे डाकू सारथि और घोड़ों के सहित इस जीव को मृत्यु से अत्यन्त भयावने घोर अन्धकारमय संसाररूप कुएँ में गिरा देंगे ॥ ४५-४६ ॥

श्रुतदेव-श्रीकृष्ण-संवाद का निम्नलिखित अंश देखने से सन्तमत की निगमागमसम्मत इस मान्यता की प्रामाणिकता और सत्यता स्पष्ट हो जाती है कि तत्त्वदर्शी, ब्रह्मवेत्ता मनुष्य ही सन्त है, सद्गुरु है, ब्राह्मण है, साक्षात् भगवान् है –

ब्रह्मंस्तेऽनुग्रहार्थाय सम्प्राप्तान् विद्ध्यमून् मुनीन् ।
सञ्चरन्ति मया लोकान् पुनन्तः पादरेणुभिः ॥ ५१ ॥
देवाः क्षेत्राणि तीर्थानि दर्शनस्पर्शनार्चनैः ।
शनैः पुनन्ति कालेन तदप्यर्हत्तमेक्षया ॥ ५२ ॥
ब्राह्मणो जन्मना श्रेयान् सर्वेषां प्राणिनामिह ।
तपसा विद्यया तुष्ट्या किमु मत्कलया युतः ॥ ५३ ॥
न ब्राह्मणान्मे दयितं रूपमेतच्चतुर्भुजम् ।
सर्ववेदमयो विप्रः सर्वदेवमयो ह्यहम् ॥ ५४ ॥
दुष्प्रज्ञा अविदित्वैवमवजानन्त्यसूयवः ।
गुरुं मां विप्रमात्मानमर्चादाविज्यदृष्टयः ॥ ५५ ॥
चराचरमिदं विश्वं भावा ये चास्य हेतवः ।
मद्रूपाणीति चेतस्याधत्ते विप्रो मदीक्षया ॥ ५६ ॥
तस्माद् ब्रह्मऋषीनेतान् ब्रह्मन् मच्छ्रद्धयार्चय ।
एवं चेदर्चितोऽस्म्यद्धा नान्यथा भूरिभूतिभिः ॥ ५७ ॥

– वही, १०।८६।५१-५७

— श्रीकृष्ण ने कहा — प्रिय श्रुतदेव ! ये बड़े-बड़े ऋषि-मुनि तुम पर अनुग्रह करने के लिये ही यहाँ पधारे हैं। ये अपने चरणकमलों की धूल से लोगों और लोकों को पवित्र करते हुए मेरे साथ विचरण कर रहे हैं ॥ ५१ ॥ देवता, पुण्यक्षेत्र और तीर्थ आदि तो दर्शन, स्पर्श, अर्चन आदि के द्वारा धीरे-धीरे बहुत दिनों में पवित्र करते हैं परन्तु सन्त पुरुष अपनी दृष्टि से ही सबको पवित्र कर देते हैं। यही नहीं, देवता आदि में जो पवित्र करने की शक्ति है वह भी उन्हें सन्तों की दृष्टि से ही प्राप्त होती है ॥ ५२ ॥ श्रुतदेव, जगत् में ब्राह्मण जन्म से ही सब प्राणियों से श्रेष्ट है। यदि वह तपस्या, विद्या, सन्तोष और मेरी उपासना, मेरी भक्ति से युक्त हो तब तो कहना ही क्या है ॥ ५३ ॥ मुझे अपना यह चतुर्भुज रूप भी ब्राह्मणों की अपेक्षा अधिक प्रिय नहीं है, क्योंकि ब्राह्मण सर्ववेदमय है और मैं सर्वदेवमय हूँ ॥ ५४ ॥ दुर्बुद्धि मनुष्य इस बात को न जानकर केवल मूर्ति आदि में ही पूज्य बुद्धि रखते हैं और गुणों में दोष निकालकर मेरे स्वरूप जगद्गुरु ब्राह्मण का, जो कि उनका आत्मा ही है, तिरस्कार करते हैं ॥ ५५ ॥ ब्राह्मण मेरा साक्षात्कार करके अपने चित्त में यह निश्चय कर लेता है कि यह चराचर जगत्, इसके सम्बन्ध की सारी भावनाएँ और इसके कारण प्रकृति, महत्तत्त्व आदि सबके सब आत्मस्वरूप भगवान् के ही रूप हैं ॥ ५६ ॥ इसलिये श्रुतदेव, तुम इन महर्षियों को मेरा ही स्वरूप समझकर पूरी श्रद्धा से इनकी पूजा करो। यदि तुम ऐसा करोगे, तब तो तुमने अनायास ही साक्षात् मेरा पूजन कर लिया, नहीं तो बड़ी-बड़ी बहुमूल्य सामग्रियों से भी मेरी पूजा नहीं हो सकती ॥ ५७ ॥

वेदस्तुति के एक श्लोक में सन्तमत की यह मान्यता निरूपित है कि मृत्यु से पहले अपने मस्तक के भीतर विराजमान परमात्मा का साक्षात्कार कर लेने के अतिरिक्त संसार में जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने का कोई अन्य उपाय नहीं है —

उदरमुपासते य ऋषिवर्त्मसु कूर्पदृशः
परिसरपद्धतिं हृदयमारुणयो दहरम्।
तत उदगादनन्त तव धाम शिरः परमं
पुनरिह यत् समेत्य न पतन्ति कृतान्तमुखे ॥

— वही, १०।८७।१८

— श्रुति कहती है — प्रभो, ऋषियों ने आपकी प्राप्ति के लिये अनेकों मार्ग माने हैं। उनमें जो स्थूल दृष्टिवाले हैं वे मणिपूरक चक्र में अग्निरूप से आपकी उपासना करते हैं। अरुणवंश के ऋषि समस्त नाड़ियों के निकलने के स्थान हृदय में आपके परम सूक्ष्म-स्वरूप दहरब्रह्म की उपासना करते हैं। प्रभो ! हृदय से ही आपको प्राप्त करने का श्रेष्ठ मार्ग सुषुम्ना नाड़ी ब्रह्मरन्ध्र गयी हुई है। जो पुरुष उस ज्योतिर्मय मार्ग को प्राप्त कर लेता है और उससे ऊपर की ओर बढ़ता है वह फिर जन्म-मृत्यु के चक्कर में नहीं पड़ता।

यहाँ हम सहज ही समझ सकते हैं कि सुषुम्णा नाड़ी में सूक्ष्मतम स्वरूपवाले दहरब्रह्म की उपासना कहाँ से कैसे प्रारम्भ की जाय, यह बहुत पढ़ने-लिखने के बाद भी समझ पाना सम्भव नहीं है। यह तभी सम्भव है जब हम किसी ऐसे महापुरुष का शिष्यत्व स्वीकार करें, जो उस प्रकार की उपासना द्वारा ब्रह्म का अन्तःसाक्षात्कार कर चुका हो। आत्म-साक्षात्कार की या जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने की कामना सफल होने का इसके अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं है। वेदस्तुति के ही एक श्लोक में यह तथ्य सुस्पष्ट शब्दों में निरूपित है —

विजितहृषीकवायुभिरदान्तमनस्तुरगं
य इह यतन्ति यन्तुमतिलोलमुपायखिदः।
व्यसनशतान्विताः समवहाय गुरोश्चरणं
वणिज इवाज सन्त्यकृतकर्णधरा जलधौ॥

— वही, १०।८७।३३

— हे अजन्मा प्रभो ! जिन योगियों ने अपनी इन्द्रियों और प्राणों को वश में कर लिया है, वे भी, जव अपने सद्गुरुदेव के चरणों की शरण न लेकर उच्छृंखल एवं अत्यन्त चंचल मन-तुरंग को अपने वश में करने का यत्न करते हैं, तव अपने साधनों में सफल नहीं होते। उन्हें वार-वार खेद और सैकड़ों विपत्तियों का सामना करना पड़ता है, केवल श्रम और दुःख ही उनके हाथ लगता है। उनकी ठीक वही दशा होती है, जैसी समुद्र में विना कर्णधार की नाव पर यात्रा करने-वाले व्यापारियों की होती है। तात्पर्य यह कि जो मन को वश में करना चाहते हैं उनके लिये कर्णधार की, सद्गुरु की अनिवार्य आवश्यकता है।

महाराज निमि से नौ योगीश्वरों के संवाद में एक योगीश्वर कहते हैं —

भयं द्वितीयाभिनिवेशतः स्यादीशादपेतस्य विपर्ययोऽस्मृतिः।
तन्माययातो बुध आभजेत्तं भक्त्यैकयेशं गुरुदेवतात्मा॥

— वही, ११।२।३७

— राजन्, ईश्वर से विमुख पुरुष को उनकी माया से अपने स्वरूप की विस्मृति हो जाती है। इस विस्मृति से ही उसे 'मैं देवता हूँ, मनुष्य हूँ' इत्यादि प्रकार का विपर्यय, भ्रम हो जाता है। इस देह आदि अन्य वस्तु में अभिनिवेश, तन्मयता होने के कारण ही बुढ़ापा, मृत्यु, रोग आदि अनेक भय होते हैं। इसलिये अपने सद्गुरुदेव को ही आराध्य देव, परमप्रियतम मानकर अनन्य भक्ति के द्वारा उस ईश्वर का भजन करना चाहिए।

इसी प्रसंग में आगे योगीश्वर प्रवुद्धजी वड़ी महत्त्वपूर्ण वात कह रहे हैं। जिनका मन वश में नहीं है तथा जो देह-इन्द्रिय आदि को ही आत्मा मान रहे हैं ऐसे मोटी वुद्धिवालों की दुर्दशा का वर्णन करके वे भगवान् की माया से उनके पार पाने का उपाय वतलाते हुए कह रहे हैं — राजन् ! स्त्री-पुरुष-सम्वन्ध आदि वन्धनों में जकड़े हुए संसारी मनुष्य सुख की प्राप्ति और दुःख की निवृत्ति के लिए वड़े-वड़े कर्म करते रहते हैं। जो पुरुष माया के पार जाना चाहते हैं उनको विचार करना चाहिए कि उनके कर्मों का फल किस प्रकार विपरीत होता जाता है। वे सुख के वदले दुःख पाते हैं और दुःख-निवृत्ति के स्थान पर दिनों-दिन दुःख वढ़ता ही जाता है। एक धन को ही देखो। इससे दिन-पर-दिन दुःख बढ़ता ही है। इसको पाना भी कठिन है और यदि किसी प्रकार मिल भी जाय तो आत्मा के लिये तो यह मृत्युस्वरूप ही है। जो इसकी उलझनों में पड़ जाता है वह अपने आपको भूल जाता है। इसी प्रकार घर, पुत्र, स्वजन-सम्वन्धी, पशु, धन आदि भी अनित्य और नाशवान् ही हैं। यदि कोई इन्हें जुटा भी ले तो इनसे क्या सुख-शान्ति मिल सकती है ? इसी प्रकार जो मनुष्य माया से पार जाना चाहता है उसे यह भी समझ लेना चाहिए कि मरने के वाद प्राप्त होनेवाले लोक यानी परलोक भी ऐसे ही नाशवान् हैं, क्योंकि इस लोक की वस्तुओं के समान वे भी कुछ सीमित कर्मों के सीमित फलमात्र हैं। वहाँ भी पृथ्वी के छोटे-छोटे राजाओं के समान बरावरवालों से होड़ अथवा लाग-डाँट लगी रहती है, अधिक ऐश्वर्य और सुखवालों के प्रति छिद्रान्वेषण तथा ईर्ष्या-द्वेष का भाव रहता है, कम सुख और ऐश्वर्यवालों के प्रति घृणा

रहती है एवं कर्मों का फल पूरा हो जाने पर वहाँ से भी पतन तो होता ही है, उसका नाश निश्चित है। नाश का भय वहाँ भी नहीं छूट पाता।

— वही, ११।३।१८-२०

इसलिए जो परम कल्याण का जिज्ञासु हो उसे सद्गुरुदेव की शरण ग्रहण कर लेनी चाहिए। सद्गुरुदेव ऐसे हों जो शब्दब्रह्म के पारगामी विद्वान् हों (जिन्होंने अपने सद्गुरु से शब्द यानी परानाम लेकर उस शब्द की साधना द्वारा ब्रह्म का अपने भीतर साक्षात्कार कर लिया हो), ताकि वे ठीक-ठीक समझा सकें और अपने अनुभव के द्वारा प्राप्त हुई रहस्य की बातें बता सकें। उनका चित्त शान्त हो। जिज्ञासु को चाहिए कि अपने सद्गुरु को ही अपना परम प्रियतम आत्मा और इष्टदेव माने। उनकी निष्कपट भाव से सेवा करे और उनके पास रहकर भगवान् को प्राप्त कराने वाले भक्तिभाव के साधनों की क्रियात्मक शिक्षा ग्रहण करे। इन्हीं साधनों से सर्वात्मा एवं भक्त को अपने आत्मा का दान करनेवाले भगवान् प्रसन्न होते हैं —

तस्माद् गुरुं प्रपद्येत्त जिज्ञासुः श्रेय उत्तमम्।
शाब्दे परे च निष्णातं ब्रह्मण्युपशमाश्रयम्॥
तत्र भागवतान् धर्मान् शिक्षेद् गुर्वात्मदैवतः।
अमाययानुवृत्त्या यैस्तुष्येदात्माऽऽत्मदो हरिः॥

— वही, ११।३।२१-२२

श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं —

नृदेहमाद्यं सुलभं सुदुर्लभं
प्लवं सुकल्पं गुरुकर्णधारम्।
मयानुकूलेन नभस्वतेरितं
पुमान् भवाब्धिं न तरेत् स आत्महा॥

— वही, ११।२०।१७

— यह मनुष्य-शरीर समस्त शुभ फलों की प्राप्ति का मूल है और अत्यन्त दुर्लभ होने पर भी अनायास सुलभ हो गया है। इस संसार-सागर से पार जाने के लिए यह एक सुदृढ़ नौका है। शरण ग्रहण करने मात्र से ही सद्गुरुदेव इसके केवट बनकर पतवार का संचालन करने लगते हैं और स्मरण मात्र से ही मैं अनुकूल वायु के रूप

में इसे लक्ष्य की ओर बढ़ाने लगता हूँ। इतनी सुविधा होने पर भी जो इस शरीर के द्वारा संसार-सागर से पार नहीं हो जाता वह तो अपने हाथों अपने आत्मा का हनन, अधःपतन कर रहा है –

सन्तों का स्वरूप और उनकी महिमा वतलाते हुए श्रीकृष्ण उद्धव से कहते हैं –

यथोपश्रयमाणस्य भगवन्तं विभावसुम्।
शीतं भयं तमोऽप्येति साधून् संसेवतस्तथा॥
निमज्ज्योन्मज्जतां घोरे भवाब्धौ परमायनम्।
सन्तो ब्रह्मविदः शान्ता नौर्दृढेवाप्सु मज्जताम्॥

– वही, ११।२६।३१ – ३२

– जिसने ऐसे महिमामय सन्त महापुरुषों की शरण ग्रहण कर ली उसकी क्या वात है ! उसकी कर्म करने में जड़ता, संसारभय और अज्ञान आदि सर्वथा निवृत्त हो जाते हैं। भला, जिसने अग्नि भगवान् का आश्रय ले लिया उसे शीत, भय अथवा अन्धकार का दुःख हो सकता है ? जो इस घोर संसार-सागर में डूब-उतरा रहे हैं उनके लिए ब्रह्मवेत्ता और परमशान्त सन्त-सद्गुरु ही एकमात्र आश्रय हैं, जैसे जल में डूब रहे लोगों के लिये सुदृढ़ नौका !

अन्त में श्रीकृष्ण कहते हैं –

सन्तो दिशन्ति चक्षूंषि वहिरर्कः समुत्थितः।
देवता वान्धवाः सन्तः सन्त आत्माहमेव च॥

– वही, ११।२६।३४

– जैसे सूर्य आकाश में उदित होकर लोगों को जगत् तथा स्वयं को देखने के लिए नेत्रदान करते हैं अर्थात् नेत्रों में देखने की शक्ति प्रदान करते हैं वैसे ही सन्त-सद्गुरु अपने को तथा भगवान् को देखने के लिए अन्तर्दृष्टि प्रदान करते हैं। सन्त अनुग्रहशील देवता हैं यानी वे करुणा के नित्यावतार हैं। सन्त जीवों के हितैषी सुहृद् हैं, उनके अपने प्रियतम आत्मा हैं, और अधिक क्या कहूँ, स्वयं मैं ही सन्त-सद्गुरु के रूप में विद्यमान हूँ।

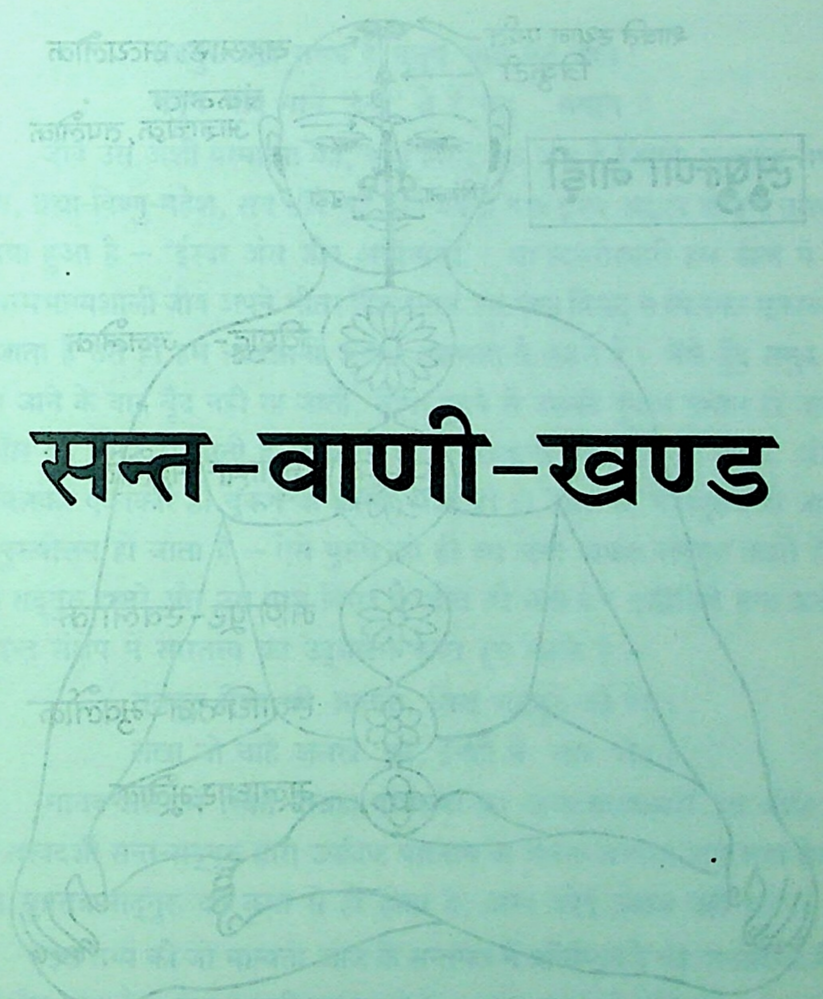
उपर्युक्त उपनिषद्, श्रीमद्भगवद्गीता, श्रीमद्भागवत आदि सव प्रचलित प्रामाणिक आध्यात्मिक साहित्य हैं। इनमें से वर्तमान सन्तमत की इस मान्यता के समर्थन में कुछ आप्त वचन उद्धृत किए गए कि विशुद्ध अध्यात्म-तत्त्व की जिज्ञासा

हो, संसार में सुखमय जीवन बिताने की कामना हो अथवा देहत्याग के अनन्तर शुभ गति प्राप्त करने की अभिलाषा हो तो तत्त्वदर्शी महापुरुष, सन्त-सद्गुरुदेव से परानाम का उपदेश (दीक्षा द्वारा) लेकर सच्ची सेवा-आराधना द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करने का प्रयास करते रहना ही एक मात्र निगमागमसम्मत सर्वश्रेष्ठ उपाय है।

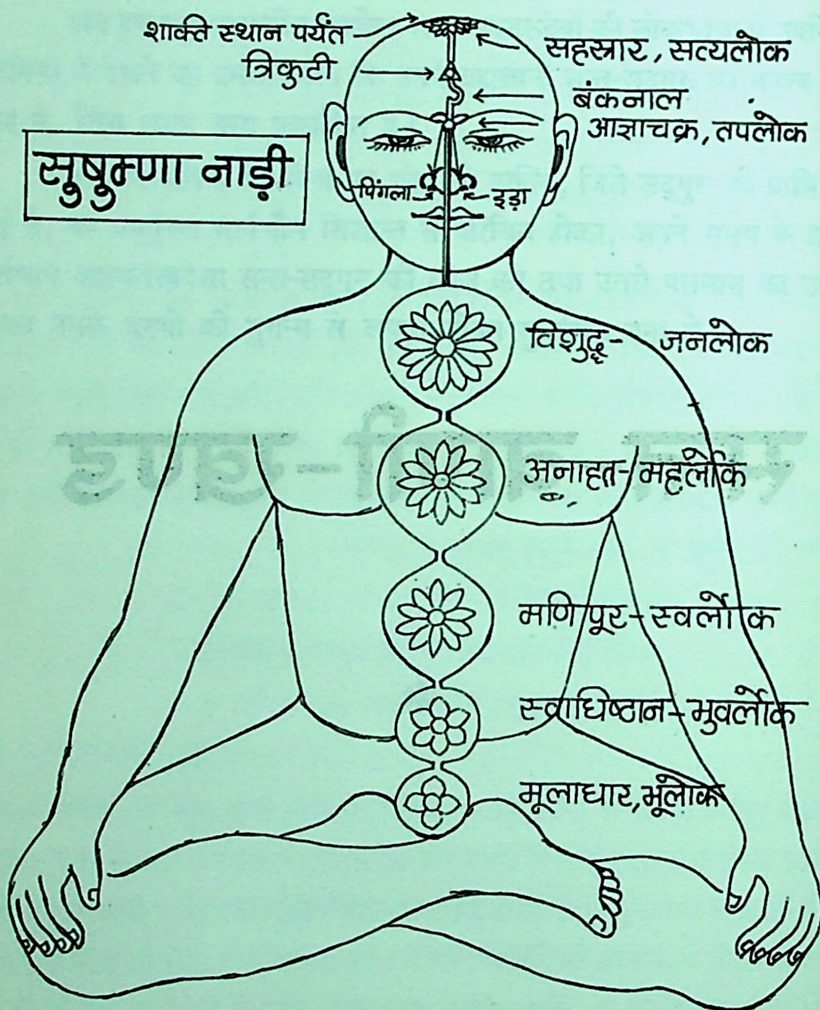
अव हम प्रातःस्मरणीय व्रह्मवेत्ता सन्त-सद्गुरुदेवों की लोकभाषा में उपनिवद्ध वानियों में देखने का प्रयास करेंगे कि उनमें व्रह्मज्ञानी सन्त-सद्गुरु का महत्त्व किस रूप में, किन शव्दों द्वारा प्रकाशित है।

प्रयोजन यही है कि विश्व का कोई भी व्यक्ति, जिसे सद्गुरु की प्राप्ति नहीं हुई है, वह उपर्युक्त सार्वभौम सिद्धान्त से परिचित होकर, अपने समय के प्रत्यक्ष वर्तमान आत्मतत्त्ववेत्ता सन्त-सद्गुरु की खोज करे तथा उनसे परानाम का उपदेश लेकर उनके चरणों की सुगन्ध से अपना जीवन सुवासित वना ले।





सन्त-वाणी-खण्ड


शक्ति स्थान पर्यंत
त्रिकुटी
सहस्रार, सत्यलोक
बंकनाल
आज्ञाचक्र, तपलोक
सुषुम्णा नाड़ी
पिंगला
इड़ा
विशुद्ध- जनलोक
अनाहत- महर्लोक
मणिपूर- स्वर्लोक
स्वाधिष्ठान- भुवर्लोक
मूलाधार, भूलोक

॥ श्रीसद्गुरवे नमः ॥

सतगुरु ब्रह्म सरूप हैं मनुष भाव मत जान।
मनुष भाव मानैं 'दया' ते हैं पसू समान॥

जीव उस अंशी परमात्मा का, परम विराट् का अंश है जिसके अन्तर्गत राम-कृष्ण, ब्रह्मा-विष्णु-महेश, सब छोटे-बड़े देवी-देवता तथा दृश्य-अदृश्य सम्पूर्ण चराचर समाया हुआ है – 'ईस्वर अंस जीव अबिनासी'। मानवशरीरधारी हम जीवों में से जो परमभाग्यशाली जीव अपने भीतर विराजमान उस परम विराट् से मिलकर एकाकार हो जाता है उसे ही हम तत्त्वज्ञानी अथवा आत्मज्ञानी कहते हैं। जैसे बूँद समुद्र में मिल जाने के बाद बूँद नहीं रह जाती, सीमा टूटने से उसकी बूँदता समाप्त हो जाती है और वह समुद्र हो जाती है, इसी तरह वह ब्रह्मज्ञानी जीव नहीं रह जाता, अंशी से मिलकर एकाकार हो चुकने के कारण अंशी ही हो जाता है, महापुरुष हो जाता है, पुरुषोत्तम हो जाता है – ऐसे पुरुष को ही हम सन्त अथवा सद्गुरु कहते हैं। यही सद्गुरु हमारे और उस परम विराट् के बीच की कड़ी है। इसीलिये सन्त कबीर अत्यन्त संक्षेप में सारतत्त्व का उद्घाटन करते हुए कहते हैं –

सतगुरु सिख की आतमा, सिख सतगुरु की देह।
लखा जो चाहै अलख को, इनही में लख लेह॥

मानव-शरीर में स्थित परब्रह्म परमात्मा का अन्तःसाक्षात्कार इस कोटि के पूर्ण तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु द्वारा उपदिष्ट परानाम के भजन-अभ्यास द्वारा तथा सेवा-द्वारा सुप्रसन्न सद्गुरु की कृपा से ही होता है, अन्य कोई उपाय नहीं है।

इस तथ्य की जो मान्यता आज के सन्तमत में प्रतिष्ठित है वह अनादिकालीन सार्वभौम सत्य है। सन्त तुलसीदास कहते हैं – 'चहुँ जुग चहुँ श्रुति नाम प्रभाऊ।' सद्गुरु से प्राप्त परानाम की साधना चारों युगों में फल प्रदान करनेवाली है तथा इसकी महिमा चारों वेदों में वर्णित है। यही नाम-उपासना वेदों-उपनिषदों में प्राणसाधना, प्रणवसाधना, उद्गीथसाधना आदि के रूप में प्रतिपादित है, यह हम पीछे उपनिषदों के अध्ययन में भलीभाँति देख चुके हैं तथा इस पर विस्तार से विचार भी कर चुके

हैं। अब हम देखना चाहेंगे कि प्राचीन काल से लेकर अब तक के तत्त्वद्रष्टा सन्तों ने ब्रह्मसाक्षात्कार, आत्मज्ञान अथवा तत्त्वज्ञान प्राप्त करानेवाली पराविद्या या नामोपासना पर तथा इस उपासना के एक मात्र आधार 'सद्गुरु' तत्त्व पर किन शब्दों द्वारा प्रकाश डाला है।

सिद्ध तिल्लोपाद

दसवीं शताब्दी के बौद्ध सन्त सिद्ध तिल्लोपाद विजयपाद के शिष्य थे। वे कहते हैं कि जो तत्त्व, जो सत्य मूढजनों के लिये अगोचर है वह पण्डितों के लिये भी अगम्य है (क्योंकि वे शास्त्रों के अध्ययन में उलझे रहते हैं), सत्य का साक्षात्कार तो उसी पुण्यवान् व्यक्ति को होता है जिस पर कि सद्गुरु प्रसन्न होते हैं –

वढ़ अणँ लोअअ तत्त पंडित लोअ अगम्म।
जे गुरुपाअ पसण तँहि कि चित्त अगम्म॥

– संक्षिप्त सन्तसुधासार, पृष्ठ ६, पद १

वे आगे कहते हैं कि वह परमतत्त्व न कहीं से आता है, न कहीं जाता है, न किसी स्थान पर ठहरता है। वह प्रत्येक मनुष्य के हृदय में समाया रहता है तथा सद्गुरु के उपदेश से वहीं प्रकट हो जाता है –

आवइ जाइ कहवि ण णइ।
गुरु उपएसैं हिअहि समाइ॥

– वही पृ० ७, पद ८

सन्त गोरखनाथ

ग्यारहवीं शताब्दी के आरम्भ में महान् योगी मत्स्येन्द्रनाथ के शिष्य गोरखनाथजी भी बहुत बड़े योगी पुरुष हो गए हैं। उनके मत में आशा और संशय ये दोनों महान् रोग हैं। जिसके मन में सांसारिक विषयों की आशा लगी रहती है वह आपत्तियों से घिरा रहता है और जिसके मन में संशय रहता है वह शोक प्राप्त करता है। यो दोनों महारोग सद्गुरु से परानाम का उपदेश लेकर उनकी आज्ञा पर चले विना नष्ट नहीं हो सकते –

जे आसा ते आपदा, जे संसा ते सोग।
गुरमुषि बिना न भाजसी (गोरष) ये दून्यों बड़ रोग॥

– वही पृ० १८, दोहा १६

सन्त नामदेव

नाथपन्थ के गुरु खेचरनाथ के शिष्य सन्त नामदेव (१२७० – १३५० ई०) बड़े अच्छे सन्त हो गए हैं। वे कहते हैं कि पवित्र मन से सद्गुरु का उपदेश प्राप्त कर सद्गुरु-सेवा तथा साधना द्वारा जीव के जाग जाने पर 'संसार सत्य है' यह भ्रम नष्ट हो गया, इस मिथ्या संसार में हमारे नाना प्रकार के सांसारिक मनोरथ वैसे ही हैं जैसे स्वप्न में किए गए मनोरथ व्यर्थ होते हैं – यह बात समझ में आ गयी तथा संसार में दिखाई पड़नेवाले अनेक पदार्थों (शब्द के अर्थों) के समान 'सत्' पद का अर्थ भी समझ में आ गया। अब मेरा मन पूर्ण रूप से सन्तुष्ट हो गया –

> मिथ्या भ्रम अरु सुपन मनोरथ सत्ति पदारथु जान्या।
> सुकिरत-मनसा गुरु-उपदेसै, जागत ही मन मान्या ॥
>
> – वही पृ० २४, छन्द १

हम संसारी मनुष्य, जो स्वयं को विपत्तियों से घिरा अनुभव करते हैं उसका मूल कारण यह पद और पदार्थ का या शब्द और उसके अर्थ का अथवा नाम और रूप का ज्ञान न होना ही है।

जैसे 'जल' अथवा 'अग्नि' शब्द (पद) का उच्चारण करते ही जल और अग्नि पदार्थों का स्वरूप हमारे मन में कौंध जाता है इसी तरह 'सत्' पद या शब्द का उच्चारण करते ही उसका भी अर्थ या रूप मन में कौंध जाना चाहिए, स्मरण हो आना चाहिए, पर ऐसा होता नहीं। होता यह है कि पुराणों तथा शास्त्रों के वर्णन के आधार पर हम अपने-अपने मन-बुद्धि के अनुसार राम-कृष्ण-शिव आदि नामों के अर्थ यानी रूप की जीवन भर केवल कल्पना करते रहते और स्वयं को कृतार्थ समझते रहते हैं, उनके वास्तविक रूपों का स्मरण नहीं कर सकते। कैसे कर सकते हैं, देखा ही नहीं, जानते ही नहीं।

पीछे कहा गया है – सनत्कुमारजी ने धृतराष्ट्र के प्रश्न का उत्तर देते हुए कहा कि 'सत्' पद के अर्थ से जीव का सम्बन्ध जुड़ नहीं पाता और भोगों की सामग्री अथवा वासना चौबीसों घण्टे उस पर सवार रहती है, इसीलिए वह लगातार जन्म लेता और मरता रहता है, जन्म-मरण के चक्र से निकल नहीं पाता –

> सदर्थ॑योगानवगमात् समन्तात् प्रवर्तते भोगयोगेन देही ॥

नामदेवजी महाराज ने अपना यही अनुभव हमें बतलाया कि सद्गुरु से मुझे परानाम, सत्-नाम भी प्राप्त हुआ और उनकी कृपा से उस 'सत्' पद का अर्थ 'सत्त

पदारथु' भी प्राप्त हो गया। फलतः सारे सन्देह भ्रम दूर हो गए। सन्त तुलसीदास का स्पष्ट वचन है –

सद्गुरु मिले तें जाहिं जिमि संसै भ्रम समुदाय।

नामदेवजी कहते हैं कि सद्गुरु से भेंट हुई तो उन्होंने मुझे अलख लखा दिया और तब मुझे नारायण की प्राप्ति हो गयी –

नामदेउ नारायन पाया।
गुरु भेंटत ही अलख लखाया ॥

– वही पृ० २६, पद ७

सन्त कबीरदास

तत्त्वज्ञानी सन्त कबीर (१४०० – १५१८ ई०) अपना अनुभव बतलाते हुए कहते हैं कि जिस दिन से सद्गुरु ने मुझे समझाया उसी दिन से मेरे सारे संशय नष्ट हो गए, मेरा मन स्थिर हो गया और मैंने निर्भय पद प्राप्त कर लिया –

कहै कबीर निहचल भया निरभै पद पाया।
संसा ता दिन का गया, सतगुरु समझाया ॥

– वही पृ० ३६, पद २०

उनका कथन है कि जब मैं इस संसार में भूला हुआ था उस समय मेरे सद्गुरु ने मुझे इस शरीर के भींतर विराजमान परमात्मा के साक्षात्कार की युक्ति लखा दी अर्थात् समझा दी। उसके बाद से तो मैंने सम्पूर्ण कर्मकाण्ड और उससे सम्बन्धित सारे आचार-विचार छोड़ दिए, तीर्थों में स्नान करना भी छोड़ दिया। संसार की दृष्टि में मैं ही एक पागल था, और संसार के सब लोग बड़े सयाने थे। न मैं सेवा-बन्दगी जानता, न घण्टा-घण्टी बजाता, न सिंहासन पर भगवान् की मूर्ति बैठाकर उसकी पूजां करता, न फूल चढ़ाता, क्योंकि घट के भीतर विराजमान वह परमात्मा न जप-तप करने से रीझता, न शरीर को कष्ट दे-देकर सुखा डालने से, न धोती छोड़कर लँगोटी लगा लेने से, न पाँचों इन्द्रियों का वलपूर्वक दमन करने से ही प्रसन्न होता है। मनुष्य को अपने हृदय में सभी प्राणियों के प्रति दयाभाव रखना चाहिए, धर्म का पालन करना चाहिए, धर्म यही कि अपने जैसा ही सवका जीव समझना चाहिए। संसार में आसक्त होकर नहीं बल्कि उदास भाव से रहना चाहिए। ऐसे आचरण वाले मनुष्य को ही अविनाशी परमात्मा का साक्षात्कार हो सकता है। सद्गुरु के

प्रेम में अपनी सुध-बुध भूला हुआ दीवाना कबीर कहता है कि जो मनुष्य अपने मुँह से अनुचित शब्द नहीं बोलता, दूसरों के कहे हुए अनुचित शब्द, गाली-गलौज सह लेता है, किसी से किसी प्रकार का वाद-विवाद नहीं करता तथा ऐंठ व घमण्ड छोड़ देता है उसी को अन्तस् में सत्तनाम प्राप्त होता है –

जब मैं भूला रे भाई, मेरे सतगुरु जुगत लखाई ॥
किरिया-करम-अचार मैं छाँड़ा, छाँड़ा तीरथ का न्हाना।
सगरी दुनिया भई सयानी, मैं ही इक बौराना ॥
ना मैं जानूँ सेवा-बंदगी, ना मैं घंट बजाई।
ना मैं मूरत धरि सिंघासन, ना मैं पुहुप चढ़ाई ॥
ना हरि रीझै जप तप कीन्हें, न काया के जारे।
ना हरि रीझै धोती छाँड़े, ना पाँचों के मारे ॥
दाया राखि धरम को पालै, जग सूँ रहै उदासी।
अपना सा जिव सबका जानै, ताहि मिलै अविनासी ॥
सहै कुसब्द बाद को त्यागै, छाँड़े गर्व-गुमांना।
सत्तनाम ताही को मिलिहै, कहै कबीर दिवाना ॥

– वही पृ० ५०, पद ४६

वे कहते हैं कि जैसे कस्तूरी को पाने के लिए मृग व्याकुल होकर सारे वन में भटकता फिरता है किन्तु कस्तूरी तो उसी की नाभि में है, यह वह नहीं जानता। इसी प्रकार परमात्मा हमारे इसी शरीर के भीतर विराजमान है और हम उसे बाहर खोजते फिरते हैं। जब सद्गुरु मिले तब उन्होंने इसे पाने का उपाय बतलाया। अनादि काल से अब तक हमने केवल सद्गुरु की शरण न ग्रहण करने के कारण ही इतना दुःख पाया क्योंकि सद्गुरु के अतिरिक्त इस शरीर के रोगों का वैद्य दूसरा और कोई नहीं है –

नाभिकँवल विच है कस्तूरी, जैसे मिरग फिरे बन का रे।
विन सतगुरु इतना दुख पाया, वैद मिला नहिं इस तन का रे ॥

– वही पृ० ५३, पद ५८

ब्रह्म-साक्षात्कार होने में एकमात्र सद्गुरु की दया को ही कारण बतलाते हुए सन्त कबीर कहते हैं – पा लिया रे, मैने ब्रह्मज्ञान पा लिया। अब सहज समाधि

लग जाने से सुख में डूबा रहता हूँ। अब करोड़ों कल्पों अर्थात् अनन्त काल के लिए विश्राम प्राप्त हो गया। जब मेरे दयालु सद्गुरु ने कृपा की तब हृदय-कमल खिल उठा, प्रकाशित हो गया, सारा भ्रम दूर हो गया, एक जगह बैठे-बैठे ही दसों दिशाओं के दृश्य दिखाई पड़ने लगे तथा परम ज्योति का कभी नष्ट न होनेवाला प्रकाश प्राप्त हो गया –

अब मैं पाइबो रे पाइबो ब्रह्म गियान।
सहज समाधें सुख में रहिबो कोटि कलप बिसराम ॥
गुरु किरपाल कृपा जब कीन्हीं, हिरदै कँवल बिगासा।
भागा भरम दसों दिस सूझा, परम जोति परगासा ॥

– कबीर-वाङ्मय, खण्ड २, सबद, पद १३

सन्त कबीर के शून्य मण्डल अर्थात् मस्तक के भीतर वर्तमान सहस्रार में माँदल बाजा की ध्वनि सुनाई पड़ रही है। वे कहते हैं कि मेरा मन वहाँ आनन्द से नाच रहा है। मेरे सद्गुरु ने मुझ पर ऐसी कृपा की कि मुझे अमृतफल प्राप्त हो गया और सुषुम्णा सहज में लीन हो गई –

सुंनि मंडल में मँदला बाजै, तहाँ मेरा मन नाचै।
गुर प्रसादि अमृत फल पाया, सहजि सुषमनां काछै ॥

– वही, पद ३५

सन्त कबीर ने अनेक तरह से अनेक बार भौतिक एवं आध्यात्मिक दृष्टि से आनन्दमय जीवन बिताने के लिए एकमात्र सद्गुरु की दया प्राप्त होने की बात पर जोर दिया है। विभिन्न पदों में उनकी इस आशय की कुछ सूक्तियाँ निम्नलिखित हैं –

पग बिनु निरत, करां बिनु बाजा, जिभ्या हीनां गावै।
गावनहार के रूप न रेखा, सतगुर होइ लखावै ॥

– वही, पद ३७

– इस शरीर के भीतर वर्तमान उस परमात्मा का दरबार ऐसा आश्चर्यमय है कि उसमें अर्थात् दोनों भौंहों से ऊपर मस्तक के भीतर के विद्याक्षेत्र में पैरों के बिना ही नृत्य होता है, हाथों के बिना बाजा बजते हैं, बिना जीभवाला गीत गाता है तथा गानेवाले का रूप दिखाई नहीं देता, किन्तु इस दृश्य को वही देख पाता है जिसे सद्गुरु प्राप्त हों और वे दया करके दिखा दें।

साध पुकारैं समुझत नाहीं आँन जनम के सूते।
वाँधे ज्यूँ अरहट के टीडरि आवत जात विगूते ॥
गुर बिन इहि जग कौन भरोसा, काके संगि ह्वै रहिए।
गनिका के घरि बेटा जाया, पिता नाँव किस कहिए ॥
कहैं कबीर यहु चित्र बिरोधा, बूझी अंमृत बाँनी।
खोजत-खोजत सतगुरु पाया, रहि गई आँवन जाँनी ॥

— वही, पद १८६

— साधु-सन्त पुकार-पुकारकर समझाते हैं पर यह जीव उनकी बात न सुनता न समझता, जन्म-जन्मान्तर से अज्ञान-निद्रा में सोया पड़ा है, जागना चाहता ही नहीं। आहार-निद्रा-मैथुन आदि जो चेष्टाएँ विविध योनियों में जन्म लेकर करता आ रहा है उन्हीं में लगा हुआ उन्हीं के फलस्वरूप ठगा जाता हुआ बार-बार जन्म लेता और मरता चला जा रहा है, ठीक वैसे ही, जैसे रहँट के पात्र जहाँ के तहाँ वँधे हुए कुएँ में नीचे-ऊपर आते-जाते रहते हैं। सद्गुरु को छोड़कर इस संसार में और किसका भरोसा किया जा सकता है, विश्वास करने योग्य और है ही कौन जिसके साथ रहा जा सके। सद्गुरु को छोड़कर जो लोग अन्य अनेक देवी-देवताओं की उपासना में लगे रहते हैं उनमें अनन्यता का भाव कैसे हो सकता है, फलतः वे किसे अपना कहेंगे, जैसे किसी वेश्या को पुत्र उत्पन्न हो जाय तो वह अपने पिता का क्या नाम वतलाएगा ? सन्त कबीर कहते हैं कि मैं इस चित्रवत् जड़, मिथ्या संसार का विरोध करता अर्थात् इसमें मन न लगाने की बात करता हूँ क्योंकि सद्गुरु की अमृतमयी वाणी का अर्थ मेरी समझ में आ गया है। बहुत समय से खोज करते-करते मैंने सद्गुरु को पा लिया है। उनकी कृपा से अब मेरा आना-जाना यानी जन्म-मरण का चक्कर समाप्त हो गया है।

बिखिया अजहुँ सुरति सुख आसा।
होन न देइ हरि चरन निवासा ॥
सुख माँगे दुख आगे आवै, तातें सुख मांग्या नहिं भावै।
जा सुख तैं सिव बिरंचि डरांनां, सो सुख हमहूँ साँच करि जांनां।
सुख छाँड़ा तब सब दुख भागा, गुर कै सबदि मेरा मन लागा।
कहै कबीर चंचल मति त्यागी, तब केवल रांम नांम लौ लागी ॥

— वही, पद १६२

– अरवों-खरवों वर्षों से जिन विषयों का सुख भोगते आ रहे हैं उनसे अभी भी जी नहीं भरा। आज भी उन्हीं विषयों का सुख पाने की आशा में मन अटका हुआ है। यह विषयसुख पाने की आशा अपने इष्टदेव, परव्रह्म परमात्मा के नित्य अवतार सन्त-सद्गुरु के चरणों में मन को स्थिर होने ही नहीं देती। जव-जव हमने सुख की माँग की तव-तव दुःख ही पहले प्राप्त हुआ। इसलिए अव तो सुख माँगना ही अच्छा नहीं लगता। आश्चर्य है कि जिन विषयों के सुख से व्रह्मा और शिव भी डरते हैं उसे हम सच्चा समझते हैं उसे पाने की कामना करते हैं। जव हमने विषयसुख की चाह छोड़ दी तो सारे दुःख हमसे दूर भाग गए और अव सद्गुरु से प्राप्त शव्द अर्थात् परानाम में हमारा मन लग गया। सन्त कवीर कहते हैं कि जव हमने मन की चंचलता छोड़ दी अर्थात् वार-वार विषयों का चिन्तन त्याग दिया तो अव केवल रामनाम अर्थात् सद्गुरु से प्राप्त परानाम में मन स्थिर हो गया।

भजि गोविंद भूलि जनि जाहु।
मनिषा जनम कौ एही लाहु ॥
गुर सेवा करि भगति कमाई, जो तैं मनिखा देही पाई।
या देही को लोचैं देवा, सो देहीं करि हरि की सेवा।
जव लगि जुरा रोग नहिं आया, जव लगि काल ग्रसै नहिं काया।
जव लगि हीन पड़े नहिं वानी, तव लगि भजि मन सारंगपांनी।
अव नहिं भजसि भजसि कव भाई, आवै अंत भज्यो नहिं जाई।
जे किछु करहि सोई ततसार, फिरि पछिनाहु न पावहु पार।
सेवक सो जो लागै सेव, तिनही पाया निरंजन देव।
गुर मिलि जिनके खुले कपाट, वहुरि न आवै जोनीं वाट।
यहु तेरा औसर यहु तेरी वार, घट ही भीतरि देखु विचारि।
कहै कवीर जीति भावै हारि, वहु विधि कह्यौं पुकारि पुकारि ॥

– वही, पद २०२

– सांसारिक मोह-माया में फँसकर भगवान् को भूले हुए हे मानव ! गोविन्द का भजन कर ले, उसे भूल मत जा क्योंकि चौरासी लाख योनियों में आहार-निद्रा आदि तो समान रूप से प्राप्त होते हैं, केवल मनुष्य योनि ही कर्मयोनि है, अन्य सव योनियाँ मात्र भोगयोनियाँ हैं, अतः मनुष्य होकर ईश्वर का भजन कर लेना ही इस जन्म

का सबसे बड़ा लाभ है। शूकर-कूकर कीट-पतंग आदि योनियों में तुझे भटकते देख प्रभु को दया आई और उन्होंने इस चक्र से छूटने के लिए तुझे मनुष्य-शरीर दे दिया –

कबहुँक करि करुना नर देही। देत ईस बिनु हेतु सनेही ॥

अब सौभाग्य से जब तूने मनुष्य-शरीर पा ही लिया है तो अब सद्गुरु की सेवा करके भक्ति की कमाई कर ले। यह मनुष्य-देह पाने के लिए देवता भी ललचते रहते हैं क्योंकि जीव को तत्त्वज्ञान केवल मनुष्य-शरीर में ही हो सकता है। ऐसा बहुमूल्य शरीर पाकर हरि की सेवा कर ले। प्रत्यक्ष वर्तमान तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु ही दर्शन मात्र से तत्काल पापों का हरण करनेवाले हरि हैं –

संत दरस जिमि पातक टरहीं।

हे मन, जब तक तेरे इस शरीर में बुढ़ापा नहीं आ जाता, इसे रोग नहीं घेर लेते, जब तक वाणी क्षीण नहीं पड़ जाती और जब तक मृत्यु इसे दबोच नहीं लेती तब तक शार्ङ्गपाणि, भगवान् विष्णु, 'नर रूप हरि' सद्गुरु का भजन कर ले, मन-वचन-कर्म से उनका सेवन, उनकी सेवा कर ले, यही भजन है। भाई, यदि अभी भजन नहीं कर लेते तो फिर कब करोगे ? यदि सोचते हो कि अन्त समय आते-आते कर लेंगे, तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि 'जनमत मरत दुसह दुख होई'। उस समय मन भयानक शारीरिक-मानसिक पीड़ा में केन्द्रित हो जायगा, तव भजन कैसे होगा ! अतः इसी समय जो कुछ कर लोगे वही सार तत्त्व है, अभी न करने से फिर केवल पछतावा ही रह जायगा, संसारसागर को पार नहीं कर सकोगे। कहने मात्र से कोई सेवक नहीं हो जाता, सेवक वस्तुतः वही होता है जो सेवा में लग जाय। ऐसे ही सेवक ने उस निर्विकार परमात्मा को प्राप्त किया है। जिन्हें सद्गुरु प्राप्त हो गए हैं और उनकी सेवा तथा आज्ञापालन द्वारा उनकी कृपा से जिनके हृदय के बन्द नेत्र खुल गए हैं ऐसे जीव फिर योनिमार्ग से नहीं आते अर्थात् इस संसार में जन्म नहीं लेते। जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होने का यह अवसर जो प्रभु ने तुझे दिया है उससे लाभ उठाने के लिए तुझे सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई साधना में जुट जाने के लिए ऐसा समझकर कमर कस लेनी चाहिए कि अव मेरी ही वारी है मुक्त होने की। अपने मन के भीतर ही विचार करके देख ले। सन्त कवीर कहते हैं कि मैंने तो पुकार-पुकारकर अनेक प्रकार से तुझे समझा दिया। अव तू चाहे वाजी जीत ले या हार जा, जो तुझे अच्छा लगे सो कर अर्थात् चाहे तो सद्गुरु की सेवा करके

उन्हें प्रसन्न कर ले और उनकी कृपा से जीवन्मुक्ति का, ब्रह्म-साक्षात्कार का आनन्द ले, चाहे तो कीट-पतंग आदि की तरह विषयों में रमण करता रह और संसार में जन्म लेता और मरता रह।

गुरुदेव ग्यानी भयौ लगनियाँ, सुमिरन दीन्हौ हीरा।
बड़ी निसानी नाँव राँम की, चढ़ि गयौ कीर कबीरा॥

— वही, पद २१७

— तत्त्वज्ञानी सद्गुरुदेव मेरे जमानतदार बन गए और उन्होंने मुझे स्मरण के लिए हीरास्वरूप बहुमूल्य परानाम प्रदान कर दिया। रामनाम, जो सद्गुरुदेव ने मुझे प्रदान किया है, यह बड़ी ऊँची, मजबूत सीढ़ी है जिसके सहारे चढ़कर यह कबीर-रूपी तोता पराविद्या के क्षेत्र में, सच्चिदानन्द के धाम में पहुँच गया।

तन मन डस्यो भुजंग भाँमिनीं लहरइं वार न पारा।
गुर गारड़ू मिल्यौ नहिं कबहूँ, पसर्‌यौ बिख बिकरारा॥

— वही, पद २२३

— मेरे तन-मन को कामिनीरूपिणी नागिन ने डँस लिया है। उसका विष ऐसी लहरें मार रहा है जिसका कोई अन्त नहीं है। इस नागिन का विष नष्ट करनेवाले एकमात्र सद्गुरु हैं जो मुझे कभी मिले नहीं। परिणाम यह है कि वह विकराल विष अर्थात् नारी का प्रबल आकर्षण तन-मन में, नस-नस में फैल गया है।

आपुहि मूल फूल फुलवारी, आपुहि चुनि चुनि खाई।
कहहिं कबीर तेई जन उबरे, जेहि गुरु लिया जगाई॥

— वही, पद २६१

— माया ही इस संसार-वृक्ष की जड़ है, इसका फूल भी वही माया है, वही फुलवारी अर्थात् चराचररूप सारी सृष्टि है। वह माया ही इस संसाररूपी उपवन के फल-फूल चुन-चुनकर खा रही है अर्थात् इस चराचर सृष्टि की उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय करने वाली केवल माया ही है। इसके प्रभाव से केवल वही बच पाता है जिसे सद्गुरु ने कृपा कर मोहनिद्रा से जगा लिया है।

आपै गुरू क्रिपा कछु कीन्हाँ, निर्गुन अलख लखाई।
सहज समाधि उनमुनी जागै, सहज मिलै रघुराई॥
जहँ जहँ देखौं तहँ तहँ सोई, मन मानिक वेध्यो हीरा।
परमतत्त्व गुरु ही से पावै, कहै उपदेस कबीरा॥

— वही, पद २६५

— सद्गुरु ने स्वयं ही ऐसी कृपा की कि निर्गुण-निराकार, किसी भी तरह न देखा जा सकनेवाला आत्मतत्त्व दिखा दिया। इसके बाद मेरी सहज समाधि लग गई, उन्मनी अवस्था जाग गई अर्थात् मन संकल्प-विकल्प से रहित होकर केवल सद्गुरुदेव में ही समा गया और बड़ी सरलता से रघुराई, जीवों के स्वामी, सर्वेश्वर प्राप्त हो गए। अब तो जहाँ-जहाँ देखता हूँ, वही-वही दिखाई देता है, मनरूपी माणिक्य को आत्मारूपी हीरा ने बेध दिया है, अर्थात् मन में आत्मा ही समा गया है, मन आत्मरूप हो गया है। अब कबीर स्वयं अनुभव करके संसार को यह उपदेश दे रहा है कि परमतत्त्व केवल सद्गुरु से ही पाया जा सकता है, उसे पाने का और कहीं कोई उपाय नहीं है।

सति राम सतगुरु की सेवा, पूजहु रांम निरंजन देवा ॥
जल कै मंजन जो गति होई, मीनां नित ही न्हावै।
जैसा मीनां तैसा नरा, फिरि फिरि जोनी आवै ॥
मन मैं मैला तीर्थ न्हावै, तिनि बैकुंठ न जाँना।
पाखंड करि करि जगत भुलाँनाँ, नाँहिन राँम अयाँनाँ ॥
हिरदै कठोर मरै बानारसि, नरक न बंच्या जाई।
हरि को दास मरै जो मगहरि, सेनाँ सकल तिराई ॥
पाठ पुराँन वेद नहिं सुमृत, तहाँ बसै निरकारा।
कहै कबीर एक ही ध्यावो, बावलिया संसारा ॥

— वही, पद ३०८

— सन्त कबीर कहते हैं कि 'राम सद्गुरु' की सेवा ही सत्य है। राम सद्गुरु का अर्थ है ऐसे सद्गुरु जो अपने राम यानी सद्गुरु से मिलकर एकाकार हो चुके हों। ऐसे सद्गुरुरूपी राम, निरंजन देव की पूजा करो। तत्त्वज्ञानी सन्त-सद्गुरु ही निरंजन (अंजनरहित, गुणातीत, मायातीत) देव हैं। अन्य अवतार आदि मायायुक्त होते हैं और अवतार लेकर वे भी सन्त-सद्गुरु की सेवा-पूजा करने का उपदेश देते हैं तथा स्वयं भी उनकी सेवा-पूजा करके वैसा ही आदर्श प्रस्तुत करते हैं। जल में नहाने से यदि सद्गति प्राप्त होती तो मछली तो सदा स्नान ही करती रहती है किन्तु उसकी सद्गति नहीं होती। तब जैसी मछली, वैसा ही मनुष्य, दोनों ही बार-बार योनिमार्ग से आते रहते हैं अर्थात् जन्म लेते और मरते रहते हैं। जिनका मन मैला है वे यदि तीर्थ में स्नान करते हैं तो उनका शरीर ही बाहर से स्वच्छ होता है, मन पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता, जबकि प्रधानता है मन के पवित्र होने

की। दूषित मनवाले ऐसे लोग वैकुण्ठ नहीं जा सकते। अज्ञान में डूबा सारा संसार पाखण्ड कर-करके भूला हुआ है। राम ऐसे अनजान या नादान नहीं हैं कि तुम्हारा पाखण्ड न समझ पावें। दया-धर्म से रहित, कठोर हृदयवाला वाराणसी में ही क्यों न मरे, वह नरक जाने से बच नहीं सकता, जबकि हरि का दास यानी सद्गुरु का सेवक यदि मगहर में भी शरीर छोड़े तो अपने साथ अपनी सारी सेना अर्थात् सारे आत्मीय जनों को भी भवसागर पार करा देता है। जहाँ पुराणों के पाठ तथा वेदों-स्मृतियों की पहुँच नहीं है वहाँ निराकार सच्चिदानन्द परमात्मा निवास करता है, अतः अन्य देवी-देवता, तीर्थ-व्रत, वेद-पुराण आदि के चक्कर में न पड़कर एकमात्र सद्गुरु का ही ध्यान करो। सद्गुरु को छोड़कर दूसरे प्रकार की उपासनाओं अथवा उपायों में लगे हुए संसार के लोग तो बावले हैं।

विद्या न पढ़उँ बाद नहिं जानौं, हरि गुन कथत सुनत बउरानौं।
आपि न बौरा रांम कियौ बउरा, सतिगुरु जारि गयौ भ्रम मोरा॥

— वही, पद ३०६

— सन्त कबीर कहते हैं कि न तो मैं विद्या पढ़ता हूँ, न शास्त्रार्थ अथवा तर्क करना जानता हूँ। किन्तु मैं हरि के गुण, सद्गुरु के गुण कहते-सुनते ही बौरा जाता हूँ, पगला जाता हूँ। मैं अपने से नहीं बौराया हूँ, राम ने ही मुझे बावला बना रखा है। मेरे सद्गुरु ने मेरा सारा भ्रम जला डाला है, अब मुझे सब तरह से समाधान प्राप्त है, कहीं किसी प्रकार का कोई सन्देह नहीं रह गया।

सभै मदिमाते कोऊ न जाग, संग ही चोर घरु मुसन लाग।
जोगी माते धरि धियांन, पंडित माते पढ़ि पुरान।
तपा जु माते तप कै भेव, सन्यासी माते अहंमेव।
जागै सुखदेउ ऊधौ अकूरु, हणमंत जागै लै लंगूरु।
संकर जागै चरन सेव, कलि जागे नांमां जैदेव।
जागत सोवत बहु प्रकार, गुरुमुखि जागै सोई सारु।
चंचल मन के अधम काम, कहै कबीर भजु रांम नांम॥

— वही, पद ३१०

— संसार में प्रायः सभी लोग किसी न किसी नशे में चूर हैं, कोई जाग नहीं रहा है। काम-क्रोध आदि चोर साथ ही लगे हुए हैं जो घर को खोखला करते रहते हैं। योगी ध्यान करके, पंडित पुराण पढ़कर, तपस्वी तपस्या करके तथा संन्यासी अहंकार

करके मदमत्त हैं। शुकदेव, उद्धव, अक्रूर तथा पूँछ धारण किए हनुमान् अवश्य जाग्रत् अवस्था में रहे हैं। शंकर भी अपने इष्टदेव की चरणसेवा करके जागते रहते हैं। इधर कलियुग में सन्त नामदेव और जयदेव जागते रहे हैं। इस तरह जागने और सोने के यद्यपि बहुत से प्रकार हैं किन्तु वास्तव में जागने का वही प्रकार सार है, सर्वश्रेष्ठ है, जिस प्रकार गुरुमुख यानी सद्गुरु का शिष्य जागता है। मन का स्वभाव ही चंचल है अतः अपने मन से जो मनमाने काम होंगे वे निम्नकोटि के ही होंगे। सद्गुरु क्योंकि जाग्रत्-स्वप्न-सुषुप्ति-तुरीय चारों अवस्थाओं को पार किए होते हैं अतः उनके आदेश के अनुसार चलने से जीव हर कदम पर ऊपर की ओर, उन्नति की ओर बढ़ता चला जायगा। इसलिये सन्त कबीर कहते हैं कि सद्गुरु ने जो नाम का उपदेश किया है उसका उन्हीं के द्वारा उपदेश की हुई विधि से भजन करो, यही सार है।

सरवर तटि हंसिनी तिसाई, जुगति बिनां हरि जल पिया न जाई॥
कुंभ लिए ठाढ़ी पनिहारी, गुन बिन नीर भरै कैसे नारी।
कहै कबीर गुर एक बुधि बताई, सहज सुभाइ मिलै रांम राई॥

— वही, पद ३११

— सरोवर के तट पर हंसिनी प्यासी बैठी है किन्तु युक्ति के बिना वह जल नहीं पी पाती। ऐसे ही खाली घड़ा लिये पनिहारिन पानी भरने के लिये खड़ी है किन्तु रस्सी पास में न रहने के कारण वह स्त्री पानी कैसे भरे ? तात्पर्य यह है कि ईश्वर प्रत्येक प्राणी के शरीर के भीतर विराजमान है किन्तु उसके दर्शन का आनन्द जीव को चाहते हुए भी नहीं मिल पाता, क्योंकि वह नहीं जानता कि कहाँ से कैसे भीतर प्रवेश करके उस परमात्मा का दर्शन कर लिया जाय। शरीर के भीतर, जहाँ परमात्मा विराजमान हैं वहाँ तक पहुँचने की युक्ति जानना महत्त्वपूर्ण है। सन्त तुलसीदास कहते हैं —

अस प्रभु हृदय अछत अबिकारी। सकल जीव जग दीन दुखारी॥
आनँद सिंधु मध्य तव बासा। बिनु जाने कस मरसि पियासा॥

सन्त कबीर अपना अनुभव बतलाते हुए कहते हैं कि ऐसी कठिन घड़ी में सद्गुरु ने एक ऐसी बुद्धि दी यानी भजन की युक्ति वतला दी जिसके अनुसार अभ्यास करने से सहज ही राम राजा अर्थात् अपनी देह के भीतर विराजमान सच्चिदानन्द परमात्मा का दर्शन हो गया।

सार सुख पाइए रे, रँगि रहु आत्मांरांम।
वनहिं बसें का कीजिऐ, जौ मन नहिं तजै बिकार।
घर बन समसरि जिनि किया ते बिरला संसार॥
का जटा भसम लेपन किए कहा गुफा में बास।
मन जीतें जग जीतिऐ जौं बिखिया तैं रहै उदास॥
कहै कबीर क्रिपा भई गुरु ग्यान कहा समझाइ।
हिरदै स्री हरि भेटिया अब मन अनत न जाइ॥

—वही, पद ३१७

—हे जीव, शरीर के अनित्य सुख-दुःख से ध्यान हटाकर मन को आत्मा यानी शरीर के भीतर बैठे सद्गुरुदेव के रंग में रँग लो और उन्हीं से रमण करते हुए सच्चा, शाश्वत सुख प्राप्त करो। जंगल में रहकर ही क्या कर लोगे यदि तुम्हारा मन कामादि विकारों का त्याग न करे। घर में रहकर ही जिन्होंने अपने मन को विषयों से हटा लिया है उनके लिये घर और वन दोनों बराबर हैं। किन्तु ऐसा पुरुष संसार में कोई बिरला ही होता है। जटाएँ बढ़ाने, भस्म रमाने अथवा गुफा में रहने से कोई लाभ नहीं है। यदि विषयों के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाय और मन पर विजय प्राप्त हो जाय तो समझो सारे संसार को जीत लिया। सन्त कबीर कहते हैं कि सद्गुरुदेव की बड़ी कृपा हुई जो उन्होंने मुझे समझाकर ज्ञान प्रदान कर दिया। अब तो हृदय के भीतर ही श्री हरि का यानी सद्गुरुदेव के तात्त्विक स्वरूप सच्चिदानन्द का साक्षात्कार हो गया। उन्हें छोड़कर अब मेरा मन अन्यत्र कहीं नहीं जाता।

सहज ध्यान रहु, सहज ध्यान रहु, गुरु के वचन समाई हो।
मेली सिस्टि चरा चित राखहु, रहहु दिस्टि लौ लाई हो।
जस दुख देखि रहहु यहि अवसर, अस सुख होइहै पाए हो॥

—वही, परिशिष्ट १ (३) कहरा १

—सन्त कबीर कहते हैं कि हे जीव, सद्गुरु के उपदेश-वचन में समाकर सहज ध्यान में तन्मय हो जाओ। यह सृष्टि जड़-चेतन-गुण-दोषमय है अतः इससे अपने चंचल मन को रोककर दूर रखो, उसे इसमें आसक्त मत होने दो तथा अपनी दृष्टि को स्थिर करके सद्गुरु द्वारा उपदेश किए हुए सहज ध्यान में लौ लगाए रहो। धैर्य रखो, इस समय साधना-अभ्यास में जैसे दुःख का

अनुभव कर रहे हो, ऐसे ही जिस समय अपने भीतर परमात्मा का साक्षात्कार होगा, उस समय अपार सुख का अनुभव करोगे।

सन्त रैदास (रविदास)

सन्त कबीर के ही समय में प्रसिद्ध गृहस्थ सन्त हुए हैं सन्त रैदास (रविदास) जी। ये भी स्वामी रामानन्दजी के शिष्य थे। सन्त मीराबाई इन्हीं की शिष्या थीं। ये स्वावलम्वी थे। नीची जाति में उत्पन्न हुए थे, पढ़े-लिखे कुछ नहीं थे। परम्परा के अनुसार जूते सीकर आजीविका चलाते थे। साधु-सन्तों की सेवा में सदा तत्पर रहा करते थे। आप अपने शरीर को सदा काम में लगाए रखने के पक्ष में थे। आपकी त्यागवृत्ति और सन्तोष की भावना अनुपम थी।

एक बार एक साधु सन्त रैदासजी की कुटिया में पधारे। सेवा-सत्कार ग्रहण कर जाने लगे तो आपकी गरीबी से द्रवित हो आपको एक पारस मणि देकर बोले – 'इसे लोहे से स्पर्श करा देंगे तो लोहा सोना बन जायगा। जब जितनी जरूरत हो, सोना बना लिया कीजिएगा।' उन्होंने लोहे का एक छोटा सा औजार सोनें में बदलकर दिखा भी दिया।

रैदासजी ने विनम्र होकर कहा – महाराज, मुझे प्रभु ने जितना जो कुछ दिया है उससे मेरी सभी जरूरतें पूरी हो जाती हैं, इससे अधिक की मुझे कोई आवश्यकता नहीं पड़ती। माया बढ़ने से प्रपंच भी तो बढ़ जाता है –

पारस मनि मुहि रतु नहिं भावै, जग जंजार न थोरा।
कहि रविदास तजि सभ त्रिस्ना, इकु रामचरन चित मोरा॥

बहुत कहने पर जब रैदासजी ने पारस मणि लेना स्वीकार नहीं किया तो साधु ने सोचा – अभी नहीं ले रहे हैं, सम्भव है जब गरीबी अधिक सताए तो प्रयोग कर लें। ऐसा सोचकर उन्होंने कुटिया के छप्पर में एक जगह उसे दबाकर रख दिया और उनसे कह भी दिया।

तेरह महीनों के बाद जब वे साधु पुनः लौटकर आए और पारस मणि के विषय में पूछा तो आपने कहा – 'मैने उसे देखा भी नहीं, मैं उसके विषय में कुछ नहीं जानता, आपने जहाँ रखा होगा, वहीं पड़ा होगा, देख लें।' साधु ने जाकर देखा तो जहाँ जैसे रख गए थे वैसे ही पड़ा मिल गया। वे आश्चर्यचकित हो गए और उन्हें नमन करके अपना पारस मणि लेकर चले गए।

उन्हीं ब्रह्मस्वरूप महान् सन्त रैदासजी की सद्गुरु की महत्ता और अनिवार्य आवश्यकता दर्शानेवाली कुछ सूक्तियाँ यहाँ सादर उद्धृत हैं।

हरि गुर साध समान चित नित आगम तत मूल।
इन विच अंतर जिन परौ करवत सहन कबूल ॥

— गुरु रविदास, पृ० ११६

— सन्त-सद्गुरु और हरि समान चित्तवाले होते हैं। इनका चैतन्य एकरूप होता है, सद्गुरु हरि होते हैं और हरि सद्गुरु होते हैं। सदा से शास्त्रों का यही मूल तत्त्व रहा है। काशी-करवत लेने (काशी जाकर आरे के नीचे बैठकर अपना शरीर कटा डालने) का कष्ट सह लेना मंजूर है पर कोई कहे कि हरि और सन्त-सद्गुरु को भिन्न-भिन्न समझो, तो यह बात कदापि मंजूर नहीं।

संत तुझी तनु, संगति प्रान, सतिगुर गिआन जानै संत देवादेव।
संत ची संगति, संत कथा रसु, संत प्रेम माझै दीजै देवादेव ॥रहाउ ॥
रविदास भणै जो जाणै सो जाणु, संत अनंतहि अंतरु नाहि।

— वही, पृ० ११६

— हे परमात्मा, सन्त ही आपका शरीर है और सन्तों की संगति आपका प्राण है। परन्तु सन्त को पहचानने का ज्ञान सद्गुरु के ही पास है, उन्हीं के दिए हुए ज्ञान से सन्त की पहचान होती है। हे देवाधिदेव, आप मुझे सन्तों की संगति, सन्तों की कथा में रस और सन्तों के प्रति प्रेम प्रदान कीजिए। सन्त रैदास कहते हैं कि वास्तव में ज्ञानी वही है जो यह जानता है कि संत और अनन्त में कोई अन्तर नहीं है। सन्त तुलसीदास का वचन है —

संत भगवंत अंतर निरंतर नहीं किमपि मतिमंद कह दास तुलसी।

— विनयपत्रिका, पद ५७

गुरु ग्यांन दीपक दिया, वाती दई जलाय।
रविदास हरि भगति कारनै जनम मरन विलमाय ॥
अंधला जौ पाइहि, तौ सिष भयौ निरंध।
रविदास गुर ग्यांन चाषु विना, किमि मिटइ भ्रम फंद ॥
माइआ दीपकु पेषि करि, नर पतंग अंधियाय।
रविदास गुरु रा ग्यांन बिनु, विरला कौ वचि जाय ॥

— वही, पृ० ११९

— सद्गुरु ने ज्ञानदीपक दिया और उसकी वत्ती भी जला दी। सन्त रविदास कहते हैं कि इस प्रकार सद्गुरु ने अपनी भक्ति कराकर मेरा जन्म-मरण का चक्कर

समाप्त कर दिया। अन्धा मनुष्य यदि सद्गुरु को प्राप्त कर लेता है तो उसका अन्धा-पन दूर हो जाता है। सन्त रैदास कहते हैं कि सद्गुरु से प्राप्त ज्ञाननेत्र से देखे विना भ्रम का फन्दा (सत्य को झूट और झूठ को सत्य समझना) भला कैसे मिट सकता है ! मायारूपी दीपक को देखकर मनुष्यरूपी फतिंगा अन्धा हो जाता है अर्थात् बिना आगे-पीछे का विचार किए उससे लिपटने को दौड़ पड़ता है और नतीजा यह होता है कि जलकर मर जाता है। सन्त रैदास कहते हैं कि सद्गुरु से ज्ञान प्राप्त किए बिना संसार में कोई विरला ही मनुष्य होगा जो बच जाय।

भौ सागर दुतर अति किधुं मूरिष यहु जान।
रविदास गुरु पतवार है, नाम नाव करि जान ॥
दिल दरियाव हीरा लाल है, गुरमुख समझ परै।
मरजी बाकी सैन बिचारै, तउ हीरा हाथ परै ॥

— वही, पृ० १२०

— अरे मूर्ख मनुष्य, क्या तू नहीं जानता कि भवसागर को पार करना अतिशय कठिन काम है ? सन्त रैदास कहते हैं—यह जान ले कि सद्गुरु से प्राप्त नाम ही नाव है और सद्गुरु ही उस नाव की पतवार हैं।

सन्त रैदास कहते हैं कि आदमी का दिल ही दरिया है जिसके भीतर अतिशय वहुमूल्य हीरा, लाल आदि बहुत तरह के रत्न भरे पड़े हैं। यदि सद्गुरु की मौज हो और उनके इशारों को कोई समझ ले, उन पर विचार करे, अमल करे तभी वे वहुमूल्य हीरा आदि रत्न हाथ लग सकते हैं।

गुरु सभु रहसि अगमहि जानैं।
ढूंढ़ै कोउ षट सास्त्रन मंह, किधुं कोउ बेद बखानै ॥
सांस उसांस चढ़ावै बहुविध, बैठहिं सूंनि समाधी।
फांटूयौ कानु भभूत तनु लाई, अनिक भरमत वैरागी ॥
तीरथ वरतु करी बहुतेरे कषा बस्त बहु सानै।
कहि रविदास मिल्यौ गुर पूरौ, जिहि अंतर हरि मिलानै ॥

— वही, पृ० १२०

— इस मनुष्य-शरीर के भीतर विराजमान परमात्मा तक पहुँचने के अगम्य रहस्यों को केवल सद्गुरु ही जानते हैं। कोई उसे षट्शास्त्रों में ढूँढ़ते हैं, कोई वेद का पाठ और उसकी व्याख्या करते रहते हैं। कोई अनेक प्रकार से साँस लेते-छोड़ते

हैं, प्राणायाम साधते हैं तो कुछ लोग शून्य में समाधि लगाए बैठे रहते हैं। कोई अपने कान फाड़े हुए हैं, कोई शरीर में भस्म रमाते हैं तथा बहुत से लोग बैरागी बने फिरते हैं। बहुतेरे लोग तीर्थ-व्रत करने में लगे हैं तो बहुत से लोग गेरुए वस्त्र पहने हुए हैं। सन्त रैदास कहते हैं कि अपने शरीर में विराजमान परमात्मा के साक्षात्कार के लिए किए गए ये सारे उपाय व्यर्थ हैं। मुझे तो पूर्ण सद्गुरु मिल गए हैं जिन्होंने घट के भीतर ही बैठे प्रभु से मुझे मिला दिया है।

सतगुर हमहु लषाई बाट।
जनम पाछले पाप नसाने, मिटिगो सबु संताप॥
बाहरि षोजत जनम गंवाए, उनमनि ध्यान रहे घट आप।
सबद अनाहद बाजत घट मंह, अगम ग्यान भौ गुर परताप॥
धनदारा मंह रहियो मगन नित, गुन्यौ न मिचु कौ ताप।
कहि रविदास गुरु राह दिषावइ, त्रिषा बुझि मिटि मन संताप॥

— वही, पृ० १२१

— सद्गुरु ने मुझे शरीर के भीतर विराजमान प्रभु से मिलने का मार्ग यानी उपाय बतला दिया। उस मार्ग पर चलने से मेरे पिछले अरबों-खरबों जन्मों के संचित पाप नष्ट हो गए, मेरा सब सन्ताप, तीनों प्रकार के दैहिक, दैविक, भौतिक कष्ट मिट गए। मैंने मन्दिर-मसजिदों, तीर्थों तथा वेद-पुराणों में बाहर ही प्रभु की खोज करते-करते पिछले सब जन्म बिता डाले, जबकि सद्गुरु की आज्ञा मानकर उनकी उपदेश की हुई विधि से ललाट के भीतर ध्यान करने पर घट के भीतर ध्यान में ही उनका साक्षात्कार हो गया। उसके बाद घट के भीतर बजता हुआ अनहद शब्द सुनाई पड़ने लगा और सद्गुरु के प्रताप से वह ज्ञान प्राप्त हो गया जिसे सद्गुरु की कृपा के बिना कोई किसी प्रकार भी पा नहीं सकता। सद्गुरु का दर्शन होनें से पहले मैं धन और स्त्री में ही मगन रहा आया यानी कनक-कामिनी के मोह में डूबा रहा, यहाँ तक कि मृत्यु के समय होनेवाले असहनीय दारुण दुःख की भी कोई परवाह नहीं की, उसे दूर करने की कोई चिन्ता नहीं की। अब मेरे सद्गुरु ने मुझे जो राह दिखा दी है उस पर चलने से मेरी सारी प्यास बुझ गयी, सारी तृष्णा, सांसारिक विषयों की चाह समाप्त हो गयी तथा मन का सारा सन्ताप मिट गया।

रवि प्रगास रजनी जथा, गति जानत सभ संसार।
पारस मानो तांबो छुए, कनक होत नहीं बार॥

परम परस गुरु भेटीऐ, पूरब लिखत लिलाट।
उनमन मन मन ही मिले, छुटकत वजर कपाट ॥

— वही, पृ० १४६

— रैदासजी कहते हैं कि प्रकृति की लीला संसार में सभी जानते हैं कि सूर्य का प्रकाश फैलते ही रात समाप्त हो जाती है और ताँवे को पारस छुआ दिया जाय तो वह तत्काल सोना हो जाता है, क्षण भर की भी देरी नहीं लगती। इसी प्रकार ललाट में पूर्वजन्म के कर्मों का जो फल भोगना लिखा है उसके अनुसार पारसरूपी तत्त्व-ज्ञानी सद्गुरु से भेंट हो जाय तो वे मन को उन्मन (उत्-मन) अर्थात् ऊपर की ओर, दोनों भौंहों के ऊपर मस्तक के भीतर पराविद्या के क्षेत्र में जानेवाला वना देते हैं, उसका वहाँ प्रवेश करा देते हैं। तब मन गुरुमूर्ति के ध्यान और नामस्मरण के साथ एकरस हो जाता है। यही उन्मन अर्थात् मन के पार की दशा है जिसमें मन अपना संकल्प-विकल्प का स्वभाव छोड़कर गुरु के नाम और रूप में लीन हो जाता है। मन के इस प्रकार उन्मन हो जाने अर्थात् उसके संकल्प-विकल्पात्मक स्वभाव के शान्त हो जाने से एंक ऐसी उच्चतर चेतना का आविर्भाव होता है, जिससे विद्यालोक के किसी भी तरह न खुलनेवाले वज्रकपाट (वज्र के किवाड़) सद्गुरु की दया से खुल जाते हैं तथा उस आन्तरिक ध्यान में ही सद्गुरु के तात्त्विक, मायातीत स्वरूप का दर्शन पाकर जीव कृतार्थ हो जाता है।

बापुरौ सति रैदास कहै रे।
ग्यांन बिचारि चरन चित लावै हरि कै सरनि रहै रे ॥
त्रिविध संसार कवन बिधि तिरवौ, जे दिढ़ नांव न गहै रे।
नांव छाँड़ि जे डाँडे बैसे, तौ दूणा दुख सहै रे ॥
गुरु कौ सवद अरु सुरति कुदाली, खोदत कोउ लहै रे।
रांम काहु के बांटे न आयौ, सो नेकु न लभहै रे ॥

— वही, पृ० १४८

— इस दिखाई पड़नेवाले संसार को सत्य समझकर इसी में डूबने-उतरानेवाले तथा नाना प्रकार के कष्टों का अनुभव करनेवाले अरे जीव ! बेचारे रैदास सच ही कह रहे हैं। वे कहते हैं कि ज्ञानपूर्वक विचार करके सद्गुरु के चरणों में मन को लगाए रहो और उन्हीं की शरण में पड़े रहो। यदि तुम किसी बहुत बड़ी नाव

पर नहीं बैठ जाते तो दैहिक-दैविक-भौतिक तापों से परिपूर्ण अथवा त्रिगुणात्मक मायामय इस संसार को कैसे पार करोगे ?

बड़ी नाव को छोड़कर यदि कोई छोटी डोंगी में बैठ जाय तो वह तो दुगुना दुःख सहेगा ही, संसार का अनित्य सुख भी नहीं भोग सकेगा तथा पार करने के प्रयत्न में असफल होकर डूबेगा भी। सद्गुरु से शब्द यानी परानाम प्राप्त करके अपनी सुरतिरूपी कुदाली से अपने मस्तक के भीतर लगातार खोदते-खोदते कोई एक प्रभु की झलक पा लेता है। सुरति यानी ख्याल, मन या चेतना को सद्गुरु से प्राप्त नाम के सहारे दोनों भौंहो के ऊपर मध्यभाग में मस्तक के भीतर जो आदमी बार-बार प्रयत्न करके स्थिर कर लेता है ऐसा ही कोई प्रभु का कृपापात्र मनुष्य वहाँ सहस्रार पर सद्गुरु के निरंजन स्वरूप का साक्षात्कार कर पाता है। रैदासजी कहते हैं कि स्मरण रहे, परमात्मा किसी के हिस्से में पड़ी हुई वस्तु नहीं है, जिसके न मिलने पर कोई शिकायत करे या उसे पाने के लिये कही कोई दावा पेश करे। वह उपर्युक्त प्रकार की साधना द्वारा सद्गुरु की कृपा होने पर सहज ही प्राप्त हो जाता है।

मनु मेरो थिरु न रहाई।
कोटि कौतिग करि दिषरावै, इत उत जग मंहि धाई ॥
माया ममिता मोह लपटानो, दिन दिन उरझत जाई।
सुआन पुच्छ कभु होइ न सूधो, कीजहु लाख उपाई ॥
गुरु को ग्यांन प्रेम की सांटी, कुबुध कुकरम छुड़ाई।
कहि रविदास मन थिरु ह्वैसी, चलि सब छांड़ी गुर सरणाई ॥

— वही, पृ० १९८

— मेरा मन थोड़ा भी स्थिर नहीं रहता। करोड़ों तरह की चालाकी करके दिखलाता है, अपनेगलत कामों को ठीक समझाने में लगा रहता है और ठीक काम न करने, यानी स्थिर होकर भजन न करने के हजार बहाने करता है। दिन प्रतिदिन और-और उलझता जाता है, सांसारिक प्रपंच में फँसता चला जाता है। इसकी दशा ठीक कुत्ते की पूँछ जैसी है कि लाख उपाय करो, सीधी होती ही नहीं। रैदासजी कहते हैं — हे मन, सद्गुरु से प्राप्त ज्ञान और उनकी प्रेमरूपी छड़ी सब कुबुद्धि और कुकर्मों से जीव को मुक्त करा देती है अतः अब सब छोड़-छाड़कर सद्गुरु की ही शरण में चल, वहाँ चलने पर ही तू स्थिर हो सकेगा।

रविदास दास उदास तजु भ्रमु,
तपन तपु गुरु गिआन।
भगत जन भै हरन परमानन्द करहु निदान ॥

— वही, पृ० २०६

— सन्त रैदास कहते हैं कि उदास जीव, जीवन भर केवल मनमुखी कर्म करने के कारण तुझे सर्वत्र विफलता ही हाथ लगी, अतः उदास मत हो, सब तरह का भ्रम छोड़कर दृढ़ निश्चय करके अब परमानन्दस्वरूप सद्गुरु की शरण ग्रहण कर ले और उन्हीं की बताई हुई साधना करने में अपने शरीर को तपा डाल, क्योंकि सद्गुरु-देव ही अपने भक्त का भय हरण करनेवाले हैं।

धनी धरमदास

सन्त कबीर के ही शिष्य धनी धरमदासजी एक उच्चकोटि के सन्त हो गए हैं (लगभग १४३३ – १५४३ ई०)। इनकी वाणी में भी केवल सद्गुरु की उपासना का उपदेश है। सद्गुरु ही इनके राम हैं, साहेब हैं, इनके प्रीतम हैं तथा उनसे प्राप्त परानाम ही सत्तनाम है, रामनाम है। नाम की उपासना का अर्थ ही है सद्गुरु की उपासना। सद्गुरु-उपासना की महत्ता दर्शानेवाली उनकी वाणी के कुछ अंश यहाँ दिए जा रहे हैं।

गुरु मिले अगम के बासी ॥
उनके चरन कमल चित दीजै सतगुरु मिले अबिनाशी।
उनकी सीत प्रसादी लीजै, छूटि जाय चौरासी ॥
अमृत बुंद झरै घट भीतर, साध संतजन लासी।
धरमदास बिनवै कर जोरी सार सब्द मन बासी ॥

— संक्षिप्त सन्त-सुधासार, पृ० १०२, पद १

— मुझे अगम लोक में निवास करनेवाले अविनाशी सद्गुरु मिल गए हैं। अगम लोक यानी जहाँ कोई न पहुँच सके। अब उनके चरणकमलों में ही अपने मन को लगाए रहो। उनके जूठन को महाप्रसाद समझकर खाओ तो चौरासी लाख योनियों में जन्म लेना बन्द हो जायगा। इस शरीर के भीतर ही अमृत की बूँदें बरस रही हैं जिनका साधु-सन्त लोग चाशनी की तरह आनन्द लेते हैं। सन्त धनी धरमदास कहते हैं कि अब मेरा मन सद्गुरु से प्राप्त सार शब्द में बस

गया है। मैं हाथ जोड़कर उस सारशब्द और उसके अर्थ सद्गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ।

धरमदास गुरु समरथ हो जाको अदल अपार।
साहेब कबीर सतगुरु मिले आवागवन निवार॥

— वही, पृ० १०३, पद ४

— सन्त धनी धरमदास कहते हैं कि सद्गुरु परमसामर्थ्यशाली हैं जिनकी हुकूमत का कोई अन्त नहीं है। ब्रह्मा-विष्णु-महेश समेत सम्पूर्ण देवी-देवता उसी के वश में रहते हैं जो निश्छल होकर मन-वचन-कर्म से सद्गुरु की सेवा करता है। तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु ही पृथ्वी के देवता हैं, वही ब्रह्म के नित्यावतार हैं। भगवान् राम का वचन है —

मन क्रम वचन कपट तजि जो कर भूसुर सेव।
मोहि समेत विरंचि सिव वस ताके सब देव॥

— रामचरित मानस, ३।३३

धनी धरमदास कहते हैं कि मुझे सद्गुरु कबीर साहब मिल गए हैं जिन्होंने मेरा आवागमन, संसार में बार-बार जन्म लेना-मरना समाप्त कर दिया है।

सतगुरु आवौ हमरे देस, निहारौं बाट खड़ी॥
वाहि देस की बतियाँ रे लावैं संत सुजान।
उन संतन के चरन पखारौं, तन मन करि कुरवान॥
वाही देस की बतियाँ हमसे, सतगुरु आन कही।
आठ पहर के निरखत हमरे, नैन की नींद गई॥
भूल गई तन मन धन सारा, व्याकुल भया सरीर।
विरह पुकारै विरहनी, ढरकत नैनन नीर॥
धरमदास के दाता सतगुरु, पल में कियो निहाल।
आवागमन की डोरी कटि गई, मिटे भरम जंजाल॥

— वही, पृ० १०४, पद ६

— अपने इष्टदेव सद्गुरु की कान्ताभाव से उपासना करनेवाले सन्त धनी धरमदासजी उनसे विनय कर रहे हैं — हे सद्गुरुदेव, आप हमारे देश अर्थात् मेरे मस्तक के भीतर पधारें, प्रकट हों, मुझे अपने मायातीत दिव्य स्वरूप का दर्शन कराने की

कृपा करें, मैं आपके प्रकट होने की भावभूमि पर खड़ी हुई, सहस्रार पर ध्यान जमाए आपकी बाट जोह रही हूँ। उस देश की बातें अर्थात् शरीर के भीतर विद्याक्षेत्र के परम अगम्य ऊपरी मण्डलों के विषय की जानकारी सुजान सन्त ही हमें देते हैं क्योंकि वहाँ तक पहुँच उन्हीं की होती हैं। ऐसे पहुँचे हुए सन्तों पर मैं अपना तन-मन न्यौछावर करके उनके चरण धोती हूँ यानी सेवा करती हूँ। मुझे तो उन ऊपरी मण्डलों की बातें मेरे सद्गुरुदेव ने ही बतलाई हैं। उस परमधाम में पहुँचकर अपने स्वामी के वास्तविक स्वरूप का दर्शन पाने की आठों पहर प्रतीक्षा करते-करते मेरे नेत्रों से नींद गायब हो गई है। मेरा शरीर व्याकुल हो गया है। मुझे अपने तन-मन-धन की कोई सुध-बुध नहीं रह गयी। अपने इष्टदेव, अपने प्रियतम के वियोग में वियोगिनी बना मेरा जीव स्वामी को पुकार रहा है, उसके नेत्रों से आँसू बह रहे हैं। सन्त धनी धरमदास कहते हैं कि मेरी ऐसी दशा देखकर मेरे दाता सद्गुरुदेव द्रवित हो गए और पल भर में उन्होंने दर्शन देकर मुझे निहाल कर दिया। अब मेरे सारे भ्रम मिट गए और संसार में बार-बार जन्म-मरण का चक्कर समाप्त हो गया।

मैं हेरि रहूँ नैना सो नेह लगाई।
राह चलत मोहि मिलि गए सतगुरु, सो सुख बरनि न जाई।
देइ के दरस मोहि बौराए, लै गए चित्त चुराई॥
छवि सत दरस कहाँ लगि बरनौं, चाँद सुरज छपि जाई।
धरमदास विनबै कर जोरी, पुनि पुनि दरस दिखाई॥

— वही, पृ० १०४, पद ७

— मैं स्नेहपूर्वक अपनी दोनों आँखें दोनों भौंहों के मध्य मस्तक के भीतर जमाए देख रहा था। इसी प्रकार मन को दौड़ाते हुए ध्यान में मुझे अपने सद्गुरुदेव के निरंजन स्वरूप की एक झलक मिल गई। उस समय कितना अपार सुख मिला, उसका वर्णन करने की शक्ति मुझमें नहीं है। स्वामी ने अपनी एक झलक दिखाकर मुझे बावला बना दिया, मेरा चित्त चुराकर ले गए। प्रियतम की जिन सैकड़ों प्रकार की अर्थात् अनन्त शोभा का मैंने दर्शन किया उसका वर्णन कहाँ तक करूँगा, कैसे कर सकता हूँ ! उनके स्वरूप के तेज के सामने चन्द्रमा तथा सूर्य भी फीके पड़ जाते हैं। सन्त धनी धरमदास हाथ जोड़कर विनय करते हैं कि हे स्वामी, आप अपने उस स्वरूप का मुझें बार-बार दर्शन कराने की कृपा करें।

मिहरबान है साहेब मेरा। दिलभर दरसन पाऊँ तेरा ॥
तुम दाता मैं सदा भिखारी। देव दीदार मैं जाउँ बलिहारी ॥
करूँ बंदगी खिजमत दीजै। बकसो चूक दया बहु कीजै ॥
सेवक तें बिगरै सौ बारा। सतगुरु साहेव लेव उबारा ॥
सेवक औगुन साहब जानै। साहेव मन में ना गिल्यानै ॥
धरमदास लई तुम्हरि पनाह। अगले पछिले बकस गुनाह ॥

— वही, पृ० १०७, पद १५

— मेरे स्वामी सद्गुरुदेव बहुत दयालु हैं। हे स्वामी ! मेरी चाह है कि मैं जी-भर आपका दर्शन करूँ। हे प्रभु, आप सदा से दाता हैं और मैं आपके दर का भिखारी हूँ। मुझे दर्शन देने की कृपा करें। मैं बलिहारी जाता हूँ। मैं आपको प्रणाम करता हूँ, मुझे अपनी सेवा प्रदान कीजिए, मेरी भूलों को क्षमा कर दीजिए, मुझ पर दया कीजिए। सेवक से तो सैकड़ों वार अपराध होते रहते हैं किन्तु सद्गुरु स्वामी उसे उवार ही लेते हैं। स्वामी सेवक के गुप्त या प्रकट सभी अपराधों को जानते हैं पर अपने मन में सेवक के प्रति कभी ग्लानि नहीं लाते, यह स्वभाव है स्वामी का। हे सद्गुरु स्वामी, धरमदास आपकी शरण में पड़ा है, उसके अगले-पिछले सभी अपराधों को क्षमा कर दीजिए।

झरि लागै महलिया गगन घहराय ॥
खन गरजै खन बिजुली चमकै, लहर उठै सोभा बरनि न जाय।
सुन्न महल से अमृत बरसै, प्रेम अनंद होइ साध नहाय ॥
खुली किवरिया मिटीअँधियरिया, धन सतगुरु जिन दिया है लखाय।
धरमदास बिनवै कर जोरी, सतगुरु चरन में रहत समाय ॥

— वही, पृ० १०७, पद १६

— सन्त धनी धरमदास अपने शरीर के भीतर विद्यालोक के नजारों को देखकर सद्गुरु के प्रति कृतज्ञता से भर गए हैं। वे कहते हैं — गगनमहल में झड़ी लगी हुई है, आसमान गरज रहा है, क्षणभर में गरजन होने लगती है, क्षणभर में विजली चमक उठती है। ऐसी शोभा लहरा रही है कि उसका वर्णन करने की शक्ति मुझमें नहीं है। वहाँ सुन्न महल से अमृत वरस रहा है जिसमें प्रेम से आनन्दित हुए साधुजन स्नान कर रहे हैं। किवाड़ खुल गए, अँधेरा मिट गया यानी दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गयी, अब प्रकाश ही प्रकाश है। धन्य हैं सद्गुरुदेव जिन्होंने दया करके मुझे यह अद्भुत

दुर्लभ दृश्य दिखा दिया। अब धरमदास हाथ जोड़कर अपने सद्गुरुदेव की विनय, स्तुति कर रहा है और अपने सद्गुरुदेव के चरणों में समाया रहता है, विलीन हुआ रहता है।

सन्त धनी धरमदास सद्गुरु से प्राप्त परानाम की ही उपासना का उपदेश देते हुए कहते हैं –

सत्तनामै जपु, जग लड़ने दे।
यह संसार काँट की बारी, अरुझि-अरुझि के मरने दे।
हाथी चाल चलै मोर साहेब, कुतिया भुँकै तो भुँकने दे ॥
यह संसार भादों की नदिया, डूबि मरै तेहि मरने दे।
धरमदास के साहेब कबीरा, पथर पुजै तो पुजने दे ॥

– वही, पृ० १११, पद २२

– हे धरमदास, सांसारिक मिथ्या प्रपंच को सत्य समझकर पैसे-पैसे के लिये जो लोग झगड़े करते रहते हैं, तू न तो उनके बीच में पड़, न ही उनके जैसा आचरण कर। तू तो केवल सद्गुरु से प्राप्त सत्य नाम का जप करता रह। यह संसार काँटों की झाड़ियों से भरा हुआ है। जो लोग इसमें उलझ-उलझकर मर रहे हैं उन्हें मरने दे, उन्हें बचाने के चक्कर में मत पड़। मेरे स्वामी, मेरे सद्गुरुदेव निर्भय होकर जैसा चाहते हैं, जो ठीक समझते हैं वैसा चलते हैं, आचरण करते हैं और संसार के लोग उनकी आलोचना करते हैं और निन्दा करते हैं, उनका कुछ बिगाड़ नहीं पाते, जैसे गजराज मस्तानी चाल से चलता रहता है और वह जहाँ जाता है वहाँ के कुतिया-कुत्ते उसे देखकर व्यर्थ भोंकते रहते हैं। ऐसे लोगों के पीछे पड़कर अपना समय व्यर्थ नष्ट मत कर। यह संसार भादों की पहाड़ी वरसाती नदी है, उसमें जो पड़ेगा वही वह जायगा, उसकी बाढ़ से तो दूर ही रहना चाहिए। किन्तु संसार के जो लोग उसमें डूवकर मर रहे हैं उन्हें मरने दे। इसी तरह जो लोग मिट्टी-पत्थर की मूर्तियाँ पूजकर परमात्मा कों पाना चाहते हैं उन्हें वही करने दे। जन्म-जन्मान्तर से उनकी वही आदत पड़ी है, वे मानेंगे नहीं। तेरा अमूल्य समय व्यर्थ बरवाद होगा। तेरे स्वामी तो सद्गुरु कवीर साहव हैं, तू उन्हीं की सेवा में, उन्हीं के ध्यान में मगन रह और उनसे प्राप्त सत्य नाम, परानाम का उन्हीं के द्वारा उपदेश की हुई विधि से भजन करता रह।

हमरे का करे हाँसी लोग।
मोरा मन लागा सतगुरु से, भला होय कै खोर।
जब से सतगुरु-ग्यान भयो है, चलै न केहु कै जोर॥
मात रिसाई पिता रिसाई, रिसाये बटोहिया लोग।
ग्यान-खड़ग तिरगुन को मारूँ, पाँच पचीसो चोर॥
अब तो मोहि ऐसी बनि आवै, सतगुरु रचा संजोग।
आवत साध बहुत सुख लागै, जात बियापै रोग॥
धरमदास बिनवै कर जोरी, सुनु हो बंदी-छोर।
जाको पद त्रयलोक से न्यारा, सो साहेब कस होय॥

—वही, पृ० १११, पद २३

—सन्त धनी धरमदास कहते हैं—अब लोगों की हँसी हमारा क्या बिगाड़ लेगी, मेरा मन तो सद्गुरु में रम चुका है, अब चाहे भला हो या बुरा हो। जब से मैंने सद्गुरु के द्वारा दिया हुआ ज्ञान पाया है तब से अब मुझ पर किसी का जोर नहीं चलता, मेरे ऊपर किसी की बातों का कोई प्रभाव नहीं पड़ता। मेरे माता-पिता मेरे इस आचरण से नाराज हैं कि मैं केवल सद्गुरु का भक्त हो गया हूँ। इसके अतिरिक्त न तो मैं किसी देवी-देवता को पूजता, न परम्परा से चले आते मिथ्या कर्मकाण्ड के चक्कर में पड़ता। माता-पिता ही नहीं, पास-पड़ोस के लोग, आने-जानेवाले लोग भी मेरे इस आचरण पर मुझसे खिन्न हैं, पर मैं तो सद्गुरु से प्राप्त ज्ञानरूपी तलवार से ही सत्त्व-रज-तम तीनों गुणों को तथा पृथ्वी, जल, तेज, वायु और आकाश नामक पाँचों तत्त्व तथा इन पाँचों की पचीस प्रकृतिरूपी पचीसों चोरों को प्रभावहीन कर देता हूँ, मुझ पर उनका कोई जोर नहीं चलता। मेरे सद्गुरु ने कुछ ऐसा संयोग रच दिया है, ऐसी कृपा की है जिससे मेरी ऐसी बान पड़ गयी है कि किसी साधु पुरुष के आने पर मन को अतिशय सुख होता है किन्तु उनके जाते ही मानो तन-मन को कोई रोग घेर लेता है, क्लेश व्याप्त हो जाता है। धरमदासजी अपने सद्गुरुदेव से हाथ जोड़कर विनय करते हुए कहते हैं—हे संसार-बन्धन को छुड़ानेवाले सद्गुरुदेव, सुनिए, मेरे मन में बड़ा कुतूहल है कि जिनका धाम तीनों लोकों से भिन्न है वे चराचर के स्वामी भला कैसे होंगे !

सन्त नानकदेव

सिखों के विश्वप्रसिद्ध दस तत्त्वदर्शी सन्त सद्गुरु हो चुके हैं। इनका सिद्धान्त 'सिख' शब्द में ही समाया हुआ है। 'सिख' शब्द 'शिष्य' शब्द का ही विकसित रूप है। 'ष' को 'ख' भी वोलने की परम्परा रही है। कुछ लोग आज भी 'षट्' को 'खट्' बोलते हैं। तदनुसार 'शिष्य' का 'सिख्य' और फिर 'सिक्ख' या 'सिख'। इस प्रकार 'सिख' शब्द ही सद्गुरु की सत्ता और महत्ता को प्रकट और प्रमाणित कर रहा है।

इस परम्परा के प्रथम सद्गुरु श्री नानकदेवजी गृहस्थ सन्त थे (लगभग सन् १४६९ – १५३८ ई०)। स्पष्ट शब्दों में सद्गुरु का महत्त्व प्रतिपादित करने-वाली इनकी वाणी के कुछ अंश प्रस्तुत किए जा रहे हैं। इनके बाद के सन्तों की वाणियाँ भी इन्हीं के नाम से प्रकाशित और प्रचारित हैं।

निम्नलिखित दो पंक्तियाँ गुरुग्रन्थसाहब का मूलमन्त्र मानी जाती हैं। सिख समाज में इन दोनों पंक्तियों को वह महत्त्व और प्रतिष्ठा प्राप्त है जो ब्राह्मणों के मध्य गायत्री-मन्त्र को। सन्तमत की सम्पूर्ण मान्यता के आधार, तत्त्वदर्शी ब्रह्मस्वरूप सन्त-सद्गुरु की सेवा-भक्ति का स्पष्ट उपदेश इन पंक्तियों में मुखर है।

ओं सतिनामु करता पुरखु निरभउ निरवैरु
अकाल मूरति अजूनी सैभं गुर प्रसादि।

– ओम् सत्यनाम है। सम्पूर्ण चराचर सृष्टि की रचना उसी की मौज से महायोग-माया द्वारा हुई है – 'जो सृजति जग पालति हरति रुख पाइ कृपानिधान की।' सम्पूर्ण सृष्टि में पुरुष एक मात्र वही है, शेष सब जीव स्त्री हैं। 'द्वितीयाद् वै भयं भवति' – दूसरे से ही भय होता है। यतः वह एक मात्र है, अद्वितीय है, उसके अतिरिक्त दूसरा कहीं कोई है ही नहीं, अतः वह भय और वैर दोनों से रहित है। उसका स्वरूप काल की सीमा से परे है, कालातीत है, अतः वह सदा, तीनों कालों में वर्तमान रहता हुआ उसको भी अतिक्रान्त कर जाता है। वह अयोनिज है, योनि से उत्पन्न होने-वाला नहीं है। वह अपने ही सगुण साकार स्वरूप, पृथ्वी पर सदा वर्तमान ब्रह्मज्ञानी सन्त-सद्गुरु के ध्यान द्वारा अपनी ही मौज से अपने किसी परमसौभाग्यशाली भक्त शिष्य के मस्तक के भीतर प्रकट होता रहता है। इस प्रकार वह स्वयंभू है, स्वयं है और स्वयं ही अपनी मौज से प्रकट होता है। किन्तु वह सत्यनाम-स्वरूप परमात्मा केवल सद्गुरु की कृपा से ही प्राप्त हो सकता है।

काहे रे बन खोजन जाई।
सरब निवासी सदा अलेपा तोही संग समाई॥
पुहुप मध्य ज्यों बास बसत है मुकुर माहिं जस छाई।
तैसे ही हरि बसै निरंतर घट ही खोजो भाई॥
बाहर भीतर एकै जानो यह गुरु ग्यान बताई।
जन नानक बिन आपा चीन्हें मिटै न मन की काई॥

— वही, पृ० २३६, पद ६

— अरे भाई, ईश्वर की खोजने के लिये जंगल क्यों जाते हो। सब में निवास करने वाला किन्तु सबसे निर्लिप्त परमात्मा तुम्हारे साथ ही है, तुम्ही में समाया हुआ है। जैसे फूल में उसकी सुगन्ध बसी रहती है अथवा दर्पण में जैसे देखनेवाले की छाया, प्रतिबिम्ब दिखाई देता है इसी तरह ईश्वर इस मनुष्य में निवास करता है अतः इसी शरीर के भीतर उसकी खोज करनी चाहिए, इस शरीर के बाहर कहीं भी ईश्वर को खोजना व्यर्थ है। भीतर-बाहर एक जैसा ही समझना चाहिए। सन्त पीपा कहते हैं कि जो ब्रह्माण्ड में है वही पिण्ड में है —

जो ब्रह्मंडे सोई पिंडे जो खोजै सो पावै।
पीपा प्रनवै परम तत्त को सतगुरु होइ लखावै॥

किन्तु यह भेद सद्गुरु बतावेंगे तभी समझ में आवेगा। स्वयं अपने प्रयास से किसी की समझ में नहीं आ सकता। बिना सद्गुरु के उपदेश के तथा बिना उनकी आज्ञा के अनुसार चले शरीर में स्थित परमात्मा का दर्शन नहीं हो सकता। सन्त नानकदेव कहते हैं कि इस पद्धति से बिना आत्मज्ञान हुए मन की काई, मन का मैल दूर नहीं हो सकता।

पूरे गुरु का सुनि उपदेसु। पारब्रह्मु निकटि करि पेखु॥
सासि सासि सिमरहु गोबिंद। मन अंतर की उतरै चिंद॥
आस अनित तिआगहु तरंग। संतजना की धूरि मन मंग॥
आपु छोड़ि बेनती करहु। साध संगि अगनि-सागरु तरहु॥
हरिधन के भरि लेहु भंडार। नानक गुर पूरे नमसकार॥

— वही, पृ० २२४, पद १८

— हे मन, पूर्ण सद्गुरु का उपदेश सुन। फिर तो परब्रह्म तुझे अपने पास ही दिखाई पड़ने लगेगा। अपनी हर साँस के साथ गोबिन्द यानी सद्गुरु का स्मरण कर। ऐसा

करते रहने से तेरे मन के भीतर की उथल-पुथल दूर हो जायगी। सांसारिक अनित्य विषयों की आशा की लहरें जो भीतर उठती हैं उनका त्याग कर दे। इनकी जगह हे मन, सन्तजनों के चरणों की धूल माँग। अहंकार छोड़कर अपने स्वामी सद्गुरुदेव से विनती कर। साधु का संग करेगा तो यह भवसागर क्या चीज है, आग का समुद्र भी पार कर जायेगा। हरिरूपी धन से अपना भण्डार भर ले अर्थात् सद्गुरु से प्राप्त नाम का हर साँस में इस तरह लगातार स्मरण कर और उनके स्वरूप का ध्यान कर कि भीतर की कोई जगह खाली न रह जाय। सन्त नानकदेव कहते हैं कि मैं अपने पूर्ण सद्गुरुदेव को प्रणाम करता हूँ।

जपि गोविन्दु गोपाल लालु।
रामनाम सिमरि तू जीवहि, फिरि न खाई महाकालु॥
कोटि जनम भ्रमि भ्रमि भ्रमि आइओ। बड़े भाग साधु संग पाइओ॥
बिन गुर पूरे नाहीं उधारु। बाबा नानकु आखै एहु बीचारु॥

— वही, पृ० २१६, पद ५

— हे संसारी जीव, तू गोविन्द का, गोपाल लाल का जप कर। रामनाम का स्मरण करके ही तू निर्विघ्न जी सकेगा, फिर तुझे महाकाल नहीं खाएगा। करोड़ों जन्मों से तू विभिन्न योनियों में भटकते-भटकते आया है और बड़े भाग्य से तूने साधु का संग पा लिया है। बिना पूर्ण सद्गुरु के उद्धार नहीं हो सकता, बाबा नानक बहुत विचार करके यह सार बात कह रहे हैं।

'वाहे गुरु' का उद्घोष करनेवाले तथा एक मात्र पूर्ण सद्गुरु की अनन्य भाव से उपासना का उपदेश देनेवाले बाबा नानकदेव की इस वाणी में तीन बातें कही गयी हैं — १- गोविन्द का, गोपाल लाल का जप करो, २- रामनाम का स्मरण करो तथा ३- पूर्ण सद्गुरु के बिना उद्धार नहीं है। अब यदि हम अपनी बैखरी वाणी से 'गोविन्द-गोविन्द' या 'गोपाल लाल-गोपाल लाल' रटना शुरू कर दें या 'राम' इन दोनों अक्षरों का स्मरण करना शुरू कर दें तो अब सद्गुरु की क्या आवश्यकता रह गई, भजन तो हो ही रहा है जो उन्होंने कहा है तथा सभी शास्त्रों, पुराणों और रामायण आदि का भी उपदेश है। सम्भवतः इसीलिए परम्परा और पूर्वाग्रहों से जकड़े हुए हम लोग सद्गुरु की सेवा और उनसे उपदेश प्राप्त करने की अनदेखी कर देते हैं और बैखरी वाणी से इन शब्दों को बोल-बोलकर स्वयं को कृतार्थ मान लेते हैं।

किन्तु बाबा नानकदेव यहाँ सबसे अधिक जोर दे रहे हैं पूर्ण सद्गुरु पर – 'बिनु गुर पूरे नाहीं उधारु' – बिना पूर्ण सद्गुरु के उद्धार नहीं हो सकता। वस्तुतः सद्गुरु के उपदेश से ही हम जान पाते हैं कि रामनाम क्या है, उसका स्मरण कैसे होता है, तथा गोविन्द-गोपाल लाल के जप का क्या तात्पर्य है। ये तीनों बातें अलग-अलग नहीं हैं। तीनों का एक ही अर्थ है। पूर्ण सद्गुरु ही राम हैं, वही गोविन्द हैं, वे ही गोपाल लाल हैं, क्योंकि एक मात्र वही प्रत्यक्ष वर्तमान सगुण साकार ब्रह्म हैं, उसके अतिरिक्त संसार में कहीं कोई भी नहीं है जिससे हमारा प्रयोजन सिद्ध हो सके।

बाबा नानकदेवजी द्वारा विरचित सिखों के परम पवित्र ग्रन्थ 'जपुजी' का एक अंश यहाँ उद्धृत किया जाता है जिससे यह बात बिल्कुल साफ हो जाती है, यही यथार्थ है, यही सत्य है।

थापिआ न जाइ कीता न होइ। आपे आपि निरंजनु सोइ॥
जिनि सेविआ तिनि पाइआ मानु। नानक गाविऐ गुणी निधानु॥
गाविऐ सुणिऐ मनि रखी भाउ। दुख परहरि सुखु घरि लै आउ॥
गुरुमुखि नादं गुरुमुखि वेदं। गुरुमुखि रहिआ समाई॥
गुरु ईसरु गोरखु बरमा गुरु पारबती माई।
हे हउ जाणा आखा नाहीं कहणा कथनु न जाई॥
गुरा इक देहि बुझाई।
सभना जीआ का इकु दाता सो मैं विसरि न जाई॥

– वही, पृ० १२६, पद ५

इसकी हिन्दी अनुवाद है –

न वह किसी के द्वारा स्थापित होता है, और न बनाया जाता है। वह तो स्वयं ही है, और निरंजन है – माया से परे है।

जिसने उसकी सेवा की है उसे मान-प्रतिष्ठा मिली है। सो हे नानक, उसी गुणनिधान का गुणगान किया जाये।

उसके गुण गाने और सुनने चाहिएँ, और भावपूर्वक अपने मन में रखने चाहिएँ।

वह प्रभु हमें दुखों से छुड़ाकर अपने सुखधाम में ले जायगा।

गुरु की वाणी ही नाद अर्थात् आदिशब्द है, और वही वेद है, कारण कि गुरु के मुख में परमात्मा स्वयं वास करता है।

गुरु ही शिव हैं, गुरु ही विष्णु हैं, गुरु ही गोरख (गो अर्थात् पृथ्वी के रक्षक) हैं और गुरु ही ब्रह्मा हैं। पार्वती माई भी गुरु हैं, और माता लक्ष्मी भी वही हैं।

जो मैं उसे जान लूँ तो उसका बखान नहीं कर सकता, क्योंकि वह कथनी से परे है।

गुरु ही उस एक को हम पर जाहिर करेंगे। जीव का दाता, देनेवाला वह एक परमात्मा ही है और मुझे वह कभी नहीं भूलना चाहिए।

जो नरु दुख मै दुखु नहिं मानै।
सुख सनेहु अरु भै नहीं जाकै कंचन माटी मानै॥
नहिं निंदिआ नहीं उसतति जाकै लोभु मोहु अभिमाना।
हरख सोग ते रहै निआरउ नाहिं मान अपमाना॥
आसा मनसा सगल तिआगै जग ते रहै निरासा।
कामु क्रोधु जिह परसै नाहिन तिस घट ब्रह्मु निवासा॥
गुर किरपा जिह नर कउ कीनी तिह इह जुगति पिछानी।
नानक लीन भइओ गोविंद सिउ जिउ पानी संगि पानी॥

— वही, पृ० २३८, पद ५

— सन्त तुलसीदास कहते हैं कि सद्गुरु के चरणनखों की कान्ति का स्मरण करने से दिव्यदृष्टि अथवा मोहान्धकार का नाश करनेवाला परमप्रकाश उसी को प्राप्त होता है जो परमभाग्यशाली होता है —

श्री गुर पद नख मनि गन जोतीं। सुमिरत दिब्य दृष्टि हिय होती॥
दलन मोह तम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥

सन्त कबीर कहते हैं —

बलिहारी वा दास की जा घट परगट होय।

अर्थात् सद्गुरु के उस शिष्य की बलिहारी हूँ जिसके मस्तक के भीतर सद्गुरुरूपी ब्रह्म अपने मायातीत रूप में प्रकट हो जाते हैं।

सद्गुरु के ऐसे ही परमभाग्यशाली शिष्य के लक्षण बतलाते हुए बाबा नानकदेव कहते हैं — जो आदमी दुःखों के आने पर उन्हें धैर्यपूर्वक सह लेता है,

दुखी नहीं होता, जो सुख पाकर उसमें आसक्त नहीं होता, सुख नहीं मानता क्योंकि न उसे सुखों की चाह होती न वह सुख पाने के फेर में पड़ता, वह तो दिन-रात अपने आराध्य सद्गुरुदेव की आज्ञा का पालन करने में तन-मन से समर्पित रहता है। सन्त तुलसीदास का उपदेश है कि पुत्र-पत्नी आदि को स्वार्थ साधने में लगे हुए जानकर उन सवसे स्नेह मत कर, अन्यथा जीवन का अन्तिम समय आने पर पछताना पड़ेगा –

सुत दारादि जानि स्वारथरत न करु नेह सबही ते।
मन पछितैहै अवसर बीते ॥

– बिनयपत्रिका, पद १९८

अतः जो सद्गुरु तथा उनके सेवकों के अतिरिक्त किसी को स्नेह नहीं करता, महावली सद्गुरु के नाम के बल पर जो कभी किसी से नहीं डरता, श्रीराम परशुराम से कहते हैं कि ब्राह्मण वंश की प्रभुता ही ऐसी है कि जो केवल आपको डरता है वह फिर तीनों लोकों में किसी से नहीं डरता –

विप्र वंस कै असि प्रभुताई। अभय होइ जो तुमहिं डेराई ॥

जो प्रपंच और बन्धन का कारण जानकर सोने को मिट्टी समझता है, निन्दा अथवा प्रशंसा का जिस पर कोई बुरा-भला प्रभाव नहीं पड़ता, लोभ-मोह और अभिमान जिसमें नहीं रह जाते, हर्ष-शोक मान-अपमान से जो परे रहता है, जो सब तरह की सांसारिक वस्तुओं की आशा का त्याग कर देता है, संसार से किसी भलाई की आशा नहीं रखता तथा काम-क्रोध जिसे छू भी नहीं पाते, ऐसे शिष्य का घट अर्थात् मस्तक ब्रह्म का निवासस्थान होता है। किन्तु सद्गुरु जिस मनुष्य पर कृपा करते हैं वही इस युक्ति को जान पाता है जिसे अपना लेने से, जिसका अभ्यास करने से उसमें ऊपर लिखे सब गुण विना प्रयास किए स्वतः आकर समा जाते हैं। सद्गुरु से युक्ति जाने विना कोई वेद-वेदान्त पुराण-शास्त्र आदि पढ़कर अपने मन से जन्म-जन्म यत्न करता रहे तो उपर्युक्त गुणों में से एक भी गुण नहीं प्राप्त कर सकेगा। किन्तु सद्गुरु से युक्ति प्राप्त हो जाने पर शिष्य यदि उसके अभ्यास और अपनी रहनी द्वारा सद्गुरु की कृपा प्राप्त कर ले तव तो वह सद्गुरुरूपी गोविन्द से मिलकर इस तरह गोविन्दरूप हो जाता है, सद्गुरु ही हो जाता हैं जैसे किसी वर्तन का पानी जलाशय में पड़कर उसी रूप का हो जाता है।

मन रे गह्यो न गुरु उपदेस।
कहा भयो जो मूँड़ मुँड़ायो भगवा कीनो भेस॥
साँच छाँड़िके झूठहिं लाग्यो, जनम अकारथ खोयो।
करि परपंच उदर निज पोष्यो, पसु की नाईं सोयो॥
राम भजन की मति नहिं जानी, माया हाथ बिकाना।
उरझि रह्यो विषयन सँग बौरा, नाम रतन बिसराना॥
रह्यो अचेत न चेत्यो गोविंद, बिरथा अवधि सिरानी।
कह नानक हरि बिरद पछानहु भूले सदा परानी॥

— वही, पृ० २३८, पद ६

— बाबा नानकदेव अपने मन के बहाने जीव को उपदेश देते हुए कहते हैं — हे मन, तूने सद्गुरु से उपदेश नहीं लिया। क्या हुआ जो सिर मुँड़ा लिया और गेरुए कपड़े पहन लिए, यह तो बाहरी दिखावा है, सच छोड़कर झूठे संसार से चिपका रहा और इतना बहुमूल्य मनुष्य-जन्म पाकर भी व्यर्थ ही खो दिया। नाना प्रकार के प्रपंच करके केवल अपने अकेले का पेट भरता रहा और जानवरों की तरह सोता रहा। रामभजन की बुद्धि, युक्ति नहीं जानी, 'हरे राम हरे कृष्ण' बोल लिया, रामायण-गीता आदि का अर्थ-ज्ञान से रहित पाठ कर लिया और समझ लिया कि भजन हो गया, माया के हाथों बिक गया, माया का गुलाम हो गया। अरे पगले, तू विषयों (रूप-रस-गन्ध-स्पर्श-शब्द) के साथ ही उलझा रह गया, भगवन्नामरूपी रत्न को भूल गया। तू बेसुध ही रहा आया, सद्गुरु के रूप में प्रत्यक्ष वर्तमान गोविन्द को जानने का कोई यत्न नहीं किया। व्यर्थ ही आयु की सीमा समाप्त हो गई। नानकदेव कहते हैं कि संसार में भूले हुए हे प्राणी, अभी भी बात बन सकती है, जीवन के जितने दिन बचे हैं उनमें तू सद्गुरुदेव के दीनदयालुता, पतित-पावनता आदि गुणों से परिपूर्ण सुयश को पहचान ले और सद्गुरु से परानाम का उपदेश ग्रहण कर ले।

साधो, मन का मान त्यागो।
काम क्रोध संगति दुरजन की तातें अहनिसि भागो॥
सुख दुख दोनों सम करि जानै, और मान अपमाना।
हरख सोग ते रहै अतीता तिनि जग तत्त पछाना॥

असतुति निंदा दोऊ त्यागै खोजै पद निरबाना।
जन नानक यह खेल कठिन है, किनहू गुरुमुख जाना॥

—वही, पृ० २४०, पद १०

—हे भले आदमी, अपने मन का अभिमान, अहंभाव छोड़ दो। काम-क्रोध तथा दुर्जनों की संगति से दिनरात बचते रहो। सुख-दुःख मान-अपमान को जो बराबर जानते हैं तथा जो हर्ष-षोक से परे रहते हैं ऐसे लोग ही तत्त्व को पहचान पाते हैं। निन्दा-स्तुति दोनों को छोड़कर निर्वाण-पद यानी जीवन्मुक्त दशा की खोज करनी चाहिए। सन्त नानकदेव कहते हैं कि यह काम अर्थात् तत्त्वज्ञान प्राप्त करना बहुत ही कठिन काम है कोई गुरुमुख अर्थात् सद्गुरु की आज्ञा मानकर चलने वाला शिष्य ही उसे प्राप्त कर पाता है।

साधो, कौन जुगति अब कीजे।
जातें दुरमति सकल बिनासै, रामभगति मन भींजै॥
मन माया में उरझि रह्यो है, बूझै नहिं कछु ग्याना।
कवन नाम जग जाके सिमरें, पावै पद निरबाना॥
भए दयाल कृपाल संतजन तब इह बात बताई।
सरब धरम मानो तिह कीए जिन्ह प्रभ कीरति गाई॥
राम नाम नर निसि बासर में निमिख एक उर धारै।
जम को त्रास मिटै नानक तिह, अपुनो जनम सँवारै॥

—वही, पृ० २४१, पद १३

—हे साधु, अब कौन सा उपाय किया जाय जिससे सब तरह की दुर्बुद्धि का नाश हो और मन राम की भक्ति में भींग जाय। मन माया में उलझा रहता है, ज्ञान की कोई बात नहीं समझता। वह कौन सा नाम है जिसका स्मरण करने से जीव निर्वाण पद यानी जीवन्मुक्त दशा प्राप्त कर लेता है। जब कृपालु सन्त-सद्गुरु, तत्त्वदर्शी महापुरुष दयालु हुए तब उन्होंने यह बात बताई अर्थात् गुप्त परानाम का उपदेश दिया, भजन की विधि बताई और कहा कि जो चाहते हो वह इसी के भजन-अभ्यास से प्राप्त होगा। जिसने उनकी उपदेश की हुई इस विधि से उपासना की और सद्गुरु का गुणगान किया उसने मानो सभी धर्मों का पालन कर लिया। यदि मनुष्य सद्गुरु के उपदेश के अनुसार उनसे प्राप्त रामनाम को रात-दिन में एक बार निमेष भर (पलक गिरने के समय भर) भी धारण कर ले तो सन्त नानकदेव कहते

हैं कि उसके लिये यमराज का भय समाप्त हो जायगा और वह अपना यह मनुष्य-जन्म सार्थक कर लेगा।

हरि जस रे मना गाइ ले जो संगी है तेरो।
अवसर बीत्यो जात है कह्यो मान ले मेरो ॥
संपति रथ धन राज सों अति नेह लगायो।
काल फाँस जब गलि परी सब भयो परायो ॥
जानि बूझि कै बावरे तैं काजु बिगाऱ्यो।
पाप करत सकुच्यो नहीं नहिं गरब निवाऱ्यो ॥
जिहि बिधि गुरु उपदेसियो सो सुन रे भाई।
नानक कहत पुकारि कै गहु प्रभु-सरनाई ॥

— वही, पृ० २४२, पद १७

— हे मन, हरि का, 'नररूप हरि' का, सद्गुरु के गुणों का, उनके यश का गान कर ले, क्योंकि तेरे जीव का वही सच्चा साथ देनेवाले हैं। मृत्यु के समय कोई जीव के साथ नहीं जाता — 'हंस अकेला जाई'। केवल सद्गुरु ही उस समय अपने शिष्य जीव का साथ देते हैं। तेरे मनुष्य-जीवन की आयु पल-पल बीतती जा रही है अतः मेरा कहना मान ले। सम्पत्ति, रथ, धन, राज्य आदि से जो स्नेह लगाए बैठा है, इन्हें अपना मान रहा है, ये सब, जिस समय मृत्यु का फन्दा गले में पड़ेगा उस समय पराये हो जायँगे। बावले, तू जान-बूझकर अपना बना-बनाया काम बिगाड़ रहा है। पाप करते समय तू थोड़ा भी संकुचित नहीं हुआ, ऐसे गर्व से पापकर्म किए मानो कोई बहादुरी के काम कर रहा हो। बाबा नानकदेव से तेरी विनीशलीला देखी नहीं जाती, अतः वे करुणा करके तुझे पुकार-पुकारकर कह रहे हैं कि भाई, सद्गुरु ने प्रभु के भजन की जिस विधि का उपदेश दिया है उसे सुन, समझ, उसमें अपना मन लगा और प्रभु की, सद्गुरुदेव की शरण पकड़ ले।

मनुष्य रूप में वर्तमान ईश्वर के, जीवन्मुक्त महापुरुष के अथवा तत्त्वज्ञानी महापुरुष यानी सद्गुरु के लक्षण बतलाते हुए बाबा नानकदेव कहते हैं —

सुख दुख जेहि परसै नहीं, लोभ मोह अभिमान।
कह नानक सुन रे मना सो मूरत भगवान ॥

— वही, पृ० २४३, सलोक १०

— अरे मन, सुन, जिसे सुख-दुःख न व्यापते हों तथा लोभ-मोह-अभिमान जिसे छू न गए हों, नानकदेव कहते हैं कि ऐसा पुरुष ही भगवान् की मूर्ति यानी भगवान् का स्वरूप है।

जिहि माया ममता तजी, सब तें भयो उदास।
कह नानक सुन रे मना, तिहि घट ब्रह्म निवास ॥

— वही, पृ० २४४, सलोक १४

— नानकदेव कहते हैं — अरे मन, सुन, जिसने माया-ममता का त्याग कर दिया है तथा जो सबसे उदासीन, विरक्त रहता है ऐसे ही पुरुष के शरीर में ब्रह्म निवास करता है।

जो प्रानी निसदिन भजे, रूप राम तिहि जानु।
हरिजन हरि अंतर नहीं, नानक साँची मानु ॥

— वही, सलोक २०

— जो प्राणी दिन-रात प्रभु का, अपने सद्गुरुदेव का भजन करता है उसे ही राम का रूप जानो। नानकदेव कहते हैं कि हरिजन और हरि में कोई अन्तर नहीं है, मेरा यह कहना सत्य मानो।

जेहि घट सुमिरन राम को, सो नर मुकता जान।
तेहि नर हरि अंतर नहीं, नानक साँची मान ॥

— वही, पृ० २४५, सलोक २७

— सन्त नानकदेवजी कहते हैं कि जो मनुष्य अपने शरीर के भीतर ही अपने राम का, अपने सद्गुरु का स्मरण करता है उस मनुष्य को जीते जी मुक्त, जीवन्मुक्त जान लो। उस मनुष्य और ईश्वर में कोई अन्तर नहीं है, इस बात को सर्वथा सत्य मान लो।

अस्तुति निंदा नांहि जिहि, कंचन लोह समान।
कह नानक सुन रे मना, मुकत ताहि तैं जान ॥

— वही, पृ० २४३, सलोक ११

— जो व्यक्ति अपनी निन्दा अथवा प्रशंसा से बुरा-भला नहीं मानता तथा जो सोने को भी लोहे जैसा समझता है, सन्त नानकदेव कहते हैं कि हे मन, सुन, ऐसे महान् पुरुष को ही तुम जीवन्मुक्त समझ लो।

हरख सोग जाके नहीं, वैरी मीत समान।
कह नानक सुन रे मना मुकत ताहि तैं जान ॥

— वही, सलोक १२

— नानकदेव कहते हैं — सुन रे मन, जिसे हर्ष-शोक प्रभावित न करते हों, जिसकी दृष्टि में शत्रु-मित्र दोनों बरावर हों ऐसे महापुरुष को तुम जीवन्मुक्त समझ लेना।

भै काहू को देत नहिं, नहि भै मानत आनि ।
कह नानक सुन ले मना गियानी ताहि बखानि ॥

— वही, सलोक १३

— नानकदेव कहते हैं — सुन रे मन, जो पुरुष किसी को भयभीत नहीं करता तथा जो किसी से भी भयभीत नहीं होता उसे तुम ब्रह्मज्ञानी कह देना।

सन्त शेख फरीद

शेख फरीद नाम के एक बड़े अच्छे गृहस्थ महात्मा हुए हैं (देहत्याग — सन् १५५२) जो अपने जीव को अपने इष्टदेव की प्रेमिका मानते थे। वे भी यही मानते हैं कि जीव का ईश्वर से मिलाप इस अपने शरीर के भीतर ही होता है और इसके लिए सद्गुरु की आज्ञा मानकर चलना परम आवश्यक है। उनकी वाणी है —

फरीदा जंगलु जंगलु किआ भवहि वणि कंडा मोड़ेहि।
वसी रबु हिआलीऐ जंगलु किआ ढूढेहि ॥

— वही, पृ० २५२, दोहा १२

— स्वयं के वहाने जीवों को उपदेश देते हुए सन्त शेख फरीद कहते हैं — फरीद, शाखाओं और काँटों को तोड़ता हुआ एक जंगल से दूसरे जंगल में तू क्यों भटकता फिरता है ? रव (ईश्वर) तो तेरे हृदय में वस रहा है, फिर जंगल में उसे तू क्यों ढूँढ़ रहा है ?

वोलीए सचु धरमु न झूठु बोलीए।
जो गुरु दसै वाट मुरीदा जोलीए ॥

— वही, पृ० २४८, पंक्ति ५-६

— तू सच वोल, अपने धर्म की ही बात कर, झूठ मत बोल। जो रास्ता गुरु दिखा दे उसी पर शागिर्द (शिष्य) को चलना चाहिए।

सन्त दादूदयाल

प्रसिद्ध सन्त स्वामी दादूदयालजी पहुँचे हुए तत्त्वदर्शी महापुरुष थे (सन् १५४४ – १६०३)। इनके हजारों शिष्य थे जिनमें सन्त गरीबदास, बषना, रज्जब, सुन्दरदास आदि परम प्रसिद्ध हैं।

आनन्दमय जीवन और जीवनोत्तर आनन्द के लिए एकमात्र तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु की ही सेवा-पूजा करनी चाहिए, इस मनुष्य-शरीर में ही ईश्वर का साक्षात्कार करने पर मनुष्य को स्थायी सुख-शान्ति प्राप्त हो सकती है, अन्य कोई उपाय नहीं है। पत्थर की मूर्तियों की पूजा, तीर्थस्नान, वेद-पुराणादि की दुहाई देते हुए कर्मकाण्ड आदि बाहरी कर्मों को अपनाए रहने से आत्मज्ञान प्राप्त नहीं हो सकता, यह सिद्धान्त इनकी वाणी में भी सुस्पष्ट है। कुछ अंश प्रस्तुत हैं –

रहु रे रहु मन मारौंगा, रती रती करि डारौंगा।
खंड खंड करि नाखौंगा, जहाँ राम तहं राखौंगा॥
कह्या न मानै मेरा, सिर भानौंगा तेरा।
घर में कदे न आवै, बाहरि कौं उठि धावै॥
आतम राम न जानै, मेरा कह्या न मानै।
दादू गुरमुखि पूरा, मन सों झूझै सूरा॥

– वही, पृ० २७१, पद २२

– ठहर जा, ठहर जा रे मन, तुझे बहुत मारूँगा, रत्ती-रत्ती कर डालूँगा, टुकड़े-टुकड़े कर डालूँगा तुझे, और जहाँ राम विराजमान रहते हैं वहाँ तुझे बलपूर्वक रखूँगा। तू मेरा कहना नहीं मानता, तेरा सिर तोड़ डालूँगा। घर में कभी आता ही नहीं, बाहर को ही उठ-उठकर भागता है। आत्मारूपी राम को नहीं जानता, मेरा कहना नहीं मानता। सन्त दादूदयाल कहते हैं कि मन-वचन-कर्म से सद्गुरु को समर्पित कोई बिरला शूर-वीर पुरुष ही इस प्रकार अपने मन से जूझता है अर्थात् बलपूर्वक उसे सद्गुरु के उपदेश के अनुसार भजन में लगाने का प्रयत्न करता रहता है।

अलह कहौ भावै राम कहौ, डाल तजौ सब मूल गहौ।
अलह राम कहि कर्म दहौ, झूठे मारगि कहा बहौ।
साधू संगति तौ निबहौ, आइ परै रो सीसि सहौ।

काया कवँल दिल लाइ रहौ, अलख अलह दीदार लहौ।
सतगुर की सुणि सीख अहौ, दादू पहुँचै पार पहौ॥

— वही, पद २३

— तुमको अच्छा लगे तो अल्लाह कहो, अच्छा लगे तो राम कहो, कहने से कुछ नहीं बनता-बिगड़ता। किन्तु डालियाँ छोड़ दो, जड़ को पकड़ रखो। अल्लाह या राम कहकर यानी भगवन्नाम लेकर कर्मों को भस्म करो, झूठे, निष्फल मार्गों में क्यों बहे चले जाते हो। साधु की संगति करो तभी निर्वाह होगा, प्रारब्धवश भला-बुरा जो पड़े उसे धीरज के साथ शिरोधार्य करो, हाय-तौबा मच मचाओ। शरीर में मस्तक के भीतर जो सहस्रदल कमल का स्थान है वहाँ मन को स्थिर किए रहो तो किसी भी तरह न देखे जा सकने वाले उस अल्लाह का दर्शन पा लोगे। सन्त दादूदयाल कहते हैं कि भाई, सद्गुरु की शिक्षा सुनकर अर्थात् उनके उपदेश के अनुसार चलकर ही तुम अविद्यालोक के उस पार विद्यालोक में पहुँच सकते हो।

ज्ञातव्य है कि इस शरीर में दोनों भौंहों के नीचे का पूरा भाग अविद्यामाया का क्षेत्र और दोनों भौंहों से ऊपर का भाग विद्यामाया का क्षेत्र माना जाता है।

अहो नर नीका है हरि नाम।
दूजा नहीं नाउँ बिन नीका, कहि ले केवल राम॥
निरमल सदा एक अविनासी, अजर अकल रस ऐसा।
दृढ़ गहि राखि मूल मन माहीं, निरखि देखि निज कैसा॥
यह रस मीठा महा अमीरस, अमर अनूपम पीवै।
राता रहै प्रेम सूँ माता, ऐसैं जुगि जुगि जीवै॥
दूजा नहीं और को ऐसा, गुर अंजन करि सूझै।
दादू मोटे भाग हमारे, दास बमे की बूझै॥

— भजनसंग्रह, पृ० १५५, पद ३७९

— अहा, हे मनुष्य, हरिनाम बड़ा प्यारा है। इस नाम के बिना और कुछ भी अच्छा नहीं है, इसलिए केवल राम कह ले। निर्मल, सदा एक, अविनाशी, नित नया तथा निष्कल — ऐसा यह नामरस है। इस नामरूपी मूल को कसकर मन में पकड़ रख, फिर देख, आत्मरूप कैसा दिखाई पड़ता है। इस महान् मीठे अमर अनुपम नामरसरूपी अमृतरस को जो पिएगा वह उसी में रमा रहेगा, प्रेम में मतवाला बन जायगा और युगों-युगों तक ऐसे ही आनन्द में डूबा जीता रहेगा। किन्तु सद्गुरु के

चरणरज का अंजन आँख में लगाने पर ही ऊपर लिखी सारी बातें समझ में आती हैं। सन्त दादूदयाल कहते हैं कि मेरे भाग्य निश्चय ही अतिशय महान् हैं क्योंकि मुझे सद्गुरु का दास हो जाने का क्या मलतव है और उनका दास हो जाने का क्या महत्त्व है – यह बात समझ में आ गई है। भाव यह है कि सद्गुरुदेव का दास हुए विना ऊपर कही गई रहस्य की बातें अनुभव में नहीं आतीं।

ना घरि रह्या न बनि गया, ना कुछ किया कलेस।
दादू मन ही मन मिल्या, सतगुरु के उपदेस ॥

– संक्षिप्त संत-सुधा-सार, पृ० २७४, साखी ८

– सन्त दादूदयाल कहते हैं कि न मैं घर पर रहा, न जंगल गया, न मैंने कुछ कष्ट ही उठाया। मैंने तो सद्गुरु से उपदेश प्राप्त किया, उनकी शरण में रहकर उनकी सेवा की, उनकी आज्ञा मानकर चला और उनकी दया से अपने मन में ही ईश्वर से (सद्गुरु के मायातीत स्वरूप से) मिलाप हो गया।

घरि घरि घट कोल्हू चलै, अमी महारस जाइ।
दादू गुर के ग्यान विनु, विखै हलाहल खाइ ॥

– वही, पृ० २७५, साखी १०

– प्रत्येक मानव-शरीर के भीतर लगातार कोल्हू चल रहा है तथा उसमें से निकलनेवाला वहुमूल्य अमृतरस व्यर्थ वहा चला जा रहा है। सन्त दादूदयाल कहते हैं कि सद्गुरु से प्राप्त होनेवाले ज्ञान के अभाव में मनुष्य वह सहज ही सुलभ व्रह्मानन्द-रूपी अमृत नहीं पी पाता, उसकी जगह विषयभोगरूपी हलाहल यानी घोर विष खाता रहता है।

दादू काढ़े काल मुषि, श्रवनहु सवद सुनाइ।
दादू ऐसा गुरु मिल्या, मृतक लिए जिलाइ ॥

– श्री दादूवाणी, पृष्ठ ३, साखी १४

– सन्त दादूदयाल कहते हैं कि मुझे ऐसे सद्गुरु मिल गए जिन्होंने मेरे कान में परानाम का शव्द सुनाकर मुझे काल यानी मृत्यु के मुख से निकाल लिया और इस प्रकार मुझ मरे हुए को जीवित कर लिया।

दादू सतगुरु पसु मानस करैं, मांणस थैं सिध सोइ।
दादू सिध थैं देवता, देव निरंजन होइ ॥

– वही, पृ० २ साखी १२

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि सद्गुरु पशु अर्थात् संस्काररहित जीव को परानाम का उपदेश देकर सच्चे अर्थों में मनुष्य बना देते हैं, फिर वह उनके उपदेश के अनुसार ज्यों-ज्यों साधना-अभ्यास में उन्नति करता जाता है त्यों-त्यों सद्गुरु की दया से वह मनुष्य से सिद्ध, सिद्ध से देवता और देवता से निरंजन ब्रह्म हो जाता है।

सतगुरु मिलै त पाइये भगति मुकति भंडार।
दादू सहजैं देषिये, साहिब का दीदार॥

— वही, पृ० ८, साखी ५७

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि यदि सद्गुरु स्वयं दया करके मिल जायँ तो उनकी सेवा करने से भक्ति और मुक्ति का भण्डार मिल जाता है तथा सहज ही अपने शरीर के भीतर अपने स्वामी सद्गुरु के परमात्मस्वरूप का दर्शन प्राप्त हो जाता है।

सतगुर सबद उलंघि करि, जिनि कोई सिष जाइ।
दादू पग पग काल है, जहाँ जाइ तहँ षाइ॥

— वही, पृ० १४, साखी ९५

— सन्त दादूदयाल जीवों को चेतावनी देते हुए सावधान करते हैं कि देखो भाई, सद्गुरु की आज्ञा का कोई भी शिष्य उल्लंघन न करे। उनकी आज्ञा से विमुख हो जाने से हर कदम पर उसे काल मिलेगा और ऐसा शिष्य भागकर जहाँ भी जायगा वहीं उसे काल धर खाएगा।

दादू औगुण गुण करि मानै गुर के, सोई सिष सुजाण।
सतगुर औगुण क्यों करै, समझै सोई सयाण॥

— वही, पृ० १५, साखी १०३

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि वही शिष्य वस्तुतः उत्तम शिष्य है जो सद्गुरु में कोई अवगुण, दोष दिखाई देने पर भी, जैसे भी हो, अपने मन को समझा-बुझाकर उसे गुण ही समझे, क्योंकि सच यही है कि शिष्य की बुद्धि में कमी के कारण ही सद्गुरु का शुद्ध आचरण भी उसे दोष दिखाई देता है। तत्त्वदर्शी, सच्चिदानन्द परमात्मा के मूर्तिमान् स्वरूप सद्गुरु भला अवगुण, निन्दित आचरण किसलिए करेंगे, क्यों करेंगे ? अनन्त करोड़ ब्रह्माण्डों की स्वामिनी महायोग-माया जिनकी मौज के अनुसार गतिशील रहती है उन्हें निन्दित आचरण का सहारा लेने की क्या आवश्यकता है। निश्चय ही शिष्यों को शुभ परिणाम प्राप्त करानेवाली

अथवा शिष्यों की परीक्षा के प्रयोजन से होनेवाली यह उनकी कोई लीला है, ऐसा समझनेवाला शिष्य ही चतुर है, बुद्धिमान् है।

सन्त दादूदयाल की मन को छू लेनेवाली तथा आध्यात्मिक साधना में हमारा पथ – प्रदर्शन करनेवाली कुछ सूक्तियाँ अप्रासंगिक होते हुए भी उद्धृत की जा रही हैं। पहले उनकी आत्मग्लानि देखें –

सो कुछ हमथैं ना भया, जा परि रीझै राम।
दादू इस संसार मैं, हम आये बेकाम ॥

– वही, पृ० १४५, साखी २६

– कोई ऐसा काम हमसे नहीं हो पाया जिस पर हमारे इष्टदेव राम यानी हमारे सद्गुरुदेव हम पर रीझ गए होते, प्रसन्न हो गए होते। सन्त दादूदयाल कहते हैं कि इस संसार में हम व्यर्थ ही आए।

क्या मुंह ले हंसि बोलिये, दादू दीजै रोइ ।
जनम अमोलिक आपणा, चले अक्यारथ खोइ ॥

– वही, साखी ३०

– इतना बहूमूल्य अपना मनुष्य-जन्म हम निरर्थक ही खोए चले जा रहे हैं। अब हम किस मुँह से हँसें – बोलें, सन्त दादूदयाल कहते हैं कि वास्तव में हमें तो कहीं बैठकर रोना चाहिए।

कीया मन का भावतां, मेटी आग्याकार ।
क्या ले मुख दिखलाइये, दादू उस भरतार ॥

– वही, साखी ३२

– जो-जो हमारे मन को अच्छा लगा हमने वही-वही किया, स्वामी की सभी आज्ञाओं का उल्लंघन ही करते चले गए। अब भला क्या लेकर उस अपने स्वामी को मुँह दिखलावेंगे।

इंद्री स्वास्थ सब किया, मन मांगै सो दीन्ह।
जा कारणि जगि सिरजिया, सो दादू कछू न कीन्ह ॥

– वही, साखी ३३

– सन्त दादूदयाल कहते हैं कि हमने वही सब किया जिसमें हमारी इन्द्रियों का स्वार्थ था, जिन कामों से उन्हें सन्तुष्ट होना था। जो हमारे मन ने माँगा, हमने उसे

वही दिया। किन्तु खेद है कि जिस कार्य के लिए ईश्वर ने हमें इस संसार में जन्म दिया वह कार्य थोड़ा सा भी नहीं किया।

कीया था इस काम कौं, सेवा कारणि साज।
दादू भूला बंदगी, सर्‌या न एकौ काज॥

— वही, साखी ३४

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि ईश्वर ने स्वस्थ सुन्दर मनुष्य-शरीर, घर-द्वार, धन-दौलत, स्त्री-पुत्रादि सारा साज इसलिए सजाया था कि इन सबके द्वारा अपने इष्टदेव सद्‌गुरु स्वामी की सेवा करके चौरासी के चक्कर से छुटकारा पा लेगा, पर जीव तो अपने इष्टदेव को नमन करना ही भूल गया। कोई काम सिद्ध नहीं हुआ, कुछ भी हाथ न लगा। सन्त सूरदास कहते हैं — 'दो मे एकौ तौ न भई।' ना हरि भजे न गृहसुख पाए, बृथा बिहाय गई॥'

दादू का जाणूं कब होइगा, हरि सुमिरण इकतार।
का जाणूं कब छाँड़िहै, यहु मन विषय विकार॥

— वही, पृ० १४६, साखी ३६

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि न जाने कब वह शुभ समय आवेगा जब निरन्तर हर साँस में तेल की धार के समान एकरस स्मरण होने लगेगा, किन्तु मन तो सदा विषय-चिन्तन में लगा रहता है, न जाने कब वह शुभ घड़ी आवेगी जब यह मन विषय-रूपी विकारों को छोड़ देगा !

वादिहिं जनम गंवाइया, कीया बहुत विकार।
यहु मन अस्थिर ना भया, जहँ दादू निज सार॥

— वही, साखी ३७

— व्यर्थ ही जन्म गँवा दिया, जन्म भर पाप ही करता रहा। त्रिकुटी पर जहाँ अपना सारतत्त्व यानी सद्‌गुरुदेव का स्थान है वहाँ यह मन स्थिर नहीं हुआ।

दादू जिनि विष पीवै बावरे, दिन दिन बाढ़ै रोग।
देखत ही मरि जाइगा, तज विषिया रस भोग॥

— वही, साखी ३८

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि अरे बावले जीव, विष मत पी, दिन प्रतिदिन तेरा रोग बढ़ता जा रहा है, विषयों का भोगना छोड़ दे, भोगों की सामग्री देखते ही तू

मर जायगा, अर्थात् विषयों की ओर आँख उठाने से उनके प्रति आकर्षण बढ़ेगा और फिर वहाँ से उबर पाना कठिन हो जायगा क्योंकि विषयभोग की तृष्णा और बढ़ती ही जाती है।

आपा पर सब दूरि करि, राम नाम रस लाग।
दादू औसर जात है, जागि सकै तौ जागि ॥

— वही, साखी ३९

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि अरे जीव, तेरा-मेरा सब छोड़ दे और विषयों का रस लेना छोड़कर सद्गुरु से प्राप्त नाम के स्मरण में मन रमा दे। दिन-दिन करके जीवन तेरा समाप्त होता जा रहा है, अभी भी जाग सकता है तो जाग जा, मोह-निद्रा को छोड़ दे।

सन्त दादूदयाल का अनुभव भी यही प्रमाणित करता है कि मन ही बन्धन तथा मोक्ष का कर्ता है, बाहरी कर्म नहीं। वे कहते हैं —

दादू मन ही सौं मल ऊपजे, मन ही सों मल धोइ।
सीख चलै गुर साध की, तौ तूं निर्मल होइ ॥

— वही, पृ० १५८, साखी १३२

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि अरे जीव, मन से ही मल, मैल उत्पन्न होता है और मन से ही उसे धोया जा सकता है, क्योंकि अच्छे या बुरे कर्म सब मन के द्वारा ही होते हैं। जीव शरीर के द्वारा कर्मों के फल सुख-दुःख का भोग करता है तथा मन के द्वारा कर्म करता है। विषयों में आसक्त मन बन्धन प्रदान करता है तथा विषयों से रहित हुआ मन मुक्ति-प्राप्ति का कारण बनता है —

बन्धाय विषयासक्तं मुक्त्यै निर्विषयं मनः।

ऐसी दशा में हे जीव, यदि तू सन्त-सद्गुरु की शिक्षा मानकर उनके उपदेश के अनुसार चलेगा तो तू निश्चय ही निर्मल हो जायगा।

जब जगि यहु मन थिर नहीं, तब लग परस न होइ।
दादू मनवाँ थिर भया, सहजि मिलैगा सोइ ॥

— वही, पृ० १४३, साखी १३

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि जब तक यह मन सद्गुरु के चरणों के ध्यान में स्थिर नहीं हो जाता तब तक उनके मायातीत स्वरूप का अपने शरीर के भीतर

साक्षात्कार सम्भव नहीं है। जैसे ही मन स्थिर हो जायगा वैसे ही घट के भीतर अपने इष्टदेव स्वामी का दर्शन मिल जायगा।

दादू विषय बिकार सौं, जब लग मन राता।
तब लगि चीति न आवई, त्रिभवन पति दाता॥

— वही, पृ० १४५, साखी ३५

— सन्त दादूदयाल का कथन है कि मन जब तक विषय विकार में रस लेता रहेगा तब तक तीनों लोकों के स्वामी तथा सबको सब कुछ देनेवाले सद्गुरुदेव चित्त में नहीं आ सकते।

सोई सूर जे मन गहै, निमष न चलने देइ।
जबहीं दादू पग भरै, तब ही पाकड़ लेइ॥

— वही, पृ० १४२, साखी ७

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि सच्चा शूर-वीर वही है जो मन को पकड़ ले, पल भर भी इधर-उधर संसार की ओर न जाने दे। जैसे ही यह भागने के लिये पहला कदम बढ़ावे, ठीक उसी समय इसको पकड़ ले।

थोरैं थोरैं हटकिये, रहैगा ल्यौ लाइ।
जब लागा उनमन सों, तब मन कहीं न जाय॥

— वही, साखी ५

— किन्तु सन्त दादूदयाल के मत से इसे समझा-बुझाकर धीरे-धीरे ही रोकना चाहिए। एकाएक जबरदस्ती करने का परिणाम यह होगा कि जरा सा मौका मिलते ही कहीं छूट पाया तो फिर इसका हाथ आना कठिन हो जायगा। सद्गुरु से प्राप्त नाम के स्मरण में लगते-लगते जब यह उन्मनी दशा में रम जायगा तब स्थिर हो जायगा, फिर कहीं नहीं जायगा।

दादू यहु मन भूला सो गली, नरक जाण के घाट।
अब मन अविगत नाथ सों, गुरू दिखाई बाट॥

— वही, पृ० १४४, साखी २४

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि मुझे मेरे सद्गुरु ने ऐसा मार्ग दिखा दिया है कि जिस पर चलने से अब मेरा मन किसी भी प्रकार न मिलनेवाले अपने स्वामी सद्गुरुदेव के तेजोमय स्वरूप से जा मिला है। अब तो वह उस गली को भूल ही गया है जो नरक पहुँचानेवाले घाट पर उतारती है।

सन्त दादूदयाल भी यही मानते हैं कि हमारे बाहर का दिखाई पड़नेवाला तथा न दिखाई पड़नेवाला सम्पूर्ण जड़-चेतन ब्रह्माण्ड जैसा बाहर है वैसा ही हमारे शरीर के भीतर भी है। इस शरीररूपी लता के फूल-फल हैं ये सब। इसीलिये सन्त गरीबदास की तरह इन्होंने भी उस प्रकरण का नाम रखा है 'कायाबेली', जिसमें इस सबका अनुभूत वर्णन है। उनकी वाणी है –

साचा सतगुर राम मिलावै। सब कुछ काया माहिं दिखावै ॥

– दादूदयाल ग्रन्थावली, पृ० ४६६, पद १

– सच्चा सद्गुरु जीव को राम से मिला देता है यानी आत्मा का परमात्मा से मेल करा देता है तथा साधक को उसके भीतर ही सब कुछ दिखा देता है। इस 'सब कुछ' की सूची बहुत बड़ी है, कहना चाहिए – अनन्त है। सन्त कागभुशुण्डि कहते हैं –

जो नहिं देखा नहिं सुना, जो मन हूँ न समाय।
सो सब अदभुत देखेउँ, बरनि कवन बिधि जाइ ॥

अब यदि कोई कहे कि मैं आकाश में समुद्र लहराता हुआ देखता हूँ, तो यह बात हमारे मन में कैसे बैठेगी, इसे तो अनुभव करके ही समझा जा सकता है।

काया मांहैं लोक सब, दादू दीये दिखाइ ।
मनसा बाचा क्रमना, गुर विन लख्या न जाइ ॥

– वही, पृ० ५००, पद २

– सन्त दादूदयाल कहते हैं कि इस शरीर के भीतर सभी लोक समाए हुए हैं जो मेरे स्वामी सद्गुरुदेव ने मुझे दिखा दिए हैं। किन्तु बिना सद्गुरु की कृपा के कोई देखना चाहे तो यह सम्भव नहीं है। मन-वचन-कर्म से पहले सद्गुरु की सेवा करनी चाहिए। ऐसी सेवा, जिससे उन्हें सुख मिले, वे सन्तुष्ट हो जायँ और दया करके दिखा दें, तभी जीव अपनी देह के भीतर इन दृश्यों को देख सकता है।

काया नगर निधान है, मांहैं कौतिग होइ।
दादू सतगुर संगिं ले, भूलि परे जिनि कोइ ॥

– वही, पद ३

– सन्त दादूदयाल कहते हैं कि इस मनुष्य-शरीर के भीतर अनन्त प्रकार के कौतुक यानी अद्भुत कार्य हो रहे हैं। किन्तु सद्गुरु को साथ में लिए रहना, उनके पीछे-

पीछे चलते रहना, अहंकारी बनकर साथ न छोड़ देना नहीं तो कुछ भी हाथ न लगेगा। सावधान, मैं जो कह रहा हूँ इसमें कोई भी प्राणी थोड़ी भी भूल न कर बैठे।

काया अगम अगाध है, मांहैं तूर बजाइ ।
दादू प्रगट पीव मिल्या, गुरमुखि रहै समाइ ॥

— वही, पृ० ५०३, पद ८

— सन्त दादूदयाल कहते हैं कि इस मनुष्य-शरीर के भीतर के रहस्यों का न कोई पार पा सकता, न थाह लगा सकता। इसी में मधुर वाद्यध्वनि हो रही है और इसी में मुझे अपने प्रियतम सद्गुरु स्वामी के तेजोमय स्वरूप से प्रत्यक्ष मिलाप हुआ। जो मनुष्य तत्त्वदर्शी सद्गुरु से परानाम का उपदेश लेकर उनकी बतलाई विधि से भजन-अभ्यास करेगा, सब तरह से सद्गुरु की सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर लेगा ऐसा गुरुमुख जीव ही इस शरीर के रहस्यों में समाया रह सकता है।

सन्त गरीबदास

अठारहवीं शताब्दी में सन्त गरीबदासजी ऐसे सन्त हुए हैं जिन्हें उनके सद्गुरु सन्त कबीर ने जंगल में स्वयं उपस्थित होकर वरण किया था, जहाँ वे गरीबा नाम से गाँव के लड़कों के साथ गायें चरा रहे थे। कहते हैं कि गुरु ने शिष्य को विना बियाई हुई गाय का दूध पिलाने का आदेश दिया। शिष्य जब हैरान हुआ तो गुरु ने स्वयं एक बछिया की पीठ थपथपायी और उसके थनों से दूध बह निकला। शिष्य ने एक पात्र में वह दूध लेकर गुरु को अर्पित किया। गुरु ने उसमें से थोड़ा दूध पीकर शेष दूध शिष्य को देकर कहा — ले, इसे तू पी जा। इसे पीते ही शिष्य को दिव्यदृष्टि प्राप्त हो गई और शिष्य गरीबा वहीं से अपनें सद्गुरु के साथ चले गए।

आपकी अमृतमयी अनुभव-वाणी 'ग्रन्थसाहिब' नामक एक विशाल ग्रन्थ (राजकोट, सन् १६२४) में संगृहीत है जिसमें से शब्दब्रह्म के देहधारी रूप एकमात्र सद्गुरु की उपासना-सेवा को सार्थक बतलानेवाली कुछ पंक्तियाँ यहाँ सादर उद्धृत की जा रही हैं।

गरीब राम सरीखे साध हैं, साध सरीखे राम।
सतगुरु कूँ सिजदा करूँ जिन दीन्हा निज नाम॥

— ग्रंथसाहिब, पृ० ८, साखी ८

— सन्त गरीबदास कहते हैं कि साधु राम के समान हैं तथा राम साधु के समान हैं, अर्थात् राम यानी परमात्मा और सन्त-सद्गुरु दोनों एक ही तत्त्व हैं, दोनों में तात्त्विक दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है। प्रकाशस्वरूप तेजोमय परमात्मा देहधारी वन-कर सन्त-सद्गुरु रूप में हमारे बीच वर्तमान रहता है ताकि हम उससे परमात्मा का नाम प्राप्त कर सकें उसका स्मरण-ध्यान करने में समर्थ हो सकें तथा सेवा-द्वारा उसे सन्तुष्ट कर उसकी कृपा से देहातीत-मायातीत परमात्मतत्त्व का अपनी इस देह के भीतर ही साक्षात्कार कर अपना जीवन कृतार्थ कर सकें। इसलिये ऐसे सद्गुरुदेव को मैं साष्टांग दण्डवत् प्रणाम करता हूँ जिन्होंने मुझे निज नाम, परमात्मा का नाम प्रदान किया है।

गरीब ऐसा सतगुरु हम मिल्या, महिमा कही न जाइ।
भवन चतुर्दश लोक सब, तिल में दिये दिखाइ॥

— वही, पृ० २८, साखी ११७

— सन्त गरीबदास कहते हैं कि हमें ऐसे सद्गुरु प्राप्त हुए हैं जिन्होंने चौदहों भुवनों और सम्पूर्ण लोकों को तिल में ही अर्थात् इसी शरीर में दोनों नेत्रों के पीछे नासिका-मूल के ऊपर वर्तमान तिलप्रमाण सूक्ष्म छिद्र में ही दिखा दिया। ऐसे सद्गुरुदेव की महिमा मुझसे तो क्या, शेष-शारदा आदि किसी के द्वारा भी नहीं कही जा सकती। किसी की वाणी में ऐसा सामर्थ्य नहीं है कि सद्गुरु की महिमा का यथार्थ वर्णन कर सके, वह वाणी का विषय ही नहीं, अनिर्वचनीय है। उसका तो केवल सद्गुरु की दया से अनुभव ही किया जा सकता है।

गरीब सतगुरु संगति सार है, सकल कुसंग सब जीव।
पानी मैं निकसै नहीं, नेक जतन कर जीव॥

— वही, पृ० १०९, साखी २३

— सन्त गरीबदास कहते हैं कि इस संसार में केवल सद्गुरु की ही संगति करनी चाहिए, केवल वही सार है, केवल उसी से मनुष्य के भौतिक-आध्यात्मिक सभी मनोरथ पूर्ण हो सकते हैं। सद्गुरु के अतिरिक्त अन्य सभी जीवों की संगति कुसंग ही है क्योंकि सद्गुरु के अतिरिक्त अन्य सभी स्वार्थी हैं। ऐसे स्वार्थी जीवों की संगति से हमारा परमार्थ कैसे सिद्ध हो सकता है। पानी को चाहे कितना यत्न करके मथा जाय, उसमें से घी निकलना सम्भव नहीं है।

गरीब कंवली कै रंग ना चढ़ै, कोयला नहीं सुपेद।
सतगुरु बिन सीझै नहीं, कहा पढ़त है वेद ॥

— वही, पृ० १०६, साखी २५

— सन्त गरीबदास कहते हैं — जैसे लाख उपाय करने पर भी काले कम्बल पर कोई रंग नहीं चढ़ सकता और कोयला सफेद नहीं हो सकता इसी प्रकार करोड़ों जन्मों के कर्मों की जो काई जीव पर लगी है वह लाख उपाय करने पर भी छूट नहीं सकती। सन्त तुलसीदास कहते हैं —

कोटि जनम मल लाग बिबिध बिधि कोटिहु जतन न जाई।

अतः हे वेदपाठ करनेवाले, वेद का पाठ कर-करके व्यर्थ ही समय और श्रम क्यों नष्ट कर रहा है ? सद्गुरु की खोज कर, उनकी शरण में जाकर उनकी सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर। एकमात्र सद्गुरु ही जीव को कर्ममल से मुक्त करके भवसागर पार करा सकते हैं, उसे जीवन्मुक्ति प्रदान कर सकते हैं, उसे अपना ही स्वरूप प्रदान कर सकते हैं। उनके बिना यह कार्य किसी अन्य प्रकार से सिद्ध होनेवाला नहीं है।

गरीब बैठे अनहद तख्त पर, सुखमन ध्यान समोय।
सतगुरु साहेब एक है, कहन सुनन को दोय ॥

— वही, पृ० ११५, साखी ४६

— सन्त गरीबदास कहते हैं कि सद्गुरुदेव अनहदरूपी तख्त पर विराजमान रहते हैं अर्थात् त्रिकुटी पर सद्गुरु का ध्यान करते रहने पर वहाँ जो परम मधुर दिव्य ध्वनि सुनाई पड़ती है उसको सुनते हुए सुषुम्णा के अन्तर्गत अपने सच्चिदानन्दस्वरूप सद्गुरु के ध्यान में समाए रहते हैं, तल्लीन रहते हैं। अतः उन सच्चिदानन्द परमात्मा के वे सगुण स्वरूप होते हैं। व्यवहार में कहने-सुनने के लिये उन्हें भगवान् का भक्त, महापुरुष, महात्मा, सन्त, सद्गुरु आदि कहा जाता है पर वास्तव में वे भृंग-कीट-न्याय से सच्चिदानन्द के प्रत्यक्ष वर्तमान स्वरूप ही होते हैं।

गरीब मृगतृष्णा तोकूं लगी, भटकता है दिन रैन।
थल का जल दीखंत है, एक पलक नहिं चैन ॥

— वही, पृ० १५५, साखी २८

— सन्त गरीबदास कहते हैं — हे संसारी जीव, तुझे मृगतृष्णा लग गई है, तेरी दृष्टि ही विपरीत हो गई है, जहाँ धरती है वहाँ तुझे पानी दिखाई दे रहा है अर्थात् तू

संसार की अनित्य वस्तुओं में स्थायी सुख की खोज कर रहा है जो वहाँ न कभी रहा, न है। तभी तो कामिनी-कंचन के फेर में पड़ा तू दिन-रात भटकता फिर रहा है, पलभर के लिये भी तुझे चैन नहीं मिलता।

गरीब जनम-जनम की बासना, हुई एकठी आंन।
निर्मल कैसे होयगा, सतगुरु लगे न कान॥

— वही, पृ० १५७, साखी ३०

— विभिन्न योनियों में तेरे बीते हुए अरबों-खरबों जन्मों की वासनाएँ इस जन्म में इकट्ठी आ जुटी हैं। सद्गुरु की खोज करके तूने उनसे अपने कान में परानाम का उपदेश नहीं प्राप्त किया, तब भला तेरा मन कैसे निर्मल हो सकता है। अपने बल पर, मनमुखी उपायों से आज तक कोई भी अपने मन को निर्मल नहीं बना सका है। केवल सद्गुरु की शरण ग्रहण करने पर, उनकी आज्ञा के अनुसार चलने से ही मन स्वच्छ हो सकता है।

गरीब करि विश्वास अकीन रखि, धनी करै सो होय।
त्रिकुटी संजम ध्यान धरि, देखि परम पद लोय॥

— वही, पृ० १५५, साखी २६

— किन्तु निराश या हताश होने की जरूरत नहीं है। पक्का विश्वास कर, भरोसा रख इस बात का कि धनी अर्थात् सद्गुरु, सम्पूर्ण चराचर का जो स्वामी है वही जो करता है सो होता है —

राम कीन्ह चाहैं सोइ होई। करै अन्यथा अस नहिं कोई।

अतः संयम के साथ, अर्थात् विषयों यानी सांसारिक भोगों की कामना छोड़कर, भाग्य के अनुसार जितना जो कुछ प्राप्त होता है उतने में ही सन्तुष्ट और प्रसन्न रहते हुए दृढ विश्वास के साथ त्रिकुटी पर अपने सद्गुरु का नित्य-नियम से ध्यान कर, फिर तुझे अपने इसी शरीर के भीतर परम पद यानी परमात्मा के धाम का दर्शन अवश्य प्राप्त होगा। सन्त तुलसीदास विनयपत्रिका में कहते हैं —

जनि डरपसि तोसे अनेक खल अपनाए जानकी नाथ।

— पद ८४

— डर मत, तुझ जैसे अनेक दुष्ट पापियों को जानकीनाथ ने अपना लिया है।

गरीब लख चौरासी मिटि गई, मैं तैं गई बिलाय।
सतगुरु संत साहिब रते, बहुरि न करैं पसाव ॥

— वही, पृ० १७४, साखी ६७

— सन्त गरीबदास कहते हैं कि सद्गुरु से नाम का उपदेश लेकर उनके भजन में, उनके स्वरूप में मन रम जाता है तो जीव का चौरासी लाख योनियों में जन्म लेना समाप्त हो जाता है तथा 'मैं-तू' यानी 'मैं अरु मोर तोर तैं माया' ऐसी माया का प्रभाव सदा के लिये लुप्त हो जाता है, फिर वह माया लौटकर उस जीव को नहीं सताती।

भाव यह है कि तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु शरणागत जीव के हृदय में जब दीक्षा द्वारा भक्तियोग का बीज बो देते हैं यानी उसे परानाम प्रदान कर देते हैं और श्वास के द्वारा उसके स्मरण और त्रिकुटी पर ध्यान की विधि समझा देते हैं तो जीव योगमार्ग पर आरूढ़ हो जाचा है। यदि मृत्यु से पहले इसी जन्म में उसकी साधना पूरी हो जाती है तब तो वह जीवन्मुक्त हो जाता है, उसके पुनर्जन्म का प्रश्न ही नहीं उठता। किन्तु यदि साधना पूर्ण नहीं हुई तो उसे श्रीमद्भगवद्गीता में कही गई योगभ्रष्ट जीव की गति प्राप्त होती है अर्थात् मृत्यु के पश्चात् अपना शेष कर्म, शेष साधना पूर्ण करने के लिये कर्मयोनि, केवल मानवयोनि ही प्राप्त होती है क्योंकि अन्य भोगयोनियों में कर्म सम्भव नहीं है। ज्यों-ज्यों नाम-साधना विकसित होती जाती है त्यों-त्यों माया के विकार स्वतः क्षीण होते चले जाते हैं। इस प्रकार सन्त-सद्गुरु के प्राप्त हो जाने का अर्थ ही है चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण के क्रम का समाप्त हो जाना — 'सतसंगति संसृति कर अंता'।

सन्त-सद्गुरु की महिमा बतलाते हुए सन्त गरीबदास कहते हैं —

पीछे-पीछे हरि फिरैं, आगे संत सुजान।
संत करै सोई साँच है, चारो जुग परवान ॥
साईं सरीखे साध हैं, इन समतुल नहीं और।
संत करें सो होत है, साहिब अपनी ठौर ॥
संतों कारण सब रच्या, सकल जमीं असमान।
चंद सूर पानी पवन, यज्ञ तीर्थ और दान ॥

ज्यों बच्छा गऊ की नजर में, यों सांईं अरु संत।
हरिजन के पीछे फिरैं, भक्ति बच्छल भगवंत॥

— वही, पृ० १८८, साखी १६५-६८

उनकी दृष्टि में सद्गुरु को प्रणाम करनेवाला जीव अतिशय भाग्यवान् है —

सतगुरु दाता देत है, ज्ञान ध्यान बैराग।
जो नर लागै बंदगी. जिनके मोटे भाग॥

— वही, पृ० २५८, साखी २५०

सन्त गरीबदास ने इस मानव-शरीर के भीतर वर्तमान चराचर जगत् का 'कायाबेली' नामक प्रकरण में बड़े विस्तार से वर्णन करते हुए कहा है कि मनुष्य उन्हें देखने में तभी समर्थ हो सकता है जब सद्गुरु कृपा करके दिखा दें —

गरीब काया माहें लोक सब, सतगुरु दिये दिखाय।
औघट घाटी ऊतरे, शब्दैं रहे समाय॥

— वही, पृ० ३६७, साखी २२

गरीब काया माहीं महल है, सद्गुरु कूँची हाथ।
दया करैं तौ पाइए, सांईं जेही दात॥

— वही, पृ० ३६८, साखी ४३

इन सन्तप्रवर का भी कहना है कि कोई करोड़ों गौएँ दान करे, अश्वमेध यज्ञ करे, कुआँ-पोखरा-बगीचा बनवाये, मकर-संक्रान्ति के पर्व पर काशी में गंगा नहाय, नियमपूर्वक तपस्या-होम करे, पुराण-गीता-भागवत ही क्यों न पढ़े। चारों वेदों का कण्ठस्थ पाठ करता हो, ऐसा होने पर भी सद्गुरु से परानाम जाने बिना अन्धे का अन्धा ही रहेगा और यह मूल्यवान् मनुष्य-जन्म वीत जायगा। एक ही रास्ता है कि यदि सद्गुरु मिल जायँ तो जीव को फँसानेवाले काल-कर्म-गुण-स्वभाव आदि सारे फन्दे कट-फट जायँगे, नष्ट हो जायँगे और जीव बन्धनमुक्त हो जायगा —

गऊ कोटि दानं, जज्ञा सुमेदं। कूपं पौहप बाग, पोखरि उमेदं॥
मक्रेत काशी, प्रव गंग न्हानं। तपो होम नेमं, पढ़े जो पुरानं॥
भागौति गीता, पठो क्यूं न कोई। चहूँ वेद मुख पाठ, ऐसा जु होई॥
विना नाम जांने, जनम जात अंधे सतगुरु मिटे तो कटे सकल फंधे॥

— वही, पृ० ४७४, १४।१-४

सद्गुरु के सेवक पर ग्रहों का कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता, न उसे दिशाशूल आदि ब्यापता। उनकी उक्ति है –

सनश्चर श्वासा मांहि समोया। जब हम मक्रतार मग जोया ॥
राहु केतु रोके नहिं घाटा। सतगुरु खोले वजर कपाटा ॥
नौ ग्रह नवन करैं निरबाना। अविगति नाम निरालंव जाना ॥
नौ ग्रह नाद समोये नासा। सहस कमल दल कीन्हा वासा ॥
दिसा सूल दस दिसि का खोया। निरालंव निरभै पद जोया ॥

– वही, पृ० ४६१, रमैनी ८-१२

सद्गुरु के असीम सामर्थ्य का वर्णन करते हुए सन्त गरीबदास कहते हैं कि भले ही इन्द्र अपने दल-बल के साथ गरजता रहे, मूसलाधार वर्षा होती रहे, वे अपनी जगह से, अपनी मौज से, बाल भर भी इधर-उधर नहीं होते। वे चाहें तो तीनों लोकों को एक साथ तार दें, चाहे निरन्तर वर्षा करके डुबा दें, कई शंख जीव एक साथ ख्याल मात्र से उत्पन्न कर दें, चाहें तो प्रलय कर दें, उनके किसी काम में कोई रोक-टोक नहीं कर सकता –

गरीब संख जीव परलौ करैं, संखो उतपति ख्याल।
ऐसे सुमरथ संत हैं, एक खिसैं नहिं बाल ॥ २०० ॥
गरजै इन्द्र अनन्त दल, बहु बिधि बरसा होय।
संख जीव परलौ करैं, संखौ उतपति लोय ॥ २०१ ॥
बरषैं तरकैं डोबि दें, तारैं तीनूं लोक।
ऐसे हरिजन संत हैं, सौदा रोकमरोक ॥ २०४ ॥

– वही, पृ० १८८

चौरासी के बंधन टूटे, दूरि भये दुख दुंदा ॥ ७ ॥
नजरि निहाल ख्याल सतगुरु के, सूके सरौं भरंदा।
अधम उधार बार नहिं लावै, गूँगा बहरा अंधा ॥ ८ ॥
भक्ति मुक्ति के दाता सतगुर, भटकत प्रान फिरंदा।
उस साहिब के हुकुम विना नहिं, तरवर पात हलंदा ॥ ६ ॥

– वही, पृ० ६१४

सत्यलोक का वर्णन करते हुए सद्गुरु की दया से वहाँ पहुँचने की बात गरीबदास इस प्रकार कह रहे हैं —

सेवौ रे सतगुरु सुमरथ दाता। शब्द अतीत अनाहद राता ॥
सुख का सागर झिलमिल दरिया। हीरे मोती मानिक भरिया ॥
सुख का सागर झिल मिलि जोती। मानसरोवर मुक्ता मोती ॥
झिल मिलि झिलमिलि अजब जहूरा। ताहि लखावै सतगुरु पूरा ॥
सुख के सागर हंस पठावैं। वहुरि न जूंनी संकट आवैं ॥
कोटि कनी हीरों की खानी। सतगुरु मिले दया दिल दानी ॥
सूरजि मुखी मुक्ति का चंपा। सतगुरु ध्यान लगाया कंपा ॥
दौना मरवा फूल चमेली। सुख सागर में खेलौ री हेली ॥
संख पदम झिलमिल उजियारा। दास गरीब सतलोक हमारा ॥

— वही, पृ० ५८७, पद ८५

सच्ची भक्ति का स्वरूप सन्तप्रवर जीवों को इस प्रकार बतला रहे हैं —

टुक रंग महल में आव कि निरगुन सेज बिछी।
जहँ धर अंबर नहीं धौल, न चंदा सूर शशी ॥
संत समागम सारक, ब्रह्मा वेद रची।
शून्य मंडल सतलोक, पिया मेरे चौंरी रची ॥
चित चंदन छिड़कंत, मला गिंरि वेग घसी।
चढ़त पिया की सेज, दुलहनी हरषि हंसी ॥
पारब्रह्म कूं परसि, महल में जाय धँसी।
कहै दुलहिन दास गरीब, सुनौ यह भगति सची ॥

— वही, पृ० ५५२, पद ७०

संसार में इसी बात का तो कष्ट है कि हममें इच्छाएँ उत्पन्न तो अवश्य होती हैं पर पूर्ण नहीं होतीं। यदि कोई इच्छा ही न हो तो कष्ट किस बात का होगा। सन्त कहते हैं —

चाह गई चिन्ता मिटी, मनुआँ बेपरवाह।
जाको कछू न चाहिए, सोई शाहंशाह ॥

सन्त गरीबदास कहते हैं कि तत्त्वज्ञानी सद्गुरु से परानाम का उपदेश प्राप्त कर उनकी बताई विधि से मनुष्य भजन-अभ्यास करे तो उसकी इच्छाएँ मिट जायेंगी, अशुभ इच्छाओं की जगह शुभ इच्छाएँ उत्पन्न होने लगेंगी और जीव सुखी हो जायगा। उनका एक पद है —

मन तूं चल रे सुख के सागर, जहँ शब्द सिंध रतनागर ॥
कोटि जनम जुग भरमत हो गये, कुंछि नहिं हाथ लग्या रे।
कूकर शूकर खर भया बौरे, कौआ हंस बुगा रे ॥
कोटि जनम जुग राजा कीन्हां, मिटी न मन की आशा।
भिच्छक होकर दर दर हाँड़ा, मिल्या न निरगुन रासा ॥
इन्द्र कुबेर ईश की पदवी, ब्रह्मा वरुण धर्मराया।
विष्णुनाथ के पुर कों पहुँच्या, बहुरि अपूठा आया ॥
संख जनम जुग मरते होय गये, जीवत क्यों न मरै रे।
द्वादश मधि महल मठ बौरे, बहुरि न देह धरै रे ॥
दोजख भिसति सबै तैं देखे, राजपाट के रसिया।
त्रिलोकी सैं त्रिपति नाहीं, यह मन भोगी खसिया ॥
सतगुरु मिलै तो इच्छा मेटैं, पद मिलि पदह समाना।
चलि हंसा उस देश पठाऊँ, जहाँ आदि अमर अस्थाना ॥
चारि मुक्ति जहाँ चंपी करिहैं, माया होय रही दासी।
दास गरीब अभै पद परसै, मिलें राम अबिनासी ॥

— वही, पृ० ६०३, पद ८६

— अरे मन, चल सुख के समुद्र को, जो शब्दरूपी रत्नों से यानी शब्दस्वरूप परमात्मा से भरा हुआ है। करोड़ों युग, करोड़ों जन्म तुझे भटकते बीत गए, तेरे हाथ कुछ नहीं लगा। अरे बावले, तूने कुत्ता, सुअर, गधा, कौआ, हंस और बगुले के रूप में भी जन्म लिया, करोड़ों युगों में करोड़ों बार तू राजा भी हुआ किन्तु तेरे मन की आशा नहीं मिटी। अनेक बार भिखारी होकर घर-घर भीख माँगता फिरा किन्तु परमात्मा से मिलने का कोई मार्ग तुझे नहीं मिला। इन्द्र, कुबेर, शिव, ब्रह्मा, धर्मराज की पदवी भी तुझे कई बार मिली, यही नहीं, तू विष्णुपुरी वैकुण्ठ भी कई बार पहुँच गया पर वहाँ से भी खाली हाथ, अतृप्त रहकर ही लौट आया। असंख्य युग, असंख्य

जन्म तुझे मरते बीत गए, इस जन्म में एक बार तू जीते जी ही क्यों नहीं मर जाता ? अर्थात् अहंकार छोड़कर अपने सद्गुरुदेव के चरणों में आत्मसमर्पण क्यों नहीं कर देता ! अपनी सब इच्छाएँ छोड़कर सद्गुरु की रुचि के अनुसार यदि तू यह जीवन बिता ले तो फिर इस प्रपंच से भरे संसार में तुझे जन्म नहीं लेना पड़ेगा। स्वर्ग-नरक सब तूने देखा, तू राज-पाट का बड़ा रसिया है, किन्तु तीनों लोक तुझे प्राप्त हो जायँ तो भी तुझे तृप्ति नहीं होगी। तेरा यह मन तो बार-बार पतनशील तथा भोग भोगने का इच्छुक है। यदि तुझे सद्गुरु मिल जायँ तो वे तेरी इस भोग-वासना को मिटा देंगे। तब तू सद्गुरु के चरणों में मिलकर उन्हीं में समा जायगा। गरीबदास कहते हैं कि हे जीव, चल, मैं तुझे उस देश में पहुँचा देता हूँ जहाँ आदि अमर स्थान है, जहाँ सालोक्य, सामीप्य, सायुज्य, सारूप्य चारों मुक्तियाँ तेरी चम्पी करेंगी, माया तेरी दासी होकर रहेगी, तू अभय पद का स्पर्श करेगा और तुझे अविनाशी राम प्राप्त हो जायेंगे।

जीवों के कल्याण के लिये मनुष्य रूप में प्रत्यक्ष वर्तमान एकमात्र तत्त्वज्ञानी सन्त-सद्गुरु ही निर्गुण परमात्मा के सगुण साकार स्वरूप हैं, इस सनातन सत्य के समर्थन में सन्त गरीबदास की कुछ पंक्तियों से उनकी तथा सभी सन्तों की मान्यता भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है अतः इस प्रसंग में उन्हें सादर उद्वृत करने का लोभ न रोक पाना अनुचित नहीं है। वे पंक्तियाँ इस प्रकार हैं –

पट्टन धाम परम गुरु ध्याना। को बूझै वोह देश दिवाना ॥
शंख स्वर्ग से ऊँचा गाजै। चिदानंद का अविचल राजै ॥
एक रसना महिमा क्या गावै। सहस्र रसना शेष नित ध्यावै ॥
नारद शारद ब्रह्मा गावै। महादेव ध्वनि ध्यान लगावै ॥
शंख किरण झिलमिल झिलकंता। द्रवै देवा निर्गुण कंता ॥
सतगुरु दाता है कलि माहीं। प्राण उधारन उतरे सांई ॥
सतगुरु दाता दीन दयालं। जम किंकर के तोरै जालं ॥
सतगुरु दाता दया कराहीं। अगम द्वीप से सो चलि आहीं ॥
सतगुरु बिना पंथ नहिं पावै। सतगुरु मिलै तो अलख लखावै ॥
सतगुरु साहिब एक शरीरा। सतगुरु बिना न लागै तीरा ॥

सतगुरु बान बिहंगम मारैं। सतगुरु भवसागर सैं तारैं ॥
सतगुरु बिना न पावै पैंड़ा। हूंठ हाथ गढ़ि गीजै कैंड़ा ॥
सतगुरु दरदबंद दरवेशा। जो मन करिहैं दूर अंदेशा ॥
सतगुरु दरदवंद दरबारी। उतरे साहिब शुन्य अधारी ॥
सतगुरु साहिब अंग न दूजा। ये सरगुण पै निरगुण पूजा ॥

गरीब निरगुण सरगुण एक है, दूजा भरम बिकार।
निर्गुण साहिब एक है, सरगुण संत विचार॥

— ॥ ८६ ॥ १२१६ ॥

सतगुरु साहिब अकल अलीलं। जाके पंथ न चढ़ै पपीलं ॥
सतगुरु की महिमा क्या गाऊँ। हरष हरष चरणों चित लाऊँ ॥
सतगुरु साहिब आदि अनादं। जाकूं खोजत हैं सुर साधं ॥
जो सतगुरु के शरणै आवै। आनंद घन पद माहिं समावै ॥
सतगुरु दया करै दिल फेरै। कोटि तिमिर मिटि जाहिं अंधेरे ॥
सतगुरु वंकनाल होय आये। शिव ब्रह्मादिक पार न पाये ॥
सतगुरु बंकनाल बैराटा। सतगुरु उतरे औघट घाटा ॥
सतगुरु सार बस्तु बतलावै। पुरुष विदेही कूं दरसावै ॥
सतगुरु साहिब चंबक रूपा। लगी टगटगी छांह न धूपा ॥
साहिव सैं सतगुरु बनि आये। भाव भक्ति ले बिरद बधाये ॥
सतगुरु सा दाता नहिं कोई। तारण तरण अधर मग ज़ोई ॥
सतगुरु परम धाम प्रवानी। सतगुरु ल्याये अगम निशानी ॥
सतगुरु बिना सुरति नहिं पाटै। खेल मंड्या है शिर कै साटै ॥
सतगुरु भक्ति मुक्ति के दानी। सतगुरु बिना न छूटै खानी ॥
सतगुरु शाला कर्म बतावै। सतगुरु अगम द्वीप लै जावै ॥

गरीब अगम द्वीप की देहरी, है सो दिल ही मांहि।
बाहर भर्म कर्म लगै, रहो समाधान की छांहि ॥

— ॥ ८७ ॥ १२३१ ॥

च्यारि पदारथ उर में जोवै। सुरति निरति मन पवन समोवै ॥
शील संतोष विवेक बिज्ञाना। दया धर्म जिन उर मैं आना ॥
सतगुरु अदलिवंध वैठावैं। ऊजड़ नगरी बहुरि वसावैं ॥

सतगुरु मुक्ति मालवै दानी। सतगुरु बिना न पलटै बानी ॥
सतगुरु भेदी भेद लखाई। कागा सैं हंसा होय जाई ॥
सूरति सकल मूल महमंता। सतगुरु बिना न पावै पंथा ॥
सतगुरु अधर धार अधिकारी। सतगुरु खोलैं स्वर्ग द्वारी ॥
सतगुरु शंख स्वर्ग सैं न्यारे। लिपैं छिपैं नहीं टरैं न टारे ॥
सतगुरु सकल शून्य में खेलैं। भवसागर सैं हंसा पेलैं ॥
सतगुरु बिना सकल सब अंधा। सतगुरु काटैं जम के फंदा ॥
सतगुरु जामन मरण मिटावैं। सतगुरु सुख सागर लै जावैं ॥
सतगुरु सुखसागर की सीरी। सतगुरु बिना न बंधै धीरी ॥
सतगुरु सुखसागर के हंसा। सतगुरु मेटत हैं कुल बंसा ॥
सतगुरु नीर क्षीर कूं छानैं। सतगुरु बैठे दर्श दिवानैं ॥
अकल अलील अगम अनुरागी। सतगुरु मिले तास बड़भागी ॥
गरीब सतगुरु मिलै, संदेह सव छूटै भर्म विकार।
समर्थ का शरणा लिया, हम चाकर दरबार ॥

— वही, पृ० २६७ – ६८ (८८ ॥१२४८॥)

सन्त रज्ज़ब

सोलहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में सांगनेर राजस्थान में रज्ज़ब नाम के एक प. । वर्ग के मुसलमान सिर पर मौर बाँधे अपने विवाह के लिये बारात के साथ जा रहे थे। मार्ग में सन्त दादूदयालजी ने इन्हें देखा तो इनसे वोले –

रज्ज़ब तैं गज्ज़ब किया, सिर पर बांध्या मौर।
आया था हरिभजन कूं, करै नरक को ठौर ॥

— सन्त-सुधा-सार, पृ० ५१०

संस्कारी जीव थे। बात दिल में चुभ गयी। मौर उतारकर फेंक दी, वारात को वापस कर दिया और सन्त दादूदयालजी को सर्वात्मभाव से समर्पित होकर उनके साथ चले गये। ये अद्भुत विरक्त सन्त थे। प्रसिद्ध है कि जव इनके सद्गुरु दादूदयाल ने अपना चोला छोड़ दिया तो इन्होंने जो अपनी आँखें बन्द कीं तो फिर कभी नहीं खोलीं। सन्त रज्ज़बजी ने अपना अनुभव इन शव्दों में व्यक्त किया है –

बिन सतगुर समता नहि आवै। नीच ऊँच निगुरा सु दिढ़ावै ॥
येकहि पवन येकही पानी। बुधि बिन वीच बैरता ठानी ॥

येकै आतम येक सरीरा। समझ बिना बड़ अंतर बीरा ॥
सौंज सबै विधि येक बनाई। दुविधा दुरमति है रे भाई ॥
सबकै नख सिख येक बिचारा। येकै सबका सिरजनहारा ॥
गुर के ग्यान माहि सब येकै। रज्जब अंध अग्यान अनेकै ॥

— वही, पृ० ५१७, पद १०

— सन्त रज्जब कहते हैं कि भाई, जब तक सद्गुरु नहीं मिलेंगे, उनका उपदेश सुनने को नहीं मिलेगा, तब तक सब जीवों को एक समान समझने की बुद्धि नहीं उत्पन्न हो सकती। जिनको सद्गुरु नहीं प्राप्त हैं ऐसे लोगों के मन में ही ऊँच-नीच की भावना दृढ़ता से जमी रहती है। हवा-पानी तो सब एक जैसे ही हैं पर बुद्धि न होने से लोग आपस में एक दूसरे से बैर ठाने हुए हैं। सबमें एक ही आत्मा है, एक जैसे ही सबके शरीर हैं पर समझ के बिना आदमी-आदमी के बीच भारी अन्तर पड़ा हुआ है। सिर से पैर तक सबके अंग एक जैसे हैं, विचार करने के यन्त्र एक से हैं, सबको बनानेवाला भी एक ही है, इसीलिये तो परमात्मा स्वरूप सद्गुरु की दृष्टि में सब एक ही हैं। सद्गुरु न मिलने के कारण ज्ञान से रहित, अतएव अन्धे लोग ही अनेकता की भावना रखते हैं।

सन्त तुलसीदास भक्ति का मार्ग बतलाते हुए कहते हैं —

कहहु भजति पथ कवन प्रयासा। जोग न जप तप मख उपवासा ॥
सरल सुभाव न मन कुटिलाई। जथा लाभ संतोष सदाई ॥

सन्त रज्जब इस 'यथालाभ' को विस्तार से इस प्रकार समझाते हैं —

मन रे करु, संतोष सनेही।
तृस्ना तपति मिटै जुग जुग की, दुख पावै नहिं देही ॥
मिल्या सुत्याग माहिं जे सिरज्या, गह्या अधिक नहिं आवै।
तामें फेर सार कछु नाहीं, राम रच्या सोइ पावै ॥
बाछै सरग सरग नहिं पहुँचै, और पताल न जाई।
ऐसें जानि मनोरथ मेटहु, समझि सुखी रहु भाई ॥
रे मन, मानि सीख सतगुरु की, हिरदै धरु बिस्वासा।
जन रज्जब यूँ जानि भजन करु, गोबिंद है घर पासा ॥

— वही, पृ० ५१८, पद ११

— अरे स्नेही मन, सन्तोष कर। सन्तोष से ही तेरी युगो-युगों की तृष्णा की तपन बुझ जायगी और तेरा शरीर भी दुख नहीं पावेगा। कर्मों के फलस्वरूप तुझे जो कुछ मिलने का विधान बन चुका है वह त्याग की भावना रहने पर भी तुझे मिलेगा, उससे अधिक को पाने, पकड़ने के लिये तू कितनी भी दौड़-धूप कर, वह तेरे हाथ नहीं आवेगा। इस बात में कोई अन्तर पड़नेवाला नहीं है, तू वही पावेगा जो राम ने तेरे लिये पहले से रच दिया है। तू चाहे स्वर्ग जाने को, तो स्वर्ग नहीं पहुँच जायगा, न ही इच्छा मात्र से पाताल जा सकता। ऐसा जानकर व्यर्थ की इच्छाएँ करना छोड़ दे और इस बात को समझकर हे भाई, सुखी हो जा। अरे मन, अपने सद्गुरु की शिक्षा मान ले और उसे दृढ़ विश्वास के साथ हृदय में बैठा ले। सन्त रज्जब कहते हैं कि ऐसा समझकर भजन कर कि परमात्मा मेरे घर में ही है, मेरे पास ही है, मुझमें समाया हुआ ही है।

सन्त-सद्गुरु की महिमा का वर्णन करते हुए सन्त रज्जब कहते हैं —

सब सुख की निधि आये साध। करम कलेस कटे अपराध ॥
दरसन देखि किये दंडौत। अघ उतरे, अंकुर उदौत ॥
परिदच्छिन देतेंइ दुख दूरि। चरनोदक लीनां सुख पूरि ॥
स्रवननि कथा सुनत सुखसार। साधु शब्द गहि उतरे पार ॥
साचे संत सजीवन मूरि। रज्जब तिन चरनन की धूरि ॥

— वही, पृ० ५१८, पद १२

— सब सुखों के भण्डार सन्त पधारे हैं। अब मेरे सारे कर्म, क्लेश और अपराध कट गए। उनका दर्शन करके जो मैंने उन्हें दण्डवत् किया तो मेरे सारे पाप उतर गए, समाप्त हो गए और भक्ति का अंकुर उत्पन्न हो गया। उनकी प्रदक्षिणा करते ही मेरे सब दुःख दूर हो गए और उनका चरणोदक लेते ही मैं सब सुखों से भर गया। उनका उपदेश कानों से सुनना ही सुख का सार है। उन साधु यानी सद्गुरु के शब्द, परानाम को पकड़कर मैं संसार-समुद्र से पार हो गया। सच्चे सन्त संजीवनी बूटी ही होते हैं। रज्जब तो उनके चरणों की धूल है।

सद्गुरु-दरबार में, सद्गुरु की शरण में रहनेवाले शिष्य को सद्गुरु की आज्ञा का पालना करना पड़ता है, सद्गुरु की इच्छा का अनुसरण करना पड़ता है, दरबार के या संघ के सामान्य नियमों का पालन करते हुए अनुशासित ढंग से रहना पड़ता है। वहाँ किसी की व्यक्तिगत इच्छा का कोई महत्त्व नहीं होता। वहाँ के

लिये तो 'नहीं चाह नहिं चाहना चरनन लवलीना' ही सर्वोत्तम आदर्श भाव है। सद्गुरु-दरबार में ऐसी ही रहनी को आदर्श माना जाता है कि शिष्य सद्गुरु-चरणों में आत्म-समर्पण करके यह समझ ले कि मैं अब संसार के लिये या अपने लिये भी मर चुका हूँ। अब जो जीवन है वह हे स्वामी, आपकी कृपा से है, आपका दिया हुआ है, आपका है, इसे आप जैसे चाहें, अपने हाथ में पकड़ी हुई जड़ छुरी की भाँति प्रयोग करें, अब मैं सब तरह से आपकी अपनी वस्तु हूँ।

इसके विपरीत मनोभाव रखने से आचरण पर उसका प्रभाव पड़े बिना नहीं रह सकता। इससे शिष्य की आध्यात्मिक प्रगति तो बाधित होती ही है, शिष्य के ऐसे मनमुखी आचरण से दरबार की व्यवस्था पर विपरीत प्रभाव पड़ता है अतः दरबार के स्वामी सदगुरुदेव को हृदय से न चाहते हुए भी ऐसे शिष्य के आचरण में हस्तक्षेप करके उसे अनुशासित करने का शिष्य की योग्यता, पात्रता अथवा स्तर के अनुसार प्रयत्न करना पड़ता है। सद्गुरु का यह प्रयत्न यानी शासन किसी शिष्य को अप्रिय भी लग सकता है। ऐसे लोगों को समझाते हुए सन्त रज्जब कहते हैं —

मार भली जो सतगुरु देहिं। फेरि बदल औरै करि लेहिं ॥
ज्यूं माटी को कुटै कुंभार। त्यूँ सतगुरु की मार बिचार ॥
भावभिन्न कछु औरै होइ। तातें रे मन मार न जोइ ॥
जैसे लोहा घड़ै लुहार। कूटि कूटि करि लेवै सार ॥
मारि-मारि मिहर करि लेहि। तौ निपजै फिरि मारि न देहि ॥
ज्यूं सांटी संपुट में आनि। सूधी करै तीरगर पानि ॥
मन तोड़न का नाहीं भाव। जे तुछ तूटि जाय तौ ज़ाव ॥
ज्यूं कपड़ा दरजी के जाय। टूक टूक करि लेहि बनाय ॥
त्यूं रज्जब सतगुरु का खेल। तातें समझि मार सव झेल ॥

— वही, पृ० ५२३, पद २३

— सन्त रज्जब कहते हैं कि शिष्य को सुधारने के लिये सद्गुरु उसे जिस प्रकार जो भी मार मारते हैं वह बड़ी भली, बड़ी प्यारी होती है। सद्गुरु की वह मार शिष्य में ऐसा उत्तम परिवर्तन ला देती है कि वह भीतर-बाहर से बदलकर कुछ दूसरा ही हो जाता है। जैसे मिट्टी के बर्तन-खिलौने आदि बनाने के लिये कुम्हार मिट्टी को पहले कूटता है, छानता है, कंकड़-पत्थर आदि दूर करके उसे शुद्ध करता है, सद्गुरु की मार या शासन को भी ऐसा ही समझना चाहिए। शासन करते समय सद्गुरु

का जो कठोर स्वरूप दिखाई पड़ता है वह वास्तविक नहीं है। वह तो कारणवश ऐसा दिखाई देता है, जैसे अग्नि या धूप के संयोगवश पानी गरम हो जाता है। स्वभाव तो उसका शीतल रहना है। सद्गुरु का भाव इस दिखाई पड़नेवाले भाव से सर्वथा भिन्न होता है, वास्तव में वे करुणासिन्धु हैं, सदाशिव हैं। इसिलये हे मन, सद्गुरु की मार को मत देख, उनके भीतर लहराते कृपा के सागर को देख और उनके चरणों में प्रेम बढ़ा। जैसे लुहार लोहे को गढ़ता है, उसे गरम करके कूटता है, काटता है और सीधा कर लेता है, फिर उसे न गरम करता, न कूटता, न काटता, इसी प्रकार सद्गुरु के शासन करने पर जब शिष्य सुधर जाता है, उसमें ज्ञानदृष्टि उत्पन्न हो जाती है तब फिर सद्गुरु उसे नहीं मारते यानी उस पर शासन नहीं करते अपितु उस पर दया करते हैं। जैसे तीर बनानेवाला लोहे की छड़ को सँड़सी में जकड़कर अपने हाथ से सीधी करता है, उसके मन में उसे तोड़ने का भाव नहीं रहता, किन्तु यदि वह लोहे की छड़ तुच्छ अर्थात् निम्न कोटि की होने के कारण मोड़ते समय टूट ही जाय, तो टूट जाय, लोहार फिर उसे अनुपयोगी समझकर दूर फेंक देता है। इसी प्रकार सद्गुरु के शासन को हृदय से स्वीकार न करनेवाला शिष्य यदि खिन्नता का अनुभव कर विमुख हो जाय तो वह अपनी ही हानि करता है। ऐसा शिष्य वास्तव में शिष्य कहे जाने योग्य ही नहीं होता, क्योंकि शिष्य शब्द का अर्थ है जो गुरु का शासन स्वीकार करे — 'शासितुं योग्यः शिष्यः'— जो शासन करने योग्य हो वहीं शिष्य है। जैसे कपड़ा दरजी के पास जव पहुँचता है तो दरजी उसे काटकर टुकड़े-टुकड़े कर डालता है और फिर उन टुकड़ों को जोड़कर एक से एक सुन्दर वस्त्र तैयार कर देता है। सद्गुरु की लीला भी ऐसी ही होती है। वे जो शासन करते हैं वह शिष्य के कल्याण के लिये ही होता है — ऐसा समझकर हे शिष्य, सद्गुरु की सब तरह की मार, सब प्रकार का शासन प्रसन्नतापूर्वक झेल ले, सहन कर ले।

परब्रह्म परमेश्वर के सगुण साकार स्वरूप सन्त-सद्गुरु की ही उपासना से धर्म-अर्थ-काम-मोक्ष सब पुरुषार्थ सिद्ध हो जाते हैं, इस तथ्य के समर्थन में सन्त रज्जब के कुछ युक्तिपूर्ण दोहे अथवा साखियाँ बड़ी प्रभावपूर्ण प्रतीत हुईं, अतः अपने सहृदय तथा जिज्ञासुजनों के प्रमोदार्थ उन्हें सादर उद्धृत किया जा रहा है।

दादू दीनदयाल गुरु, सो मेरे सिरमौर।
जन रज्जब उनकी दया, पाई निहचल ठौर ॥

— सन्त रज्जब कहते हैं कि दीनों पर दया करनेवाले सन्त दादूदयाल मेरे सद्गुरु हैं जो मेरे मस्तक के मुकुट हैं अर्थात् जिनका ध्यान करके मैंने उन्हें अपने मस्तक के भीतर त्रिकुटी पर बैठा लिया है और उनकी दया से मुझे वह निश्चल स्थान प्राप्त हो गया है जहाँ से जीव को फिर इस संसार में आकर जन्म नहीं लेना पड़ता।

रज्जब सिख दादू गुरू, दीया दीरघ ग्यान।
तन मन आतम ब्रह्म का समझ्या सब अस्थान ॥

— रज्जब शिष्य को सद्गुरु दादूदयाल ने ऐसा महान्, उच्चकोटि का ज्ञान प्रदान कर दिया जिससे इस शरीर के भीतर वर्तमान आत्मा, मन तथा ब्रह्म की सही बैठक, उनके सही स्थानों का पता चल गया, समझ में आ गया कि उनका क्या स्वरूप है, क्या कार्य है तथा कहाँ उनकी स्थिति है।

रज्जब कूं, अज्जब मिल्या, गुरु दादू दातार।
दुख दरिद्र तब का गया, सुख संपत्ति अपार ॥

— रज्जब को सन्त दादूदयाल के रूप में ऐसे अद्भुत दाता सद्गुरु मिल गये कि जब से वे मिले हैं तभी से सब तरह का दुःख और दरिद्रता समाप्त हो गई तथा अपार सुख-सम्पत्ति प्राप्त हो गयी।

गुरु दादू का हाथ सिर, हृदये त्रिभुवन नाथ।
रज्जब डरिये कौन सूं, मिलिया साईं साथ ॥

— सन्त रज्जब कहते हैं कि मेरे सिर पर सद्गुरु सन्त दादूदयाल का हाथ है, मेरे हृदय में वही तीनों लोकों के स्वामी विराजमान हैं। अब जब स्वामी से मिलकर उनके साथ ही साथ रहना है तो संसार में किससे डरा जाय और क्यों ?

गुरु बिन गम्य न पाइये, समझ न उपजै आइ।
रज्जब पंथी पंथ बिन, कौन दिसावर जाइ ॥

— सद्गुरु के उपदेश के बिना कोई भी जीव अपने ठिकाने तक, शरीर के भीतर वर्तमान सत्यलोक तक नहीं पहुँच सकता, वहाँ तक पहुँचने की बुद्धि ही उसमें उत्पन्न नहीं हो सकती। सन्त रज्जब कहते हैं कि यदि किसी राहगीर को मार्ग का ज्ञान न हो तो वह अपनी जगह से किस देश की ओर जायगा, कैसे जा सकता है ?

सतगुरु बिनु संदेह कूं, रज्जब भानै कौन।
सकल लोक फिरि देखिया, निरखे तीन्यूं भौन ॥

— सद्गुरु की कृपा से सन्त रज्जब को तत्त्वज्ञान हो चुका है। वे अपने शरीर के भीतर वर्तमान सभी लोकों को, वहाँ की व्यवस्था, रीति-नीति आदि को देख चुके हैं, अतः अपना अनुभव बतलाते हुए वे कहते हैं कि मैंने तीनों भुवनों में, सभी लोकों में घूम-फिरकर देख लिया है कि बिना सद्गुरु के जींव के माया से उत्पन्न सन्देहों को कोई भी दूर नहीं कर सकता।

जो प्राणी रुचि सूं गहै, उर अंतरि गुरु-वैन।
जन रज्जब जुग-जुग सुखी, सदा सु पावै चैन॥

— सन्त रज्जब कहते हैं कि जो मनुष्य सद्गुरु के मुँह से निकले शब्द को, परानाम को, उनके उपदेशों को अपने हृदय में रुचिपूर्वक यानी श्रद्धा-भक्ति के साथ धारण कर लेगा अर्थात् उनके श्रीमुख से प्राप्त नाम को निरन्तर अभ्यास द्वारा अपने श्वास में, अपने प्राणों में बसा लेगा तो वह जीव युगों-युगों के लिये सुखी हो जायेगा तथा सदा के लिये उसे चैन मिल जायगा।

रज्जब नर नारी सकल, चकवा चकवी जोड़।
गुरू-बैन बिच रैन में, किया दुहूँ घर फोड़॥

— सन्त रज्जब अपनी अनोखी सूझ प्रस्तुत कर रहे हैं। वे कहते हैं कि सम्पूर्ण स्त्री-पुरुषों के जोड़े मानो चकवा-चकवी पक्षियों के जोड़े हैं। सद्गुरु के वचन उनके मध्य मानो रात्रि है जिसने दोनों का घर फोड़ रखा है, दोनों के बीच फूट डाल रखी है। ऐसी प्रसिद्धि है कि चकवा-चकवी पक्षी रात होते ही अलग-अलग हो जाते हैं, रात बीत जाने पर फिर एक दूसरे से मिल जाते हैं। सद्गुरु से प्राप्त नाम का भजन मन और श्वास के सहयोग से होता है। मन जब भजन में लग जायगा तब मनोज (मन में उत्पन्न होनेवाले काम) को कोई स्थान नहीं रह जायगा अतः स्त्री-पुरुषों में एक दूसरे के प्रति कामभाव से आकर्षण उत्पन्न ही नहीं होगा, वे रतिक्रिया की कामना से एक दूसरे के पास नहीं जाना चाहेंगे। विषयों से विराग के लिए अलग के कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा। केवल सद्गुरु से प्राप्त नाम के स्मरण में मन लगाने से ईश्वर के प्रति अनुराग और विषयों से विराग दोनों महत्त्वपूर्ण कार्य एक साथ अनायास ही सिद्ध हो जायेंगे। कामभाव से स्त्री-पुरुषों का अमर्यादित आचरण दोनों के लिये हानिकारक है, इस बात को सभी मानते हैं किन्तु इन्द्रियनिग्रह हम जैसे पाप-पयोनिधि में डूबे लोगों के लिये केवल कल्पना की बात है। सद्गुरु की

वाणी, उनसे प्राप्त नाम इसमें हमारी सब तरह से सहायता करता है। सन्त तुलसीदास का अनुभव है —

सेवक सुमिरत नाम सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोहदल जीती ॥

— जो सेवक प्रेम के साथ सद्गुरु से प्राप्त नाम का स्मरण करता है उससे केवल काम ही नहीं, काम-क्रोध आदि सभी दोषों का जनक मोह भी स-दल-बल पराजित हो जाता है।

जीव रच्या जगदीस नै, बाँध्या काया माहिं।
जन रज्जब मुकता किया, तौं गुरुसम कोइ नाहिं ॥

— सन्त रज्जब कहते हैं कि जगदीश ने जीव की रचना की है, अवश्य ही यह बड़ा काम है किन्तु जीव को बनाकर उसे शरीर के भीतर बाँध रक्खा है। जबकि सद्गुरु शरीर के भीतर जगदीश द्वारा कैद किए हुए जीव को शरीर के बन्धन से, जन्म-मरण से मुक्त कर देता है, अतः यही बात सिद्ध होती है कि सद्गुरु के समान जीव का उपकार करनेवाला दूसरा कहीं कोई भी नहीं है।

गुरु दीरघ गोविंद सूं, सारै शिष्य सुकाज।
रज्जब मक्का बड़ा, परि पहुँचै बैठि जहाज ॥

— वही, पृ० ५२४-२५

— निश्चय ही सद्गुरु गोविन्द से भी बड़े हैं जो शिष्य के सभी शुभ कार्यों को सफल करते रहते हैं। सन्त रज्जब कहते हैं कि हम मानते हैं कि मक्का बहुत बड़ा, पवित्र तीर्थस्थान है किन्तु जहाज पर बैठकर ही तो वहाँ तक पहुँचा जा सकता है, अतः मक्का से पहले जहाज को ही महत्त्व देना, अपनाना आवश्यक हो जाता है। इसी प्रकार सद्गुरु ही जीव को गोविन्द से मिला देते हैं अतः सद्गुरु को गोविन्द से अधिक महत्त्व प्राप्त होना ही उचित है।

गुरु ग्याता परजापती, सेवक माटी रूप।
रज्जब रज सूं फेरि कै, घड़ि ले कुंभ अनूप ॥
ज्यूं धोबी की धमस सहि, ऊजल होइ कुचीर।
त्यूं सिष तालिब निरमला, मार सहै गुरु पीर ॥

— वही, पृ० ५२८

— तत्त्वज्ञानी सद्गुरु प्रजापति (कुम्हार) हैं और सेवक मिट्टीरूप है। सन्त रज्जब कहते हैं कि जैसे कुम्हार बिखरी हुई धूल को छानकर, सानकर आवाँ की बन्द आग

में तपाकर अनुपम, सुन्दर घड़े का रूप दे देता है ऐसे ही करोड़ों जन्मों के दूषित विखरे संस्कारों से युक्त शिष्य को अपनी आज्ञा में समेटकर, अपनी सेवा में तपाकर सद्गुरु उसे शुद्ध कर लेते हैं, उसे सन्त वना देते हैं। जैसे मैले से मैला कपड़ा धोवी की भट्ठी की आँच तथा उसका कूटना-पीटना सहन करके एकदम उजला हो जाता है इसी प्रकार खोजी शिष्य सद्गुरु की मार यानी शासन से होने-वाली पीड़ा को सहर्ष सहन करके निर्मल अन्तःकरणवाला हो जाता है, साधु वन जाता है।

मन हस्ती मैमंत सिर, गुरू महावत होइ।
रज्जव रज डारै नहीं, करै अनीति न कोइ ॥
असली आग्या में चलै, वाहिर धरै न पांव।
रज्जव कपटी कमअसल, खेलै अपने डाव ॥

— वही, पृ० ५२६

— मतवाले हाथी के सिर पर यदि महावत वैठा रहे तो वह अपने सिर पर धूल नहीं डालता, जवकि अपने सिर पर धूल डालना उसका स्वभाव है। सन्त रज्जव कहते हैं कि इस मनरूपी मतवाले हाथी के सिर पर यदि सद्गुरुरूपी महावत सवार रहे तो वह मन कितना भी क्यों न विगड़ा हो, फिर कोई अनीति नहीं कर सकता। यदि कुछ गड़वड़ करने की चेष्टा करे भी तो महावत का अंकुश उसकी कुचेष्टा को रोक देगा। जो असली सेवक या शिष्य होगा वही सद्गुरु की आज्ञा में रहेगा, सद्गुरु की आज्ञा का उल्लंघन कर एक पग भी वाहर नहीं जायगा, पर जो कमअसल शिष्य या सेवक होगा वह तो नजर वचाकर या मौका देखकर अपने ढंग से अपनी मनमानी कर ही लेगा। ऐसे लोग उस जोंक की तरह होते हैं जो लगी तो रहती है गाय के थन में, पर दूध न पीकर स्वभाववश खून ही पीती है।

सवही बेद विलोय करि अंत दिढ़ावैं नाम।
तौ रज्जव तूं राम भजि, तजि दे थोथा काम ॥
रज्जव अज्जव यह मता, निरादिन नाम न भूलि।
मनसा वाचा करमना, सुमिरन सव सुख मूलि ॥
ज्यूं कामिनि सिर कुंभ धरि, मन राखै ता माहिं।
त्यूं रज्जव करि राम सूं, कारज विनसै नाहिं ॥

— वही, पृ० ५२८

— सभी बड़े-बड़े आचार्यों ने चारों वेदों का मन्थन करके अन्त में यही निष्कर्ष निकाला है कि भगवन्नाम का स्मरण ही भगवान् को प्रसन्न करने का, उन्हें पाने का एकमात्र उपाय है। 'रामायण' नाम से जितने भी ग्रन्थ हैं उन सबमें नाम की उपासना पर ही जोर दिया गया है। भक्तिप्रधान श्रीमद्भागवत महापुराण का तो डिण्डिमघोष है कि भाई, कलियुग में केवल हरिनाम के आश्रय से ही जीव का कल्याण हो सकता है, इसके अतिरिक्त कोई दूसरा उपाय जीव के कल्याण का नहीं है, नहीं है, नहीं ही है —

हरेर्नाम हरेर्नाम हरेर्नामैव केवलम् ।
कलौ नास्त्येव नास्त्येव नास्त्येब गतिरन्यथा ॥

सन्त रज्जब कहते हैं कि हे जीव, जब ऐसी बात है तो वेदों या अन्य धर्मग्रन्थों के मन्थन में जन्म गँवाने से क्या लाभ है, अभी से ही नाम का ज्ञान करके, सद्गुरु से नाम प्राप्त करके उसका जप आरम्भ कर दे, इसके अतिरिक्त सभी निरर्थक काम छोड़ दे।

सन्त रज्जब कहते हैं कि भाई, यह सन्तमत बड़ा अजूबा है। इतनी बड़ी समस्या का इतना सरल समाधान — आश्चर्य होता है, मन विश्वास करने को तैयार नहीं होता। इसीलिये सन्त तुलसीदास कहते हैं — सत्संग की यह चमत्कार-भरी महिमा सुनकर कोई आश्चर्य न करे, सन्तों की महिमा छिपी हुई तो है नहीं, प्रत्यक्ष है, आजमा कर अभी, तुरन्त इसका फल देख लो —

सुनि आचरज करै जनि कोई। सतसंगति महिमा नहिं गोई ॥
मज्जन फल पेखिअ ततकाला। काक होहिं पिक बकहु मराला ॥

— सन्त-समाजरूपी तीर्थराज में कौआरूपी जीव गोता लगाकर हंस बनकर निकलता है। इसलिये सन्त रज्जब कहते हैं कि सद्गुरु से प्राप्त नाम का दिन-रात लगातार स्मरण करो, उसे भूलो नहीं, क्योंकि मन-वचन-कर्म से नाम का स्मरण ही सब सुखों का मूल है। मन से नाम का श्वास के सहारे स्मरण करना, वाणी से नाम और नामी का गुणगान करना तथा शरीर द्वारा शरीरधारी नाम अर्थात् सद्गुरु की सेवा करना — यही मन-वचन-कर्म से नाम का सुमिरन है।

त्रिकुटी पर ब्रह्मवेत्ता सद्गुरु के ध्यान का लक्ष्य कर सन्त रज्जब कहते हैं कि जैसे पनिहारिन सिर पर जल-भरा घड़ा रखे हुए दूसरों से बातें भी करती है, दोनों

हाथों से रस्सी-बाल्टी आदि भी सँभालती है पर ध्यान सिर पर रखे घड़े में ही लगा रहता है इसी तरह शिष्य को सदा शरीर से सब सांसारिक कार्य करते हुए भी त्रिकुटी पर विराजमान अपने सद्गुरु के चरणों में मन लगाए रहना चाहिए। ऐसा करने से उसका कोई काम कभी बिगड़ेगा नहीं।

रज्जब रचिये राम सूं, तौ तजिये संसार।
देखहु, तरु फल ना लहैं, बिना भये पतझार ॥ ५० ॥
जैसे छाया कूप की, बाहिर निकसै नाहिं।
जन रज्जब यूं राखिये, मन मनसा हरि माहिं ॥ ५१ ॥

— वही, पृ० ५२६

— सन्त रज्जब कहते हैं कि यदि सद्गुरु से प्रेम बढ़ाना है तो संसार का त्याग अर्थात् सांसारिक विषयों से मन को हटाना आवश्यक है। स्वयं देख लो, वृक्ष भी पतझड़ हुए बिना, पुराने पत्तों को गिराये बिना फल प्राप्त नहीं करते।

किन्तु संसार में रहते हुए अपने मनमुखी उपायों द्वारा संसार को छोड़ सकना सम्भव नहीं है अतः उसका उपाय बतलाते हुए सन्त रज्जब कहते हैं कि जैसे कुए की छाया कभी कुए से बाहर नहीं निकलती इसी प्रकार शिष्य को त्रिकुटी पर वर्तमान अधोमुख कुए के भीतर विराजमान सद्गुरु के चरणों में सदा अपने मन को लगाए रखना चाहिए। ऐसा करते रहने से सद्गुरु के चरणों में प्रेम और संसार का त्याग दोनों महत्त्वपूर्ण कार्य एक साथ अनायास ही सिद्ध हो जायेंगे।

सरणा साईं साध की, पकड़ि लेहि रे प्राण।
तौ रज्जब लागै नहीं, जम जालिम का बाण ॥

— वही, पृ० ५३०

— सन्त रज्जब कहते हैं कि अरे प्राण, जितनी जल्दी हो सके, सद्गुरु स्वामी की शरण पकड़ ले। यदि तू ऐसा कर लेता है तो फिर तुझे जालिम, जुल्म करनेवाले, निर्दयी यमराज का बाण नहीं लगेगा।

वेद सु बाणी कूपजल, दुख सूं प्रापति होइ।
सबद साखि सरबर सलिल, सुख पीवैं सब कोइ ॥

— सन्त रज्जब कहते हैं कि वेदों की उत्तम बाणी कुए के जल की भाँति है, जो बहुत दुःख उठाने के बाद प्राप्त होती है। जैसे कुए का जल रस्सी-बाल्टी आदि सामग्री की सहायता के बिना प्राप्त नहीं किया जा सकता इसी प्रकार वेदों का तत्त्व समझने

के लिये उससे पहले संस्कृत व्याकरण, प्रातिशाख्य, सर्वानुक्रमणी, ब्राह्मणग्रन्थ आदि का पूर्ण ज्ञान होना आवश्यक है, जबकि सन्तों की स्थानीय प्रादेशिक बोली में रची हुई साखियाँ अथवा पद तालाब के जल के समान हैं जिन्हें विद्वान्-मूर्ख सभी वर्ग के लोग सरलता से समझकर उनका तत्त्व ग्रहण कर लेते हैं। इसिलिये सन्तों की वाणी पढ़ने-समझने में जिज्ञासुजनों की अभिरुचि होनी चाहिए जिनके एक-एक शब्द में उनका अनुभव किया हुआ सारतत्त्व समाया हुआ है।

सन्त बखना (बषना)

अनुमानतः सोलहवीं शताब्दी के प्रथम चरण में सन्त दादूदयाल के शिष्य बषना (बखना) नाम के एक राजस्थानी गृहस्थ सन्त हुए हैं। आपकी वाणी में भी एकमात्र सद्गुरु और उनसे प्राप्त नाम की उपासना का समर्थन प्राप्त होता है। आप कहते हैं —

राम नाम निज ओषधी, सतगुरु दई बताय।
ओषधि खाय रु पछि रहै, बषना बेदन जाय ॥ ३ ॥
इहिं ओषद तैं साध सब, अनत उधारी देह।
कोइ कुपछ का फेर है, नहीं त ओषद येह ॥ ५ ॥

— सन्त-सुधा-सार, पृ० ५३६

— सन्त बषना कहते हैं कि सद्गुरु ने भवव्याधि, काम-क्रोध-लोभ-मोह-मद-मात्सर्य, दैहिक-दैविक-भौतिक ताप आदि से पीड़ित शिष्य को रामनामरूपी निज औषधि प्रदान कर दी है। अब यदि वह उनकी बताई हुई विधि से उस औषधि का सेवन करे अर्थात् निरन्तर भजन करे और पथ्य पालन करे, मन को विषयों की ओर न जाने दे तो उसकी वेदना मिट जायगी, सम्पूर्ण क्लेश निश्चय ही समाप्त हो जायँगे।

इसी औषधि से सब सन्तों ने अनन्त जीवों का उद्धार किया है। अब यदि किसी को सद्गुरु से नामरूपी औषधि प्राप्त हो जाने पर भी लाभ नहीं प्रतीत हो रहा है, उसके दुःख दूर नहीं हो रहे हैं तो निश्चय ही वह उपर्युक्त किसी कुपथ्य के चक्कर में पड़ा होगा, फलतः नित्य-नियम से औषधि सेवन नहीं कर रहा होगा, अन्यथा औषधि तो यही है, इसके अतिरिक्त भवमहारोग की कभी कोई दूसरी औषधि नहीं रही, न है ही।

यूं लै लावौ राम सूं, बषना सारौ काम।
अवार हूवां पंथी डरै, कब घरि जास्यूं राम ॥ १८ ॥

— वही, पृ० ५३८

— अपने घर जाने के लिये मार्ग में चलते हुए राहगीर को यदि सूर्यास्त होता दिखाई पड़े और घर अभी भी दूर है, तो वह शीघ्र घर पहुँचने की आतुरता, व्याकुलता में जल्दी-जल्दी पैर बढ़ाते हुए मन ही मन कह उठता है — हे राम ! मैं कब कैसे जल्दी से घर पहुँच जाऊँगा ! सन्त बषना कहते हैं कि त्रिकुटी पर विराजमान अपने सद्गुरु के दिव्य रूप के दर्शन के लिये तुम ऐसी ही लौ लगा लो तो तुम्हारे सारे काम अनायास ही सिद्ध हो जायेंगे।

सोई जागै रे सोई जागै रे, राम नाम ल्यो लागै रे ॥
आप अलंबण नींद अयाणा, जागत सूता होय सयाणा।
तिहिं बरियाँ गुरु आया, जिनि सूता जीव जगाया ॥
थी तो रैणि घणेरी, नींद गई तब मेरी।
डरता पलक न लाऊँ, हूँ जाग्यो और जगाऊँ ॥
सोवत सुपना माहीं, जागूं तो कछु नाहीं।
सुरति की सुरति बिचारी, तब नेहा नींद निवारी ॥
एक सबद गुरु दीया, तिहिं सोवत बैठा कीया।
बषना साध सभागा, जे अपने पहरे जागा ॥

— वही, पृ० ५४२, पद ६

— वही जागता है रे, वास्तव में वही जागता है जो सद्गुरु से प्राप्त रामनाम में अपनी लौ लगाए रहता है। मैं अपने अहंकार का आश्रय लेकर जागते हुए भी सो रहा था, मैं परम मूर्ख होते हुए भी अपने को बड़ा चतुर समझ रहा था। तभी सद्गुरु आए और उन्होंने मेरे सोए हुए जीव को जगा दिया। रात तो घोर अँधेरी थी किन्तु सद्गुरु के जगा देने से मेरी नींद दूर भाग गई अर्थात् बीते हुए असंख्य जन्मों के कुसंस्कार थे तो बड़े प्रबल, किन्तु सद्गुरु की फूँक कान में पड़ते ही वे आँधी में धूल की तरह उड़ गए। अब मैं डर के मारे अपनी पलक बन्द नहीं करता कि कहीं फिर से नींद न घेर ले। अब मैं जाग चुका हूँ अतः दूसरे अपने जैसे सोए हुए लोगों को जगा रहा हूँ। सद्गुरु के जगाने से पहले सोते समय जो स्वप्न

देख रहा था उसे ही सत्य समझ रहा था पर जागते ही मिथ्या स्वप्न सब बिलीन हो गया। अब तो सद्गुरु के स्वरूप की सुरति से संबन्धित विचार और स्नेह ने आँखों से नींद ही उड़ा दी है। एक शव्द जो सद्गुरु ने मुझे दिया और उसके स्मरण की जो विधि बतलाई उसी तरह मैं उस नाम के स्मरण का अभ्यास बैठे-सोते करता रहता हूँ। सन्त वषना कहते हैं – वही साधु है, वही सौभाग्यशाली है जो भजन के अपने समय में यानी ब्राह्म मुहूर्त में जागा रहता है।

सन्तों का अनुभव है कि यदि साधक नाम-स्मरण करते-करते ही सो जाय तो निद्रावस्था में भी वह अज्ञात रूप से नाम-स्मरण करता रहता है। इसका प्रमाण यह है कि जब वह जागता है तो अनुभव करता है कि नाम-स्मरण करते हुए ही उसकी नींद खुली है। इस प्रकार सोते हुए भी भजन किया जा सकता है, इसमें सन्देह नहीं होना चाहिए।

व्रत इत्यादि कर्मों को निरर्थक वतलाते हुए सन्त वषना कहते हैं –

भाई रे भूख मुवाँ गति नाहीं, ताथैं समझि देखि मन माहीं ॥
आगै साध सब ही हूवा, भूखा कोई न मूवा।
जिन पाया तिन सहजै पाया, राम रूप सब हूवा ॥
धू पहलाद कवीर नामदेव, पाषंड कोई न राख्या।
वैठि इकंत नांव निज लीया, वेद भागोत यूं भाख्या ॥
देव देहुरा सवही माया, याह में रांम न पाया।
रमि भरमि सवही जग मूवा, यूं ही जन्म गँवाया ॥
जा जन को गुर पूरा मिलिया, अलख अभेव बताया।
गुर दादू तैं वषना तिरिया, वहुड़ि न संकट आया ॥

– वही, पृ० ५४, पद ७

– अरे भाई, मन में अच्छी तरह समझकर देख ले, भूखों मरने से सद्गति नहीं होती। पहले भी वहुत से साधु-सन्त हुए हैं पर किसी ने भूखे रहकर प्राण नहीं दिए। जिन्होंने तत्त्वज्ञान पाया उन्होंने प्रकृति के साथ तालमेल में सहज रहकर ही पाया और सब रामरूप हो गए। ध्रुव, प्रह्लाद, कवीर, नामदेव इन सबने पाखण्ड का कोई आचरण नहीं किया। इन सवने एकान्त में बैठकर 'निजनाम' सद्गुरु से प्राप्त नाम का स्मरण किया – वेदों ने, श्रीमद्भागवत ने यही बतलाया है। देव, देवालय

आदि सब माया ही हैं, इनमें कहीं भी राम मिलनेवाला नहीं है। इन अनेक प्रकार के देवी-देवता, तीर्थ-मन्दिर, व्रत-उपवास आदि में रमा हुआ सारा संसार भ्रम में पड़कर मर रहा है और जन्म व्यर्थ गँवाए जा रहा है। जिस आदमी को पूर्ण सद्गुरु, सच्चे सद्गुरु मिल जाते हैं उसे वे उस परमात्मा से मिला देते हैं जिसे उनकी दया के बिना अन्य किसी उपाय से नहीं देखा जा सकता और न जिसका भेद किसी को मिल सकता। बषना तो सद्गुरु दादूदयालजी की दया से तर गया, भवसागर पार कर गया। सद्गुरु ने जबसे मिलकर दया की है उसके बाद से मैं फिर कभी संकट में नहीं पड़ा।

> हेरि लै फेरि लै घेरि लै पाछो। रामभगति करि होय मन आछो ॥
> जाणि ताणि अपूठो आणि। जे वाणैं तो हरि सों वाणि ॥
> बावरो भयो कै लागी वाइ। रीती तलाइयां झूलण जाइ ॥
> साध संगति में रहु रे भाई। बखना तूनैं रामदुहाई ॥
>
> — वही, पृ० ५४८, पद १६

— इस अनित्य क्षणभंगुर संसार और शरीर को ही सत्य समझकर इसके मोह में तन-मन से डूबे विषयी जीव की अनन्त दुर्दशा को देखकर अत्यन्त व्यथित सन्त बषना उसे इस माया के चक्कर से मुक्त होने का सरल अनुभूत उपाय बतलाते हुए कह रहे हैं — अरे भाई, क्या तू बौरा गया है, या तुझे बाई चढ़ गई है, जो तू इन सूखी तलैयों में नहाने और तैरने जा रहा है? अर्थात् दुःखमय इस संसार में सुख पाने की आशा कर रहा है? राम की भक्ति कर तो तेरा मन अच्छा हो जाय, निर्मल हो जाय। भलीभाँति खोज-बीन कर ले, विचार कर ले और अपने मन को घेर-घारकर खींच-तानकर विषयों की ओर से फेरकर पलट ले, उसे सद्गुरु के सामने लाकर खड़ा कर। यदि तुझे व्यापार ही करना है तो सद्गुरु से लेन-देन कर, अपने शुभ-अशुभ कर्म, अहंकार आदि उन्हें दे दे और उनकी दया प्राप्त कर ले, परानाम प्राप्त कर ले। भाई! मैं तुझे राम की दुहाई देकर कहता हूँ कि तू सन्तों की संगति में रह, उन्हीं से तुझे तेरे उद्धार का मार्ग मिलेगा।

सन्त सुन्दरदास

राजस्थान के विरक्त सन्त स्वामी सुन्दरदासजी भी सन्त दादूदयाल के ही शिष्य थे (सन् १५९६ – १६८९ ई०)। आपने ६-७ वर्ष की छोटी अवस्था

में ही गुरु को आत्मसमर्पण कर दिया था। काशी के असी घाट में रहकर आपने व्याकरण-साहित्य आदि शास्त्रों का भी गहन अध्ययन किया था। आपने भक्ति-ज्ञान के प्रतिपादक बहुत से ग्रन्थ लिखे जिनमें यही सिद्धान्त स्थिर किया गया है कि तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु की कृपा के बिना वैराग्य-भक्ति-ज्ञान आदि की प्राप्ति सम्भव नहीं है। इस प्रकार की आपकी कुछ उक्तियाँ यहाँ सादर उद्धृत की जा रही हैं।

वेद प्रगट ईश्वरवचन, ता महिं फेर न सार।
भेद लहैं सद्गुरु मिलैं, तव कछु करै विचार॥

— सन्त-सुधा-सार, पृ० ५८६, दोहा १

— वेद निस्सन्देह ईश्वर की वाणी है किन्तु वे त्रिगुणात्मक हैं —'त्रैगुण्यविषया वेदाः'। एक दूसरे में सने हुए सत्त्व-रज-तम तीनों गुणों का समुदाय वेदों का विषय है। बड़े-बड़े विद्वान् भी उन्हें पढ़कर यह निर्णय नहीं कर पाते कि इनमें कौन सी बात क्यों ग्रहण करने योग्य है और कौन सी बात क्यों त्याग देने योग्य है —

किं कर्म किमकर्मेति कवयोऽप्यत्र मोहिताः।

— श्रीमद्भगवद्गीता ४।१६

अतः स्वामी सुन्दरदासजी कहते हैं कि तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु यदि प्राप्त हो जायँ और उनसे भेद की बात यानी पराविद्या के क्षेत्र के गुप्त रहस्य का ज्ञान हो जाय तभी वेदों की बातों पर कुछ बिचार किया जा सकता है, अन्यथा नहीं। सन्त-सद्गुरु ही वास्तव में वेदों का मर्म जानते हैं। वेदों में जीव के कल्याण की जो बातें हैं वही सन्तजन जीवों को सीधे सरलता से वतला देते हैं। सन्त तुलसीदास इसीलिये स्पष्ट कहते हैं —

वेद पुरान उदधि घन साधू।

वेदों को ठीक-ठीक न समझकर मनमुखी उल्टे-सीधे कर्म करने तथा वेदों की दुहाई देनेवाले लोगों के लिये सन्त तुलसीदास विनयपत्रिका में व्यंग्य-पूर्वक कहते हैं कि ऐसे लोगों की समझ में तभी यह बात आवेगी जव वेदों के अनुसार आचरण करने का फल उन्हें वेद प्रदान करेंगे --

पाएहि पर जानिवो करम फल, भरि भरि वेद परोसो।

— पद १७३

अदुभुत ख्याल रच्यौ प्रभू, बहुत भाँति बिस्तार।
संत किये उपदेस कौं, पार उतारनहार ॥

— सन्त-सुधा-सार, पृ० ५८८, दोहा १

— स्वामी सुन्दरदासजी कहते हैं — हे प्रभु, अद्भुत लीला है आपकी, बड़े विस्तार से जड़-चेतन, गुण-दोष तथा तीनों गुणों को मिलाकर आपने यह ऐसी मायामयी अनोखी सृष्टि बनाई है कि इससे पार पाना किसी के वश की बात नहीं है। किन्तु बड़ी दया है प्रभु आपकी, जो जीवों को नाम का उपदेश देकर इस भवसागर से पार उतारने के लिये सन्तों को भी अवतरित कर दिया अर्थात् सन्त-सद्गुरु के रूप में आप स्वयं ही इसमें विराजमान हैं।

सद्गुरु-महिमा कहन कौं, मैं बहुत लुभाया।
मुख मैं जिह्वा एक ही, तातें पछिताया ॥

— वही, पृ० ५९०, निसांनी २०

— सद्गुरु की महिमा का वर्णन करने का मेरे मन में बहुत लोभ है किन्तु उनकी महिमा अनन्त है, अपार है, शेष-शारदा आदि भी उसका वर्णन नहीं कर सकते। मेरे तो एक ही मुख है, इस बात का मुझे बड़ा पछतावा है। हजारों मुख होते तो सम्पूर्ण महिमा का वास्तविक वर्णन भले ही न कर पाता, यथाशक्ति अधिक से अधिक कह लेने से मुझे कुछ सन्तोष तो हो जाता।

बहे जात संसार मैं, सद्गुरु पकरे केश।
सुन्दर काढ़े डूबते, दै अद्भुत उपदेश ॥

— वही, पृ० ५९२, दोहा २

— सन्त सुन्दरदासजी कहते हैं कि मैं इस संसारसागर में डूबता-उतराता बहा जा रहा था। तभी मेरे सद्गुरु ने मेरे केश पकड़कर मुझे खींच लिया और अद्भुत उपदेश देकर उबार लिया। मेरे सद्गुरु ने ऐसी दया न की होती तो मैं डूब ही गया होता।

सुन्दर सद्गुरु जगत में, परउपगारी होइ।
नीच ऊँच सब ऊधरै, सरनैं आवै कोइ ॥
सुन्दर सद्गुरु सहज मैं, कीये पैली पार।
और उपाय न तिर सकै, भवसागर संसार ॥

— वही, पृ० ५९३, दोहा ५, ७

— सुन्दरदासजी कहते हैं कि इस संसार में सन्त केवल जीवों का उपकार करने के लिये ही शरीर धारण किए रहते हैं। वे अपेतकृत्य होते हैं — अपना सब काम पूरा कर चुके होते हैं। उनकी शरण में अमीर-गरीब, पण्डित-मूर्ख कोई भी आवे, सबका समान रूप से संसार-सागर से उद्धार हो जाता है।

सद्गुरु ने बड़ी सहजता से, मात्र नाम का उपदेश देकर जीव को भवसागर पार करा दिया। जीव को थोड़ा सा भी कष्ट नहीं होने पाया। सन्त सुन्दरदासजी कहते हैं कि जन्म-मरणमय इस संसार को सद्गुरु की शरण आए बिना अन्य किसी भी उपाय से जीव पार नहीं कर सकता।

सुन्दर सद्गुरु यों कह्या, सकल सिरोमनि नाम।
ताकौं निसदिन सुमरिये, सुखसागर सुखधाम ॥

— वही, पृ० ६३५, दोहा १

— असंख्य जन्मों से लगातार तीनों तापों से सन्तप्त हो रहे इस जीव को सुख-शान्ति कैसे मिले, इसे सद्गति कैसे प्राप्त हो, यह प्रश्न उठने पर सन्त सुन्दरदासजी कहते हैं कि जीव के सुखी होने के लिये योग-यज्ञ-व्रत-जप-तप आदि जितने साधन हैं उन सबमें श्रेष्ठ, सब का मुकुटमणि एकमात्र यह नाम ही है जो सद्गुरु की दया से ही उनसे प्राप्त हो सकता है। अतः सद्गुरु से वह नाम प्राप्त करके सब तर्क-वितर्क छोड़कर विश्वास के साथ दिन-रात लगातार उसका सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई विधि से स्मरण करते रहो। यह नाम का स्मरण ही सम्पूर्ण लौकिक-पारलौकिक, अथवा भौतिक-आध्यात्मिक सुखों का समुद्र है, सब सुखों का अक्षय भण्डार है।

संत समागम कीजिये, तजिये और उपाइ।
सुन्दर बहुतै उद्धरे, सतसंगति में आइ ॥
संत मुक्ति के पौरिया, तिनसौं करिये प्यार।
कूँजी उनके हाथ है, सुन्दर खोलहिं द्वार ॥

— वही, पृ० ६४७, दोहा १-२

— अनेक प्रकार की परम्पराओं और पूर्वाग्रहों में जकड़े संसारी जीवों को अपना अनुभव किया हुआ उपदेश देते हुए सन्त सुन्दरदासजी कहते हैं कि भाई, सांसारिक विपत्तियों से छूटने के लिये, संसार-सागर को पार करने के लिये केवल सत्संग करो, अन्य सभी उपायों को छोड़ दो, उनसे कोई लाभ नहीं होगा। विश्वास करो, सन्तों की संगति में आने से बहुत जीवों का उद्धार हो चुका है।

सन्त-सद्गुरु ही मुक्ति के द्वारपाल हैं, पहरेदार हैं। मुक्ति के द्वार में जो ताला बन्द है उसकी चाबी सन्त-सद्गुरु के ही हाथ में है। उनसे प्यार करो तो वे तुम्हारे लिये उस ताला को खोल देंगे और तुम इस शरीर के रहते ही मुक्ति प्राप्त कर लोगे – जीवन्मुक्त हो जाओगे।

धोवत है संसार सब, गंगा माहैं पाप।
सुन्दर संतनि के चरण, गंगा बंछै आप॥

– वही, पृ० ६४८, दोहा ६

– सारा संसार गंगा नदी में अपने पाप धो रहा है और समझ रहा है कि मैं निष्पाप हो रहा हूँ, जबकि वास्तविकता यह है कि गंगा स्वयं निष्पाप तथा पवित्र होने के लिये सन्तों के चरणों का स्पर्श चाहती रहती है। सन्त सुन्दरदासजी का आशय यह है कि शरीर पर लगा हुआ मैल तो गंगा में स्नान करने से दूर हो सकता है पर करोड़ों जन्मों के पापों का जो मैल जीव पर लिपटा हुआ है वह गंगास्नान करने से नहीं छूटेगा। वह सद्गुरु के चरणों में प्रणाम करने, उनकी सेवा करने तथा दिन-रात उनका स्मरण करने से ही छूट सकता है। सन्त तुलसीदास तो कहते हैं कि सन्तों के दर्शनमात्र से पाप नष्ट हो जाते हैं – संत दरस जिमि पातक टरहीं।

सतसंग नितप्रति कीजिये, मति होइ निर्मल सार रे।
रति प्रानपति सों ऊपजै, अति लहै सुक्ख अपार रे॥
मुख नाम हरि हरि उच्चरै, श्रुति सुनै गुन गोविन्द रे।
रटि ररंकार अखंड धुनि, तहँ प्रगट पूरन चन्द रे॥
सतगुरु बिना नहिं पाइये, यह अगम उलटा खेल रे।
कहि दास सुन्दर देखते, होइ जीव-ब्रह्महि मेल रे॥

– वही, पृ० ६५२, पद २

– सुनो भाई, नित्य प्रति सत्संग किया करो। 'सत्' शब्द का अर्थ, सत्पदार्थ सद्गुरु हैं, उनका संग सत्संग है। उनकी बतलाई अनुभवसिद्ध युक्ति से उनसे प्राप्त नाम के स्मरण के साथ उनके स्वरूप की भावना, उनका ध्यान सत्संग है। इससे बुद्धि सब तरह से, पूर्णरूप से निर्मल हो जायगी और तब प्राणों के स्वामी सद्गुरुदेव के प्रति हृदय में प्रेम उत्पन्न हो जायगा। परमात्मस्वरूप सद्गुरु के प्रति प्रेम उत्पन्न होना ही तो साध्य है, साधना का फल है। ऐसा होते ही अतिशय सुख, अपार सुख प्राप्त

हो जायगा। मुख से सद्गुरु से प्राप्त नाम की चर्चा करते रहो और कानों से उसी नाम-रूप की महिमा सुनते रहो। उस नाम की ध्वनि जब तेल की धार के समान निरन्तर एकरस सहज भाव से मन में गूँजने लगेगी, सद्गुरु के इस स्थूल भौतिक शरीर का ध्यान भी स्थिर हो जायगा तो उनकी दया से अचानक ही ध्यान में ही परम प्रकाशपुंज प्रकट हो जायगा। स्वामी सुन्दरदासजी कहते हैं कि यह बात कहने को तो चार बाक्यों में कह दी गई पर यह बात बड़ी अगम है। यह कितना दुष्कर है, कठिन है, यह तो करनेवाले को ही मालूम हो सकेगा। उल्टा खेल है। जन्म-जन्मान्तर से बाहर बिखरे मन को भीतर ले जाकर स्थिर कर पाना उल्टा ही खेल कहा जायगा। इसमें सद्गुरु की कृपा के बिना सफलता मिलना असम्भव है, और यदि सद्गुरु की कृपा से इस उल्टे खेल में सफलता मिल गई तो देखते ही देखते इस जीव का ब्रह्म से मेल हो जायगा।

हमरै गुरु दीनी एक जरी।
कहा कहौं कछु कहत न आवै, अंमृतरसहिं भरी॥
ताकौ मरम संतजन जानत, वस्तु अमोल परी।
यातें मोहि पियारी लागति, लैकरि सीस धरी॥
मन भुजंग अरु पंच नागनी, सूँघत तुरत मरी।
डायन एक खात सब जग कौं, सो भी देख डरी॥
त्रिविधि विकार ताप तनि भागी, दुरमति सकल हरी।
ताकौ गुन सुनि मीच पलाई, और कवन बपुरी॥
निस बासर नहिं ताहि बिसारत, पल छिन आध घरी।
सुन्दरदास भयौ घट निरविष, सब ही ब्याधि टरी॥

—वही, पृ० ६५३, पद ५

—मेरे सद्गुरु मे मुझे एक जड़ी (नाम) दी है। अब क्या कहूँ, उसकी महिमा कहते नहीं बन रही है, यही समझ लो कि वह अमृतरस से भरी हुई है, बहुत ही कीमती वस्तु समझो पड़ी मिल गई है। उस जड़ी का महत्त्व और भेद सन्तजन ही ठीक जानते-समझते हैं। इसीलिये वह मुझे बहुत प्रिय लगी और मैंने उसे अपने सिर के भीतर (त्रिकुटी पर) धारण कर लिया। मनरूपी काला नाग और पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँरूपी नागिनें उसे सूँघते ही तुरन्त मर गईं, और अविद्या अथवा मायारूपी एक डायन जो सारे संसार को खाये जा रही है वह भी उस जड़ी को देखकर डर

गई। उसके प्रभाव से तीनों प्रकार के दैहिक-दैविक-भौतिक सन्ताप शरीर को छोड़ कर दूर भाग गए और सारी कुबुद्धि का उस जड़ी ने हरण कर लिया। उसके गुण-धर्म और प्रभाव को सुनकर मृत्यु भी भाग गई, और किसी बेचारी की क्या हिम्मत है उसके सामने टिकने की। दिन-रात, घड़ी-आधी घड़ी तो क्या, पलभर, क्षणभर के लिये भी मैं उसे नहीं भुलाता। स्वामी सुन्दरदास कहते हैं कि इसका परिणाम यह है कि शरीर का सारा विष नष्ट हो गया और सव प्रकार की शारीरिक-मानसिक व्याधियाँ दूर हो गईं।

लगा मोहि राम पियारा हो।
प्रीति तजी संसार सौं, मन किया नियारा हो॥
सतगुरु शव्द सुनाइया, दिया ज्ञान विचारा हो।
भरम तिमी भागे सवै, गहि कीया उजियारा हो॥
चाखि चाखि सव छाड़िया, माया-रस खारा हो।
नाम-सुधा रस पीजिये, छिन वारम्वारा हो॥
मैं बन्दा हौं ब्रह्म का, जाका वार न पारा हो।
ताहि भजै कोइ साधवा, जिनि तन मन मारा हो॥
आन देव कौं ध्यावई, ताकै मुख छारा हो।
अलख निरंजन ऊपरै, जन सुन्दर वारा हो॥

— वही, पृ० ६५४, पद ७

— अव मुझे मेरे राम (सद्गुरुदेव) प्रिय लगने लगे हैं। अव मैंने संसार से प्रेम करना छोड़ दिया है, संसार से अपना मन हटा लिया है। सद्गुरुदेव ने मेरे कान में शव्द (नाम) सुना दिया और उसके भजन-अभ्यास की विधि वतला दी, ध्यान का विधान समझा दिया। उनका उपदेश प्राप्त होते ही सारा भ्रमरूपी अन्धकार दूर हो गया। उन्होंने मुझे पकड़कर उपदेश देते हुए मेरे भीतर उजाला कर दिया। अव मैंने संसार के सारे विषयों का स्वाद ले-लेकर उन्हें छांड़ दिया क्योंकि माया का रस यानी विषयानन्द वड़ा खारा होता है, बड़ा दुःखदायी होता है। अव तो क्षण-क्षण में वार-वार नामरूपी अमृतरस ही पीना है। मैं उस ब्रह्म का, ब्रह्मस्वरूप सद्गुरुदेव का शिष्य हूँ, सेवक हूँ, जिनकी महिमा और सामर्थ्य का कोई आर-पार नहीं है, अन्त नहीं है। ऐसे सद्गुरुदेव का भजन अर्थात् सेवा कोई ऐसा साधु ही कर सकता है, जिसने अपने शरीर, इन्द्रियों तथा मन को पूरी तरह वश में कर लिया हो। सन्त

सुन्दरदासजी कहते हैं कि ऐसे परमात्मस्वरूप सद्गुरु को छोड़कर जो किसी दूसरे देवता का ध्यान करते हैं उनके मुँह में धूल ही भरी जानेवाली है अर्थात् उन्हें धिक्कार है। मैं तो उन्हीं की कृपा के सिवाय किसी अन्य उपाय से न देखे जा सकने-वाले माया से परे विराजमान सद्गुरुदेव पर न्यौछावर हूँ।

सद्गुरु से नाम का उपदेश लेकर उनकी बतलाई हुई विधि से, तल्लीन होकर त्रिकुटी पर सद्गुरुदेव के स्वरूप का ध्यान करते-करते सुन्दरदासजी के मस्तक के भीतर उनके सद्गुरुदेव का तेजोमय तात्त्विक स्वरूप प्रकट हो गया है जिसका वर्णन वे इस प्रकार कर रहे हैं —

आजु मेरे गृह सतगुरु आये।
भरम करम की निसा बितीती, भोर भयौ रवि प्रगट दिखाये ॥
अति आनन्दकन्द सुखसागर, दरसन देखत नैन सिराये।
प्रफुलित कमल अंग सब पुलकित, प्रेमसहित मन मंगल गाये ॥
वचन सुनत सबही दुख भागे, जागे भाग चरन सिर लाये।
सुन्दर सुफल भयौ सबही तनु, जन्म-जन्म के पाप नसाये ॥

— वही, पृ० ६५६, पद १०

— आज मेरे घर मेरे सद्गुरुदेव पधारे हैं। आज भ्रमपूर्ण कर्मों की रात्रि अर्थात् अविद्या समाप्त हो गई, सबेरा हो गया, ज्ञानरूपी सूर्य दिव्यदृष्टि से प्रत्यक्ष दिखाई पड़ने लगा। आनन्द को उत्पन्न करनेवाले सुख के समुद्र उस स्वरूप का दर्शन करते ही नेत्र शीतल हो गए। मस्तक के भीतर सहस्रदल कमल खिल उठा, सब अंग आनन्द से पुलकित हो गए, और मन प्रेम में डूबकर मंगल गीत गाने लगा। उनके वचन सुनते ही सम्पूर्ण दुःख सदा के लिये नष्ट हो गए, अनादि-काल से सोये भाग्य जाग गए और मैंने उनके चरणों में अपना सिर झुका दिया। मेरा यह सम्पूर्ण शरीर सफल हो गया, जन्म-जन्म के पाप एक साथ नष्ट हो गए।

कान्ताभाव से अपने प्रियतम पति सद्गुरुदेव की उपासना करनेवाले जीव को पतिव्रत धर्म का उपदेश देते हुए, जीवरूपी स्त्री को सम्बोधित करके उसके आचरण की त्रुटियाँ बतलाते हुए सन्त सुन्दरदासजी समझा रहे हैं कि पतिव्रता स्त्री की रहनी कैसी होनी चाहिए —

जो पिय कौ व्रत ले रहै, सो पियहि पियारी।
काहे कौं पचि-पचि मरति है मूरख बिभचारी॥
अंजन मंजन क्या करै, क्या रूप सिंगारा।
ऊपर निर्मल देखिये, दिल मांहिं बिकारा।
इन बातनि क्यौं पाइये, अवे प्रीतम प्यारा॥
पतिव्रत कबहुँ न देखिये, मन चहुँ दिश धावै।
और सखिन मैं बैसिकैं पतिव्रता कहावै।
हौंस करै पिय मिलन की, अवे तोहि लाज न आवै॥
कोटि जतन कीयें कहा, पिय एक न मानै।
नाना बिधि की चातुरी बहुतेरी ठानै।
तन कौं बहुत बनावई, अवे मन सौंपि न जानै॥
अपना बल जौं छाँड़िकैं सब सुधि बिसरावै।
लोक बड़ाई नैकहू कछु याद न आवै।
सुन्दर तब पिय रीझिकै, अवे तोहिं कंठ लगावै॥

— वही, पृ० ६५७, पद ११

— अरी मूर्ख व्यभिचारिणी स्त्री, बाहरी कपटपूर्ण दिखावटी व्यवहार कर-करके क्यों मर रही है, क्या तू नहीं जानती कि जो एक मात्र पति के ध्यान में डूबे रहने का व्रत स्वीकार कर लेती है वही प्रियतम को प्यारी लगती है।

सुन्दर दिखाई देने के लिये आँखों में सुरमा, काजल आँज रही है, दातों को चमका रही है, यह क्या कर रही है ? तेरे रूप की सुन्दरता, तेरा सिंगार-पटार सब किस काम का, क्योंकि ऊपर से ही तू साफ-सुथरी दिखाई पड़ रही है, तेरे मन में तो विकार भरा हुआ है। ऐसी ऊपरी दिखावटी बनावटी बातों से भला प्यारे प्रीतम को कोई कैसे पा सकती है ?

पतिव्रत क्या होता है, पतिव्रता स्त्रियाँ कैसे रहती हैं, इस ओर तूने कभी ध्यान ही नहीं दिया, देखा ही नहीं, तेरा मन तो विषयों की ओर, संसार की बातों की ओर चारों ओर भागता रहता है, प्रियतम के ध्यान में, उनकी सेवा में कभी स्थिर हुआ ही नहीं। वे क्या चाहते हैं, उन्हें क्या अच्छा लगता है, यह जानने का, अथवा उनके मन का करने का तूने कभी प्रयत्न ही नहीं किया। सखियों के

बीच बैठकर अपने को पतिव्रता कहलाती है (अर्थात् अपने साथी उपदेशी गुरुभाइयों के बीच जब बैठता है तो उनसे प्रशंसा पाने के लिये बड़ी-बड़ी ज्ञान की बातें करता है, उच्च कोटि का भक्त और ज्ञानी बनता है)। इस प्रकार के बाहरी बनावटी व्यवहार-आचरण दिखाकर प्रीतम से मिलन की मन में हौंस, उमंग लिए फिरती है, अरी, तुझे लज्जा नहीं आती !

प्रीतम के सामने तरह-तरह की बहुत सी चतुराई-भरी बातें करती है। तू ऐसे करोड़ों उपाय करती रह, उनसे क्या लाभ, स्वामी को तेरी ऐसी एक बात भी अच्छी नहीं लगती। शरीर को तो बड़ी लगन से सजाती-सँवारती है, अरी, स्वामी को अपना मन सौंपना नहीं जानती।

यदि तू अपनी बुद्धि का सारा बल, मन की चतुरता छोड़कर अपने स्वामी के चरणों के चिन्तन में बाहरी संसार की सब सुध-बुध खो दे, संसार के लोग क्या कहेंगें, बड़ी निन्दा होगी, इस प्रकार की किसी बात की तुझे याद न आवे, उस ओर एक बार भी तेरा मन न जाय तो तेरे पिया, तेरे स्वामी तुझ पर रीझ जायेंगे, प्रसन्न हो जायेंगे और तुझे गले से लिपटा लेंगे।

सन्त सुन्दरदासजी अपने मन के बहाने जीव को अपना अनुभव किया हुआ उपदेश दे रहे हैं –

करि मन उनि सन्तनि की सेवा।
जिनकै आन भरोसो नाहीं, भजहिं निरंजन देवा॥
शील संतोष सदा उर जिनकै, राम नाम कै लेवा।
जीवन मुक्त फिरैं जग महियाँ, उरझे को सुरझेवा॥
जिनके चरनकँवल कौ बाँछत, गंगा जमुना रेवा।
सुन्दरदास उनहिं की संगति, मिलिहै अलख अभेवा॥

– वही, पृ० ६६२, पद २२

– हे मन, उन सन्तों की सेवा कर जिन्हें अपने इष्टदेव को छोड़कर और किसी दूसरे का भरोसा नहीं है, जो सदा अपने मन के भीतर विराजमान मायातीत सद्गुरुदेव के भजन-ध्यान में लीन रहते हैं। कोई एक फूल भी लाकर देता है तो उसे मन से अपने स्वामी को समर्पित करके ही हाथ से ग्रहण करते हैं। जिनके हृदय में शील-सन्तोष सदा निवास करता है और जो सदा सहज भाव से रामनाम, अपने सद्गुरु

से प्राप्त नाम लेते रहते हैं, जपते रहते हैं। इस प्रकार जीवन रहते हुए भी जो जीवन्मुक्त होकर संसार में जीवों के कल्याणहेतु विचरण किया करते हैं तथा लोगों की उलझनें सुलझाते रहते हैं। जिनके चरणकमल का स्पर्श गंगा, यमुना और नर्मदा जैसी नदियाँ भी चाहती रहती हैं। सन्त सुन्दरदासजी कहते हैं कि केवल ऐसे ही सन्तों की संगति से वह परात्पर परमात्मा प्राप्त हो सकता है जो इसके अतिरिक्त किसी अन्य उपाय से न देखा जा सकता और न जिसका भेद कोई पा सकता।

सन्त मलूकदास

खत्री परिवार में जन्मे बाबा मलूकदासजी बड़े चमत्कारी सन्त थे (सन् १५७४ – १६८२ ई०)। सन्त-सुधा-सार में इनकी जो वाणी संगृहीत है उसमें एक ही पद ऐसा है जिसमें गुरु की कृपा से तत्त्व-साक्षात्कार का स्पष्ट उल्लेख है, यद्यपि अन्य पदों में भी सर्वनामों अथवा राम, गोपाल आदि शब्दों द्वारा संकेत सद्गुरु की ओर ही है। निम्नांकित पद में बाबा मलूकदासजी कान्ताभाव के उपासना-रहस्य के प्रति संकेत करते हुए अपना विशेष भाव प्रकट कर रहे हैं कि हे योगिनी, तू निश्चय ही प्रशंसनीय है क्योंकि तेरे शरीर में मन विलीन करने के बाद तेरे माध्यम से किए गए प्रेम के कारण ही योगी अर्थात् सद्गुरुदेव मुझे सरलता से प्राप्त हो गए –

कौन मिलावै जोगिया हो, जोगिया बिन रह्यो न जाइ ॥
मैं जो प्यासी पीव की, रटत फिरौं पिव पीव।
जो जोगिया नहिं मिलिहै हो, तो तुरत निकासूँ जीव ॥
गुरू जी अहेरी मैं हिरनी, गुरु मारैं प्रेम का बान।
जेहि लागै सोई जानई हो, और दरद नहिं जान ॥
कहैं मलूक सुनु जोगिनी रे, तनहिं में मनहिं समाय।
तेरे प्रेम के कारने जोगी सहज मिला मोहिं आय ॥

– संत-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० २६, पद १

निम्नलिखित पद में सद्गुरुदेव की अनिर्वचनीय महिमा और अपनी असीम दीनता का जीवन्त वर्णन करते हुए सन्त मलूकदास कहते हैं कि हे स्वामी, आपका नाम परम निर्मल है, वह ऐसा हीरा है जिसका कोई मूल्य आँकना सम्भव नहीं है।

आप सव तरह से सब कुछ करने में समर्थ हैं और हम क्षुद्र जीव तो मल-मूत्र के कीड़े हैं। जव कोई आपके नाम का स्मरण करता हैं तो वह नाम भक्त के शरीर में पाप नहीं रहने देता। उस नाम के एक अक्षर का उच्चारण करते ही जीव भवसागर पार कर जाता है। सब लोग आपका यश गाते हुए कहते हैं कि आपका नाम अधमों का उद्धार करनेवाला है। यही सुनकर मैं जब आपकी शरण आगया तो आपने मुझे भी इस संसारसागर से पार कर दिया। आप ऐसे गुरु-गम्भीर स्वामी हैं कि आपमें सारा बड़प्पन समाया हुआ है। जलते हुए पाण्डवों को आपने ऐसा उवारा कि फिर उन्हें गरम हवा नहीं छू गई। आपका सेवक करोड़ों ऐब क्यों न करे, आपके मन में उसका एक भी दुर्गुण नहीं आता। आपको छोड़कर संसार में भला कौन ऐसा स्वामी है जो मलूकदास ऐसे अधम को भी अपना मानकर उसे आदर देता ! —

नाम तुम्हारा निरमला, निरमोलक हीरा।
तू साहेव समरत्थ, हम मल-मुत्र कै कीरा ॥
पाप न राखै देह में, जब सुमिरन करिये।
एक अच्छर के कहत हीं, भौसागर तरिये ॥
अधम उधारन सब कहैं, प्रभु बिरद तुम्हारा।
सुनि सरनागत आइया, तब पार उतारा ॥
तुझ सा गरुवा औ धनी, जा में बड़ई समाई।
जरत उवारे पांडवा, ताती वाव न लाई ॥
कोटिक औगुन जन करै, प्रभु मनहिं न आनै।
कहत मलूकदास को, (को) अपना करि जानै ॥

— वही, पृ० २७, पद १

मायारूपी नारी के प्रति भोगदृष्टि से प्रवल आकर्षण यह काम ही साधक का सवसे वड़ा वाधक है। इसके कारण इष्ट पर साधक का मन स्थिर नहीं होने पाता। सद्गुरुस्वरूप शिव ही साधक की इस विपत्ति को दूर कर सकते हैं, वे ही साधक का तीसरा नेत्र खोलकर उसके प्रति काम का प्रभाव नष्ट कर सकते हैं। काम-वासना से वचने का दूसरा और कोई उपाय नहीं है। मलूकदासजी को काम ने वहुत सता रखा है। विषयों की चाह ने उन्हें हैरान कर दिया है। अतः अव वे पुकारकर कह रहे हैं —

अव तेरी शरण आयो राम।
जबै सुनिया साध के मुख, पतितपावन नाम ॥
यही जान पुकार कीन्हीं, अति सतायो काम।
विषय सेती भयो आजिज, कह मलूक गुलाम ॥

— वही, पृ० २८, विनती पद १

सन्त धरणीदास

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में कायस्थ जाति में बाबा धरणीदास नाम के एक सन्त हुए हैं। आपके गुरु स्वामी विनोदानन्दजी थे। आपने स्पष्ट शब्दों में सद्गुरु का गुणगान किया है तथा जीव के कल्याण के लिये एकमात्र तत्त्वदर्शी सद्गुरु की सेवा को सबसे प्रधान एकमात्र साधन माना है। आपकी वाणी के सद्गुरुपरक कुछ अंश इस प्रकार हैं —

धरनी जहँ लगि देखिये, तहँ लौं सबै भिखारि।
दाता केवल सतगुरु, देत न मानै हारि ॥
धरनि फिरहिं देसन्तरा, धरि-धरि के बहु भेस।
कोई कोई देखिहैं, अन्तर गुरु-उपदेश ॥
धूवाँ के धवरेहरा, औ धूरी को धाम।
ऐसे जीवन जगत में, बिनु गुरु बिनु हरि नाम ॥

— सन्त-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० ४७

— सन्त धरणीदास कहते हैं कि तीनों लोको में जहाँ तक दृष्टि जाती है, जितने जीव दिखाई पड़ते हैं, वे सब भिखारी ही हैं। सभी कुछ न कुछ माँगते ही दिखाई दे रहे हैं। देनेवाले तो एकमात्र सद्गुरु हैं। वे ऐसे दाता हैं कि देने से पीछे नहीं हटते, जो जीव जो कुछ माँगता है उसे वही देते हैं, देते ही रहते हैं।

अनेक लोग तरह-तरह के वेष वनाकर देश-देशान्तर में भटकते फिरते हैं किन्तु उनमें से कोई एक व्यक्ति ऐसा होता है जो सद्गुरु से उपदेश लेकर उनकी बताई विधि से साधना-अभ्यास करके अपने शरीर के भीतर विराजमान ईश्वर का दर्शन कर पाता है।

जैसे धुएँ से अर्थात् भाफ से बने हुए वादल हवा के वेग से ऊँट, हाथी, सिंह आदि अनेक रूपों में बनते-बिगड़ते रहते हैं, बादलों के वे रूप किसी काम

के नहीं होते, इसी तरह सद्गुरु तथा उनसे मिलनेवाले नाम के बिना संसार में मनुष्य का जीवन व्यर्थ होता है, क्योंकि आहार-निद्रा आदि सभी भोग सभी योनियों में प्राप्त रहते हैं, 'साधनधाम' और 'मोक्ष कर द्वारा' मनुष्य-शरीर सद्गुरु की सेवा द्वारा अपने शरीर में विराजमान ईश्वर के दर्शन के लिये ही प्राप्त हुआ है। सद्गुरु के न मिलने से नाम भी नहीं मिलेगा और तब ईश्वर की प्राप्ति भी न हो सकेगी, तब मनुष्य-शरीर प्राप्त होना निष्फल ही हो जायगा।

अपने मस्तक के भीतर बाबा धरनीदास को जिस प्रियतम का दर्शन हुआ है वही उनका सबसे बड़ा धन है। उसे लेकर वे तीनों लोकों में घूम आए, टटोल कर देख आए, कोई ऐसी वस्तु नहीं मिली जिससे उसे बदला जा सके। ऐसी अलभ्य वस्तु उन्हें सद्गुरु की दया से ही प्राप्त हुई है --

एक धनी धन मोरा हो ॥
काहू के धन सोना रूपा, काहू के हाथी घोरा हो।
काहू के मनि मानिक मोती, एक धनी धन मोरा हो ॥
राज न हरै, जरै न अगिन ते, कैसहु पाय न चोरा हो।
खरचत खात सिरात कबहिं नहिं, घाट बाट नहिं छोरा हो ॥
नहिं सँदूक नहिं भुइँ खनि गाड़ौं, नहि पट घालि मरोरा हो।
नैन के ओझल पलकनि राखौं, साँझ दिवस निसि भोरा हो ॥
जब धन लै मनि बेचन चाहे, तीन हाट टटकोरा हो।
कोई वस्तु नांहि ओहि जोगै, जां मोलउँ सो थोरा हो ॥
जा धन तें जन भये धनी बहु, हिन्दू तुरुक करोरा हो।
सो धन धरनी सहजहिं पायो, केवल सतगुर के निहोरा हो ॥

— वही, पृ० ४४, पद ६

अपने सद्गुरु स्वरूप धनी (पति) की महत्ता और अपनी लघुता उन्होंनें निम्नलिखित शब्दों में व्यक्त की है —

मैं निरगुनियाँ, गुन नहिं जाना। एक धनी के हाथ बिकाना ॥
सोइ प्रभु पक्का मैं अति कच्चा। मैं झूठा मेरा साहिब सच्चा ॥
मैं ओछा मेरा साहिब पूरा। मैं कायर, मेरा साहिब सूरा ॥
मैं मूरख, मेरा प्रभु ज्ञाता। मैं किरपिन, मेरा साहिब दाता ॥
धरनी मन मान्यों इक ठाउँ। सो प्रभु जीवो, मैं मरि जाउँ ॥

— वही, पृ० ४४, पद ९

निम्नलिखित दो पद सद्गुरु के प्रति वावा धरनीदास के मानसिक पूजा के भावों को व्यक्त करते हैं –

एक पिया मोरे मन मान्यों, पतिव्रत ठान्यों हो।
अवरो जो इन्द्र समान, तौ त्रन करि जान्यों हो ॥
जहँ प्रभु वैसि सिंहासन, आसन डासव हो।
तहँवाँ वेनिया डोलइवों, वड़ सुख पइवो हो ॥
जहँ प्रभु करहिं लवासन, पवढ़हि आसन हो।
कर तें पग सुहरैवों, हृदय सुख पइवों हो ॥
धरनी प्रभु चरनामृत, नितहिं अँचइवों हो।
सन्मुख रहिवों मैं ठाढ़ी, अनतै नहि जइवों हो ॥

– वही, पृ० ४२, पद १

जव मेरो यार मिलै दिलजानी। होइ लवलीन करौं मेहमानी ॥
हृदयकमल विच आसन सारी। ले सरधा जल चरन पखारी ॥
हित कै चन्दन चरचि चढ़ायो। प्रीति कै पंखा पवन डोलायो ॥
भाव के भोजन परसि जेंवायो। जो उवरा सो जूठन पायो ॥
धरनी इत उत फिरहि न भोरे। सन्मुख रहहि दोऊ कर जोरे ॥

– वही, पृ० ४५, पद ७

सन्त जगजीवन साहव

जिला वारावंकी में चन्देल क्षत्रिय वंश में जगजीवन साहव नाम के एक उच्चकोटि के गृहस्थ सन्त हो गए हैं (सन् १६७० – १७६१ ई०)। आपके गुरु सन्त वुल्ला साहव थे। आपने भी अनेक प्रकार से यही समझाने की चेष्टा की है कि सन्त-सद्गुरु की उपासना के विना सत्यस्वरूप परमात्मा का ज्ञान नहीं पाया जा सकता। इस तथ्य का स्पष्ट शव्दों में उपदेश देनेवाली आपकी कुछ वाणियाँ निम्नलिखित हैं –

देखो री, जोगिया रहत कहाँ।
तीनि लोक महँ माया बसति है, चौथे लोक रहत है तहाँ ॥
अधर सिंहासन वनो अहै री, जोगी बैठि रहत है तहाँ।
जगजीवन संतन महँ खोजो, कर बिचार अपने मन महाँ ॥

– सन्त-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० ५७, पद २

—जीव को स्त्रीरूप में सम्बोधित करके जगजीवन साहब उसे परमपुरुष प्राणेश्वर सद्गुरु की यथार्थ स्थिति और उनके चिन्मय स्वरूप को पाने का उपाय बतलाते हुए कहते हैं कि सद्गुरु वास्तव में कहाँ रहते हैं यह मैं तुम्हें बतला रहा हूँ, सुनो। तीनों लोको में तो माया ही छाई हुई है, माया से रहित कोई स्थान नहीं है। सद्गुरु माया से परे होते हैं अतः इस शरीर के भीतर तीनों लोकों से ऊपर जो चौथा लोक है, वे वहाँ निवास करते हैं। वहाँ एक ऐसा सिंहासन बना है जो निराधार आकाश में लटक रहा है, सद्गुरु उसी सिंहासन पर विराजमान रहते हैं। किन्तु तुम अपने प्रयत्न से उनके पास तक नहीं पहुँच सकती अतः तत्त्वदर्शी सन्तों के बीच जाकर उनसे मिलने का उपाय पूछो, वे जो उपदेश दें उस पर अपने मन में ही विचार करो, उनके उपदेश के अनुसार भजन-अभ्यास करो तभी वहाँ तक पहुँच सकोगी।

तीरथ ब्रत की तजि दे आशा।
सत्तनाम की रटना करिकै, गगनमंडल चढ़ि देखु तमासा॥
ताहि मँदिल का अंत नहीं कछु, रबी बिहून किरिन परगासा।
तहाँ निरास बास करि रहिये, काहेक भरमत फिरै उदासा॥
देहुँ लखाय छिपावउँ नाहीं, जस मैं देखउँ अपने पासा।
ऐसा कोऊ सब्द सुनि समुझै, कटि अघ कर्म होइ तब दासा॥
नैन चाखि दरसन रस पीवै, ताहि नहीं है जम की त्रासा।
जगजीवनदास भरम तेहि नाहीं, गुरु क चरन करै सुक्ख-विलासा॥

—वही, पृ० ५७, पद ३

—हे जीव, तू तीर्थ-ब्रत की आशा छोड़ दे, इनसे कोई लाभ होनेवाला नहीं है। साँस के द्वारा सद्गुरु से प्राप्त नाम की निरन्तर आवृत्ति कर, तब नासिका के ऊपर दोनों भौंहों के मिलन स्थान पर मस्तक के भीतर तेरा ध्यान स्थिर हो जायगा, फिर वहाँ पहुँचकर तू एक से एक अद्भुत तमाशा देख। वहाँ जो भवन बना है वह कितना लम्बा-चौड़ा या ऊँचा है, इसका कोई अन्त नहीं है। वहाँ बिना सूर्य के ही किरणें प्रकाश करती रहती हैं। संसार में सुख की आशा छोड़कर तुझे वहाँ स्थिरतापूर्वक निवास करना चाहिए। संसार में उदास होकर क्यों भटकता फिरता है। अपने शरीर के भीतर मैं जैसा देख रहा हूँ, जो अनुभव कर रहा हूँ, सब खोलकर साफ-साफ बतला दे रहा हूँ, कोई बात छिपा नहीं रहा। कोई ऐसा जीव हो जो सद्गुरु से प्राप्त शब्द का महत्त्व समझकर उस पर विचारपूर्वक अमल करे तो उसके सारे पापकर्म

कट जायेंगे और तव वह शरणागत होकर दास वन जायगा। तब स्वयं अपने नेत्रों से देख-देखकर दर्शन का आनन्द पाने लगेगा। सन्त जगजीवनदास कहते हैं कि, इस स्थिति में पहुँच जाने पर फिर उस जीव को यमराज का कोई भय नहीं रह जाता, कहीं भी वह भ्रम में नहीं पडता। फिर तो सद्गुरु की चरण-शरण में रहता हुआ वह सदा आनन्दसागर में डूबा सुख भोगता रहता है।

मैं तन मन तुम्ह पर वारा।
निसदिन लागि चरन की छहियाँ, सूनी सेज निहारा॥
तुम्हरे दरस काँ भइ बैरागिन, माँगौं सरन करारा।
जगजीवन के सतगुरु साईं, तुमहीं पार उतारा॥

— वही, पृ० ६०, पद ३

— हे मेरे सद्गुरु स्वामी, मैं अपना तन-मन आप पर न्यौछावर कर चुकी हूँ। दिन-रात मैं आपके चरणों की छाया से चिपकी रहती हूँ किन्तु त्रिकुटी पर मुझे आपका दर्शन नहीं होता। वहाँ आपका दर्शन पाने के लिये मैं बैरागिन हो गई हूँ। मैं आपसे भवसागर के उस पार का चरण-शरणरूपी किनारा (अथवा अपनी शरण में रहने का निश्चित आश्वासन, भरोसा) माँग रही हूँ। हे स्वामी, मुझे आप ही पार उतारने वाले हैं।

मन महँ जाइ फकीरी करना।
रहै एकंत तंत तें लागा, राग निर्त नहिं सुनना॥
कथा चारचा पढ़ै सुनै नहिं, नाहिं बहुत बक बोलना।
ना थिर रहैं जहाँ तहँ धावै, यह मन अहै हिंडोलना॥
मैं तैं गर्व गुमान बिवादहिं, सबै दूरि यह करना।
सीतल दीन रहै मरि अंतर, गहै नाम की सरना॥
जल पषान की करै आस नहिं, आहै सकल भरमना।
जगजीवनदास निहारि-निरखि कै, गहि रहु गुरु की सरना॥

— वही, पृ० ५९, पद ३

— सन्त जगजीवनदास का उपदेश है कि हे भाई, यदि फकीरी करने की इच्छा हो तो वाहरी वेष साधु का बनाने से कोई लाभ नहीं है। फकीरी तो मन से की जाती है, उसकी विधि यह है कि एकान्त में रहो, सद्गुरु से प्राप्त नाम और उनके स्वरूप में मन लगाए रखो, नाच-गाना आदि से दूर रहो, उलटी-सीधी कथा-वार्ता

न पढ़ो न सुनो, बहुत बोलना, व्यर्थ बकवाद करना बन्द करो। यह मन ऐसा चंचल है कि तनिक भी कहीं स्थिर नहीं रहता, जहाँ-तहाँ सांसारिक विषयों की ओर भागा ही फिरता रहता है। मैं-मेरा, तू-तेरा, घमण्ड, ऐंठ, वाद-विवाद, यह सब मन से दूर करो। क्रोध को छोड़कर शीतल चित्त रखो, दीनभाव ऐसा मन में रखो जैसे मुरदे पर चाहे थूको चाहे उसे गालियाँ दो, उसमें कोई विकार नहीं उपजता, इस तरह जीते जी भीतर ही भीतर मरे हुए रहो, सद्गुरु से प्राप्त नाम और रूप की शरण पकड़े रहो। गंगा-यमुना आदि नदियाँ, विभिन्न तीर्थ तथा पत्थर-मिट्टी की मूर्तियाँ सब भ्रम हैं, इनसे कोई लाभ नहीं है अतः इनसे कोई आशा मत करो। खूब समझ-सोचकर विचारपूर्वक केवल सद्गुरु की शरण पकड़े रहो।

अबकी बार तारु मोरे प्यारे, विनती करिकै कहौं पुकारे।
नहिं बसि अहै केतौ कहि हारे, तुम्हरे अब सब बनहि सँवारे ॥
तुम्हरे हाथ अहै अब सोई, और दूसरो नाहीं कोई।
जो तुम चहत करत सो होई, जल थल महँ रहि जोति समोई ॥
काहुक देत हौ मंत्र सिखाई, सो भजि अंतर भक्ति दृढ़ाई।
कहौं तो कछू कहा नहिं जाई, तुम जानत तुम देत जनाई ॥
जगत भगत केते तुम तारा, मैं अजान केतान बिचारा।
चरन सीस मैं नाहीं टारौं, निर्मल मूरत निरत निहारौं ॥
जगजीवन कॉं अब बिस्वास, राखहु सतगुरु अपने पास ॥

— वही, पृ० ६०, पद ५

— हे मेरे प्यारे सद्गुरु स्वामी, मैं विनती करके आपसे पुकार करता हूँ — अबकी बार आप दया करके मुझे तार ही दीजिए। मैं कितना कह-कहकर हार चुका हूँ, किन्तु यह मन मेरे बस में नहीं ही आ रहा है। अब तो सब कुछ आपके सँभालने से ही बनेगा। अब मेरे भविष्य का सुधार आपके ही हाथों में है, ऐसा समर्थ दूसरा कोई भी नहीं है। जो आप चाहते हैं, करते हैं वही होता है। जल में, थल में, सर्वत्र आपकी ही ज्योति समाई हुई है। जिसे आप चाहते हैं उससे भक्ति का बीजमन्त्र परानाम देकर भजन की विधि सिखा देते हैं। वह फिर अपने भीतर ही भीतर मन में भजन करके आपके प्रति भक्ति पक्की कर लेता है। अव मैं कुछ कहना चाहूँ तो कहा नहीं जाता। आप ही सत्य को जानते हैं और जिसे चाहते हैं उसे जना भी देते हैं। संसार में आपने कितने अनगिनत भक्तों को तारा है, मुझ बेचारे

अनजान को तार देना आपके लिये कौन सी बड़ी बात है ! आपके चरणों से मैं अपना सिर नहीं हटाऊँगा, आपके निर्मल स्वरूप को तल्लीन होकर देखता रहूँगा। सन्त जगजीवनदास कहते हैं कि अब आप पर पूरा विश्वास हो गया है अतः हे सद्गुरु स्वामी, अब आप दया करके मुझे अपने पास ही रख लीजिए।

आइ जग काहे मन बौराना।
जौन कौल करि ह्वाँ ते आयो, समुझि देखु वह ज्ञाना॥
तकि माया बस भूलि परेसि तैं, सत्तनाम नहिं जाना।
जो उपजा सो बिनसि जायगा, होइहैं अंत चलाना॥
सब चलि जाइ अचल नहिं कोई, सचर अचर ससि भाना।
जगजीवन सतगुरु समरथ कें, चरन रहौ लपटाना॥

— वही, पृ० ६४, पद ६

— अरे जीव, इस संसार में आते ही तेरा मन क्यों बावला हो गया है ? माता के गर्भ के भीतर मल-मूत्र के कीचड़ में पड़ा जब तू कष्ट पा रहा था उस समय जब प्रभु ने दया करके ज्ञान दिया तब अनेक जन्मों का स्मरण आने पर तूने मन ही मन निश्चय किया कि अब जन्म प्राप्त होने पर संसार में जाकर प्रभु का भजन करूँगा — 'अब जग जाइ भजौं चक्रपानी' (विनयपत्रिका, पद १३६ में इस दशा का विस्तृत वर्णन हैं)। इस प्रकार का जो वायदा करके गर्भ से बाहर आया है उस वायदे को भूल गया। प्रभु के दिए हुए उस ज्ञान को समझकर उस पर विचार करके देख। इस संसार में आकर तू माया के वश में पड़ गया और प्रभु को दिए हुए अपने वचन को भूल गया। सद्गुरु से प्राप्त होनेवाले सत्तनाम को तूने नहीं जाना। जो भी उत्पन्न हुआ है वह अवश्य ही नष्ट हो जायगा, अन्त में यह संसार छोड़कर चले ही जाना है। सब कुछ नष्ट हो जाना है। यहाँ कुछ भी स्थिर नहीं है। सम्पूर्ण जड़-चेतन, यहाँ तक कि सूर्य-चन्द्रमा आदि भी काल के गाल में समा जानेवाले हैं। इसलिये सन्त जगजीवनदास कहते हैं कि हे जीव, तू तो सदा सर्व-समर्थ सद्गुरु स्वामी के चरणों से लिपटा पड़ा रह।

रहिउँ मैं निरमल दृष्टि निहारी।
ए सखि मोहितें कहिय न आवै, कस-कस करहुँ पुकारी॥
रूप अनूप कहाँ लगि बरनौं, डारौं सब कुछु वारी।

रवि ससि गन तेहि छवि सम नाहीं, जिन केहु कहा विचारी ॥
जगजीवन गहि सतगुरु चरना, दीजै सबै विसारी ॥

— वही, पृ० ६२, पद ८

— सन्त जगजीवन साहब को अपने सद्गुरु की दया से दिव्य दृष्टि प्राप्त हो गई है, वे अपने मस्तक के भीतर त्रिकुटी पर अपने सद्गुरुदेव के दिव्य तेजोमय निरंजन स्वरूप का दिव्यदृष्टि से दर्शन कर रहे हैं। वे उस स्वरूप का वर्णन करना चाहते हैं पर कर नहीं पाते। उस अनिर्वचनीय आनन्दमय स्वरूप के वर्णन के लिये उन्हें शब्द नहीं मिलते। ऐसी ही अकुलाहट में उस स्वरूप के वर्णन का प्रयास करते हुए वे जीव को सद्गुरु के चरणों में समर्पित हो जाने के लिये उद्बोधित कर रहे हैं — हे सखी, मैं तो अपनी निर्मल दिव्यदृष्टि से अपने प्रियतम सद्गुरुदेव के उस स्वरूप को निहारती ही रह गई। वह स्वरूप कैसा है, यंह मैं कह नहीं पा रही हूँ, कहना चाहती हूँ, पर कैसे कहूँ, समझ में नहीं आता। उस अनुपम स्वरूप का कहाँ तक वर्णन करूँ। मैंने तो अपना सर्वस्व उस स्वरूप पर न्यौछावर कर दिया है। उसके बारे में जिन लोगो ने सोच-विचारकर कहा है, उन्होंनें यही कहा है कि उस स्वरूप की शोभा के समान सूर्य-चन्द्र आदि कोई भी नहीं है। जगजीवनदासजी कहते हैं कि अरे जीव, यह संसार एक लम्बा सपना है। इसमें कुछ भी सच्चा नहीं है अतः इसको बिल्कुल भुला दे और केवल सद्गुरु के चरण पकड़ ले, तो तुझे भी उस अनिर्वचनीय, आनन्दमय स्वरूप का अन्तःसाक्षात्कार हो जायगा और तू सदा के लिये सुख के समुद्र में डूब जायगा।

पंडित, काह करै पंडिताई।
त्याग दे बहु पढ़ब पोथी का, नाम जपहु चित लगाई ॥
यह तो चार विचार जगत का, कहे देत गोहराई।
सुनि जो करै तरै पै छिन महँ, जेहिं प्रतीति मन आई ॥
पढ़ब पढ़ाउब बेधत नाहीं, बकि दिन रैन गँवाई।
एहि तें भक्ति होत है नाहीं, परगट कहौं सुनाई ॥
सत्त कहत हौं बुरा न मानौ, अजपा जपै जो जाई।
जगजीवन सत-मत तव पावै, परमज्ञान अधिकाई ॥

— वही, पृ० ६९, पद १

— अरे पण्डित, क्या व्यर्थ पण्डिताई कर रहा है। मैं जोर-जोर से आवाज देकर कह रहा हूँ कि यह बहुत सी पोथी पुस्तकों का पढ़ना छोड़ दे, क्योंकि इनमें इस स्वप्नवत् मिथ्या संसार के आचार-विचार ही भरे हुए हैं। इनमें परमार्थ को पाने का कोई मार्ग नहीं मिल पावेगा। यदि परमार्थ को पाने की इच्छा हो तो मन लगाकर परानाम का जप कर जो केवल तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु से ही प्राप्त हो सकता है। जिसको मेरी बात सुनकर उस पर विश्वास हो जायगा और वह सद्गुरु से भक्तिवीज परा नाम का उपदेश ले लेगा वह क्षण भर में ही भवसागर पार कर जायगा। चौरासी लाख योनियों में जन्म लेने का उसका क्रम टूट जायगा। अब वह सद्गुरु की दया से परानाम का भजन-अभ्यास पूरा करके जब तक पूर्ण भक्त बनकर जीवन्मुक्त नहीं हो जायगा तब तक मनुष्य योनि में ही जन्म पाता रहेगा। यह ऊपरी पढ़ना-पढ़ाना अनगिनत जन्मों के दूषित संस्कारों की जीव पर लिपटी परत को वेध नहीं सकता। इनकी बातों की बेमतलब की बकवाद में पड़ने से जीव के बहुमूल्य दिन-रात व्यर्थ बीतते जा रहे हैं। मैं खुले आम सबको सुनाकर कह रहा हूँ कि इन पोथियों के पढ़ने से भक्ति नहीं प्राप्त हुआ करती। सच कह रहा हूँ, बुरा मत मानना। जब जो कोई सद्गुरु से अजपा-मन्त्र का उपदेश लेकर अजपा-जप करेगा तब वही सत्तमत यानी सत्य सिद्धान्त को प्राप्त कर लेगा और परमात्मा का ज्ञान उत्तरोत्तर अधिक बढ़ते-बढ़ते उस जीव को परमात्मा से मिला देगा।

सन्त यारी साहब

सत्रहवीं शताब्दी के उत्तरार्ध में संभवतः दिल्ली में यारी साहब नामक एक पहुँचे हुए मुसलमान सन्त हो गए हैं। दिल्ली की ही सन्त बावरी साहिबा के शिष्य सन्त बीरू साहब आपके गुरु थे। अन्य सन्तों के समान आपने भी जीव के परम कल्याण के लिये सद्गुरु की शरण, सद्गुरु की सेवा तथा सद्गुरु की दया को ही अनिवार्य माना है। जीव सदा के लिये सब प्रकार के दुःखों से मुक्त हो जाय, इसके लिये सद्गुरु की कृपा के अतिरिक्त कहीं कोई उपाय नहीं है। यही भाव अनेक प्रकार से आपकी वाणी में मुखर है। कुछ अंश यहाँ उद्धृत हैं।

रसना राम कहत तैं थाको।
पानी कहे कहुँ प्यास बुझत है, प्यास बुझै जदि चाखो।
पुरुष नाम नारी ज्यों जानै, जानि बूझि नहिं भाखो॥

दृष्टी से मुष्टी नहिं आवै, नाम निरंजन बाको।
गुरु परताप साधु की संगति, उलट दृष्टि जब ताको॥
यारी कहै सुनो भाई सन्तो, बज्र बेधि कियो नाको॥

— सन्त-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० ७३, शब्द २

— अरी जीभ, अर्थात् रस ग्रहण करनेवाले जीव, यदि तू रामनाम लेनें में थक रहा है, रामनाम नहीं ले रहा है तो रामनाम लेने से प्राप्त होनेवाला आनन्द तुझे कैसे प्राप्त होगा ! जैसे पानी कहने मात्र से प्यास नहीं बुझती, पानी पीने से ही प्यास मिटती है इसी प्रकार सद्गुरु से प्राप्त नाम का उनकी बतलाई विधि से जप करने पर ही तेरी जलन शान्त हो पावेगी, अतः आलस्य मत कर, विधिपूर्वक नामस्मरण करने में लग जा। जैसे पतिव्रता स्त्री अपने पति का नाम जानते-समझते हुए भी अपने मुँह से उसका उच्चारण नहीं करती, इसी प्रकार नाम-स्मरण से दिव्यदृष्टि द्वारा प्राप्त होनेवाला आन्तरिक अनुभव हाथ में रखकर नहीं दिखाया जा सकता। नाम-स्मरण से जिस प्रकाशमय स्वरूप का अन्तःसाक्षात्कार होता है उसका नाम निरंजन है। उसमें अंजन यानी पार्थिवांश नहीं है जिसे ये बाहरी आँखें देख सकें। सन्त यारी साहब कहते हैं कि भाई, सन्तों की संगति में आकर उनसे परानाम का उपदेश लेकर जब आँख उलटकर देखोगे अर्थात् मस्तक के भीतर त्रिकुटी पर भीतरी दृष्टि स्थिर करोगे तभी तुम्हारी दृष्टि सद्गुरु के प्रताप से वज्र को वेधकर यानी ब्रह्मरन्ध्र को खोल कर आगे का मार्ग प्राप्त कर सकेगी।

उडु उडु रे बिहंगम, चढु अकास।
जहँ नहिं चाँद सूर निस बासर, सदा अमरपुर अगम वास॥
देखै उरध अगाध निरन्तर, हरष शोक नहिं जम कै त्रास।
कह यारी तहँ बधिक फाँस नहिं, फल पायो जगमग प्रकास॥

— वही, पृ० ७४, शब्द ४

— सन्त यारी साहब कहते हैं — इस शरीररूपी कैंद में पड़े अरे जीवरूपी पक्षी, क्यों पंख समेटे बैठा है ! पंख फैलाकर उड़ना शुरू कर और ऊपर की ओर उड़ते हुए ऊँचे आकाश पर चढ़ जा, अर्थात् आती-जाती साँसों के सहारे सद्गुरु से प्राप्त अजपा-नाम का स्मरण करते हुए अपने मस्तक के भीतर त्रिकुटी पर सद्गुरु के स्वरूप का ध्यान पक्का कर ले। वह धाम ऐसा अद्भुत है जहाँ न चन्द्रमा है न सूर्य, न रात है न दिन। उस अगम अमरपुर में तुझे सदा के लिये निवास प्राप्त हो

जायगा। वहाँ ऊपर की ओर निरन्तर उड़ते रहने पर भी कोई ओर-छोर नहीं दिखाई देगा। न वहाँ कोई हर्ष-शोक है, न यमराज का भय। वहाँ मायारूपी बहेलिये का फन्दा भी नहीं है। वहाँ पहुँचने पर तुझे सब ओर जगमग-जगमग प्रकाश-रूपी मधुर रस से भरा फल प्राप्त होगा।

गुरु के चरनन की रज लैके दोउ नैनन बिच अंजन दीया।
तिमिर मेटि उजियार हुआ, निरंकार पिया को देखि लीया॥
कोटि सूरज तहँ छपे घने, तीनि लोक धनी धन पाइ पीया।
सतगुरु ने जो करी किरपा, मरि के यारी जुग जुग जीया॥

— वही, पृ० ७५, झूलना २

— सन्त यारी साहब कहते हैं — हमने अपने सद्गुरु की चरणधूलि लेकर अपनी दोनों आँखों में आँज लिया अर्थात् सद्गुरु के चरणों की, नखों की कान्ति को अपने नेत्रों में बसा लिया। जैसे आँखों में लगा काजल बिना साबुन से धोए एक क्षण के लिये भी आँख से उतरता नहीं, इसी तरह सद्गुरु के चरणनखों की कान्ति का हमने तेल की धार के समान अखण्ड चिन्तन किया, फल यह हुआ कि ऐसा लगातार करते-करते आँखें बन्द करने पर जो काला अन्धकार मात्र दिखाई देता है वह दूर हो गया और निरंकार पिया, यानी परमतेजोमय प्रकाशस्वरूप प्रियतम सद्गुरुदेव के दिव्य स्वरूप का दर्शन हमें प्राप्त हो गया। वहाँ घनीभूत रूप में छाए हुए करोड़ों सूर्यों के प्रकाश के बीच तीनों लोकों के स्वामी को हमने अपने पति रूप में पा लिया। हमारे सद्गुरुदेव ने जो हम पर कृपा की तो हमारा अहंकार गल गया, हमारा 'अहम्' यानी 'मैं' मर गया, हम हम न रह गए और इस तरह मरकर हम युगों-युगों के लिये अमर हो गए।

सद्गुरु के चरणनखों की कान्ति के स्मरण से दिव्यदृष्टि तथा दिव्य प्रकाश होने की बात सन्त तुलसीदास इन शब्दों में करते हैं —

श्रीगुर पदनख मनि गन जोती। सुमिरत दिव्य दृष्टि हियँ होती॥
दलन मोहतम सो सुप्रकासू। बड़े भाग उर आवइ जासू॥

अपने भीतर अपने सद्गुरुदेव के अनिर्वचनीय दिव्य स्वरूप का दर्शन प्राप्त करते हुए सन्त यारी साहब हमें बतलाने के लिये अपने अनुभव को शब्दों में उतारते हुए कह रहे हैं —

सतगुरु है सतपुरुष अकेला, पिंड ब्रह्माण्ड के बाहर मेला ॥
दूर तें दूर, ऊँच ते ऊँचा। बाट न घाट गली नहिं कूचा ॥
आदि न अंत मध्य नहिं तीरा। अगम अपार अति गहिर गँभीरा ॥
कच्छ दृष्टि तहँ ध्यान लगावै। पल महँ कीट भृंग होइ जावै ॥
जैसे चकोर चंद के पासा। दीसै धरती बसै अकासा ॥
कह यारी ऐसे मन लावै। तब चातक स्वाँती जल पावै ॥

— भजनसंग्रह (गीताप्रेस), भजन ७६६

— सद्गुरु ही एक अकेले सत्पुरुष हैं, वे ही पिण्ड और ब्रह्माण्ड के बाहर व्याप्त हैं। वे दूर से दूर, ऊँचे से ऊँचे परमधाम में विराजमान रहते हैं। वहाँ जाने का न कोई मार्ग है, न घाट है, न गली-कूचा है। उनका आदि-अन्त-मध्य-किनारा कुछ भी नहीं है। वे अगम्य हैं, अपार हैं, अत्यन्त गहरे और गम्भीर हैं। सद्गुरु से परानाम का उपदेश लेकर मस्तक के भीतर सहस्रदल कमल पर उनका इस प्रकार ध्यान किया जाय जैसे मादा कछुआ कहीं भी रहे, उसका ध्यान अपने अण्डों की ओर लगा रहता है, तो पल भर में कीड़ा यानी जीव भृंग अर्थात् सद्गुरु का स्वरूप हो जाता है। जैसे चकोर चन्द्रमा के पास निवास करता है, यद्यपि उसका शरीर धरती पर ही दिखाई पड़ता है, सन्त यारी साहब कहते हैं कि जब इस प्रकार जीव अपना मन सद्गुरु में लगा ले तो चातक यानी जीव स्वाती का जल अर्थात् सद्गुरु के तात्त्विक स्वरूप को प्राप्त कर लेता है।

गगन गुफा में बैठि के रे, अजपा जपै बिन जीभ सेती।
त्रिकुटी संगम जोति है रे, तहँ देखि लेवै गुरु ज्ञान सेती ॥
सुन्न गुफा में ध्यान धरै, अनहद सुनै बिन कान सेती।
यारी कहै सो साधु है रे, बिचार लेवै गुरु ध्यान सेती ॥

— वही, भजन ७७९

मस्तक के भीतर दोनों भौंहों की सन्धि तथा नासिकामूल के ऊपर इडा, पिंगला और सुषुम्णा नाडियों के संगम का जो स्थान है उसे ही सन्तों की भाषा में गगनगुफा, त्रिकुटीसंगम तथा सुन्न गुफा कहा गया है। ब्रह्म-साक्षात्कार के लिये उस स्थान पर तत्त्वदर्शी महापुरुष का उनकी स्वीकृति तथा उपदेश प्राप्त कर ध्यान करने के वेदसम्मत योगविधान का वर्णन सन्त यारी साहब इन शब्दों में कर रहे हैं — गगनगुफा में बैठकर जो बिना जीभ हिलाए अजपा मन्त्र का जप

करता है अर्थात् जो त्रिकुटी में अपना मन स्थिर करके सद्गुरु से प्राप्त परानाम का साँस की गति के सहारे स्मरण करता है, त्रिकुटी संगम पर जो ज्योति सदा सबके भीतर जल रही है उसे जो प्राणी सद्गुरु के दिए ज्ञान द्वारा देख लेता है, सुन्न गुफा में जो अपना ध्यान केन्द्रित कर लेता है, और जो बिना कानों के ही अनहद नाद को सुन लेता है ऐसा मनुष्य ही वास्तव में साधु है, इस बात की सत्यता पर त्रिकुटी में सद्गुरु का ध्यान करके ही विचार करना चाहिए। जो कोई सद्गुरु का ध्यान किए बिना कोरे तर्कों के आधार पर, केवल अपनी बुद्धि के बल पर अथवा ठीक-ठीक न समझे हुए वेदशास्त्र के सिद्धान्तों के द्वारा विचार करेगा उसे इस बात की सच्चाई पर विश्वास नहीं हो पायेगा।

सन्त गुलाल साहब

सन्त गुलाल साहब क्षत्रिय जाति में उत्पन्न गृहस्थ सन्त थे (अनुमानतः सन् १६६३ – १७६३ ई०)। ये सन्त बुल्ला साहब के शिष्य थे। इनके गुरुदेव ने बड़े अनोखे ढंग से इन पर कृपा की थी। सुना जाता है कि एक क्षत्रिय जमीदार के यहाँ बुलाकीराम नाम का एक हलवाहा हल जोत रहा था। दोपहर का समय था। तभी जमीदार वहाँ आ गया और देखा कि हल-बैल एक ओर खड़े हैं और बुलाकी राम पेड़ के नीचे ध्यानस्थ बैठा है। जमीदार को लगा कि बड़ा कामचोर नौकर है, मेरी नजर बचाकर चोरी से सो रहा है। क्रोध में भरकर उसने हलवाहे की पीठ पर एक जोर की लात जमा दी और उसे गालियाँ दे ही रथा था कि सामने दही की एक हँड़िया गिरकर फूट गई और दही बिखर गया। जमीदार को बड़ा आश्चर्य हुआ। उसने डाँटते हुए ही इसका रहस्य पूछा तो बुलाकीराम बोला – 'सरकार, मैं ध्यान में साधुओं का मानसी भण्डारा करते हुए उन्हें दही परोसने जा रहा था, तभी आपने लात मारी और झटके में हँड़िया हाथ से छूटकर गिर गई।'

जमीदार बुलाकीराम के चरणों में गिर पड़ा, क्षमायाचना की, उन्हें अपने घर ले गया और वहीं उनका शरीरान्त होने तक उनकी सेवा करता रहा।

इस कथाचित्र के बुलाकीराम ही सन्त बुल्ला साहब थे और क्षत्रिय जमीदार थे सन्त गुलाल साहब। इनकी उपदेशमय वाणी बड़ी प्रभावपूर्ण है। सद्गुरु ही राम हैं तथा उनकी सेवा ही एकमात्र परम कर्तव्य है, इस तथ्य के समर्थक इनकी वाणी के कुछ अंश यहाँ प्रस्तुत हैं।

राम मोर पुँजिया मोर धना, निसवासर लागल रहु रे मना।
आठ पहर तहँ सुरति निहारी, जस बालक पालै महतारी।
धन सुत लछमी रह्यो लोभाय, गर्भमूल सब चल्यो गँवाय।
बहुत जतन भेष रच्यो बनाय, बिन हरिभजन इँदोरन पाय।
हिंदू तुरुक सब गयल बहाय, चौरासी में रहि लपटाय।
कहै गुलाल सतगुरु बलिहारी, जातिपाँति अब छुटल हमारी॥

— सन्त-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० १२१, पद १

— सन्त गुलाल साहब कहते हैं कि बड़े-बड़े योगियों के अन्तःकरण में विराजमान होकर उनके जीवों से रमण करनेवाले मेरे सद्गुरुरूपी राम ही मेरी पूँजी हैं, वे ही मेरा धन हैं। अरे मन, दिन-रात उन्हीं में लगा रह। आठों पहर यानी दिन-रात वहाँ अर्थात् त्रिकुटी पर अपनी सुरति द्वारा अपने सद्गुरुदेव के चरणों पर इस तरह लगा रह जैसे माँ का ध्यान अपने बच्चे का पालन-पोषण करने में लगा रहता है। तू जो धन, पुत्र, स्त्री आदि के लोभ में डूबा हुआ है, यही फिर गर्भ में जाने का कारण है, इन्हीं के लोभ में पड़े रहने के कारण तू सब कुछ खोकर खाली हाथ चला जा रहा है। लोगों को रिझाने के लिये बहुत उपाय करके तूने त्यागी, ब्रह्मचारी, बैरागी, साधु, संन्यासी आदि के वेष बना-बनाकर धारण किए किन्तु वास्तविक हरिभजन यानी सद्गुरु के भजन के बिना इन्द्रायण का फल ही तेरे हाथ लगा जो ऊपर से तो बहुत ही सुन्दर होता है किन्तु उससे अधिक कड़वा कोई फल संसार में नहीं होता। इस प्रकार की रहनीवाले हिन्दू हों चाहे मुसलमान, सब चौरासी लाख योनियों में कीट-पतंग शूकर-कूकर आदि शरीरों में लिपटे पड़े रह जाते हैं। सन्त गुलाल साहब कहते हैं कि मैंने तो अपने सद्गुरुदेव पर स्वयं को न्योछावर कर दिया है। अब जाति-पाँति का सब प्रपंच मुझसे छूट गया है। अब तो सबमें मुझे एक परमात्मा ही विराजमान दिखाई देता है।

अबकी बेर सुनो नर मूढ़ो, बहुरि न ल्यो अवतरिया।
कह गुलाल सतगुरु बलिहारी, भवसिंधु अगम गम तरिया॥

— वही, पृ० १२२, पद ३

— संसार को सत्य समझनेवालो, माया-मोह में फँसे हे मूर्ख मनुष्यो, यह जो मनुष्य का शरीर तुम्हें मिला है, चौरासी लाख योनियों में एकमात्र यही शरीर मोक्ष का द्वार है, एकमात्र इसी शरीर से भगवान् के साक्षात्कार की साधना — भगवद्भक्ति

की जा सकती है इसलिये तत्त्वदर्शी महापुरुष सन्त-सद्गुरु की खोज करके उनकी सेवा करके उन्हें सन्तुष्ट कर लो जिससे तुम्हें फिर इस संसार में जन्म न लेना पड़े। सन्त गुलाल साहब कहते हैं कि मैंने तन-मन-धन समेत अपने को सद्गुरु पर न्यौछावर कर दिया और जीते जी वह भवसागर पार कर गया जिसे पार करना किसी अन्य प्रकार से सम्भव नहीं था।

नाम रस अमरा है भाई, कोउ साध संगति तें पाई ॥
बिन छाने बिन घोटे पीवै, कौड़ी दाम न लाई।
रँग रँगीले चढ़त रसीले, कबही उतरि न जाई ॥
छके छकाए पगे पगाए, झूमि झूमि रस लाई।
बिमल बिमल बानी गुन बोलै, अनुभव अमल चढ़ाई ॥
जहँ जहँ जावै थिर नहिं आवै, खोलि अमल लै धाई।
जल पत्थल पूजन करि भानत, फोकट गाढ़ बनाई ॥
गुरु परताप कृपा तें पावै, घट भरि प्याल फिराई।
कहै गुलाल मगन ह्वै बैटै, मँगिहै हमरी वलाई ॥

— वही, पृ० १२३, नाम-महिमा, पद १

— हे भाई, नाम का रस अमर है, अमृतरूप है, इसे पी लेने पर जीव जन्म-मरण से रहित हो जाता है किन्तु तत्त्वदर्शी, ब्रह्मज्ञानी साधु-सन्तों की संगति करने पर ही कोई-कोई इसे प्राप्त कर पाता है। बिना सन्त-सद्गुरु के नाम का प्राप्त होना असम्भव ही है। नाम की मस्ती ऐसा नशा है जिससे भाँग आदि की तरह पैसे देकर खरीदना, पीसना तथा छानना नहीं पड़ता। यह ऐसा रँगीला नशा है कि चढ़ता ही चला जाता है, उत्तरोत्तर इसका आनन्द बढ़ता ही जाता है, दूसरे मादक द्रव्यों की तरह इसका नशा उतरने का नाम ही नहीं लेता। नामरस को पीनेवाले सदा छके रहते हैं, आनन्द में पगे रहते हैं, झूम-झूमकर आनन्द लेते हैं। नामरस के प्रभाव से ऐसी मनोदशावाले अपनी निर्मल वाणी से केवल परमात्मा का गुणगान ही करते हैं तथा भजन के अभ्यास से उत्पन्न अनुभव में ऊपर ही चढ़ते जाते हैं। वे जहाँ भी जाते हैं, कहीं स्थिर नहीं होते, आसक्त नहीं होते। कहीं-कहीं अपने आन्तरिक अभ्यास को खोल भी देते हैं पर जब कोई नहीं समझ पाता तो फिर अपने अभ्यास में लग जाते हैं। ऐसे भक्त जल की पूजा, पत्थर की पूजा अर्थात् तीर्थपूजा, मूर्तिपूजा आदि को निरर्थक गढ़ा हुआ बताते हैं और उसका खण्डन करते हैं। सन्त गुलाल

साहब कहते हैं कि इस प्रकार का अनुपम नामरस सद्गुरु की कृपा से ही जीव पा सकता है। वह नामरस सारे शरीर में छा जाता है और भक्त प्याला भर-भरकर उसे पीता रहता है। मैं तो उस नामरस में डूबा मगन होकर बैठा रहता हूँ, अब मेरी बलाय माँगने जाय, अर्थात् अब मुझे किसी से कुछ माँगने की कोई जरूरत ही नहीं रह गई।

पिय सँग जुरलि सनेह सुभागी।
पुरुब प्रीति सतगुरु किरपा किय, रटत नाम बैरागी॥
आठ पहर चित लगै रहतु है, दिहल दान तन त्यागी।
पुलकि पुलकि प्रभु सों भयो मेला, प्रेम जगो हिये भागी॥
गगन मंडल में रास रचो है, संत सिंघासन राजी।
कह गुलाल घर में घर पायो, थकित भयो मन पाजी॥

— वही, पृ० १२४, पद २

— सौभाग्य से प्रियतम के साथ मेरा स्नेह जुड़ गया। मेरे पिछले जन्म में सद्गुरु का मुझ पर जो प्रेम था उसके अनुसार सद्गुरु ने इस जन्म में भी मुझ पर कृपा की, तभी तो अब मेरा मन संसार से विरक्त हो गया है और अब मैं उनका दिया हुआ नाम रटने लगा हूँ। अब आठों पहर मेरा चित्त उन्हीं में लगा रहता है। मैंने इस शरीर पर से ममता हटा ली है और यह शरीर उन्हीं को दे दिया है। वे इस शरीर का अपनी मौज के अनुसार जैसे भी चाहें उपयोग करें। अन्तर्जगत् में प्रभु सद्गुरुदेव के निरंजन स्वरूप से मेरे जीव का मिलाप हो गया है। इस मिलन के आनन्दवश शरीर बार-बार पुलकित हो पड़ता है। बड़े भाग्य से हृदय में उनके प्रति प्रेम जाग उठा है। अब मैं दिव्यदृष्टि से दर्पण में प्रतिबिम्ब की भाँति गगनमण्डल यानी अपनी त्रिकुटी के भीतर रचे हुए महारास को देख रहा हूँ जहाँ उज्ज्वल सफेद सिंहासन पर प्रभु सुशोभित हैं। सन्त गुलाल साहब कहते हैं कि मैंने घर के भीतर घर पा लिया अर्थात् इस अनित्य शरीर के भीतर, दोनों भौंहों के मध्य नासिकामूल के ऊपर, ललाट के भीतर प्रभु के नित्य धाम का साक्षात्कार कर लिया, जहाँ से इस अनित्य शरीर में फिर जीव को नहीं आना पड़ता।

लागलि नेह हमारी पिया मोर॥
चुनि चुनि कलियाँ सेज बिछावौं, करौं मैं मंगलचार।

एकौ घरी पिया नहिं अइलै, होइला मोहिं धिरकार ॥
आठौ जाम रैनदिन जोहौं, नेक न हृदय बिसार।
तीन लोक कै साहब अपने, फरलहिं मोर लिलार ॥
सत्त सरूप सदा ही निरखौं, संतन प्रानअधार।
कहै गुलाल पावौं भरिपूरन, मौजै मौज हमार ॥

— वही, पृ० १२४, प्रेम का अंग, पद १

— मेरा प्रेम एकमात्र मेरे मेरे प्रियतम (सद्गुरुदेव) में लग गया है। मैं उनके स्वागत की तैयारी में फूलों की कलियाँ चुन-चुनकर शैया बिछाती हूँ, बन्दनवार बाँधती हूँ, मंगलकलश सजाती हूँ, मार्ग में सुगन्ध सींचती हूँ, किन्तु घड़ी भर के लिये भी प्रियतम आए नहीं। धिक्कार है मुझे ! मेरे प्रेम में कमी न होती तो वे जरूर आए होते। अब तो मैं उनके का सारा साज सजाए आठों पहर, दिन-रात उन्हीं की बाट जोह रही हूँ, क्षणभर के लिये भी मेरा मन उन्हें भूलता नहीं है। उनके वियोग की मेरी पीड़ा जव अन्तिम अवस्था को पहुँच गयी तो तीनों लोकों के एक मात्र स्वामी मेरे प्रियतम (सद्गुरुदेव) ने भीतर ही भीतर मेरे मस्तक को फाड़ दिया और अपने परमप्रकाशमय दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार करा दिया। अव तो, मैं सन्तों के प्राणाधार उस सत्यस्वरूप को सदा ही देखती रहती हूँ। सन्त गुलाल साहव कहते हैं कि मुझे अधिक से अधिक जो कुछ भी पाना था वह सब मैंने भरपूर पा लिया है। शाश्वत, कभी भी कम न होनेवाली सुख-शान्ति प्राप्त हो गई, अव कुछ भी पाना वाकी नहीं रह गया। अव तो सुख के समुद्र में निवास हो जाने से मेरे लिये सदा मौज ही मौज है।

सरन सँभारि धरि चरनतर रहो परि, काल अरु जाल कोउ अवर नाहीं।
प्रेम सों प्रीति करु नाम को हृदय धरु, जोर जम काल सव दूर जाहीं ॥
सुरति सँभारिकैं नेह लगाइकै, रहो अडोल कहुँ डोल नाहीं।
कहै गुलाल किरपा कियो सतगुरु, पर्‌यो अथाह लियो पकर वाँहीं ॥

-- वही, पृ० १३१, रेखता १

— अपने सद्गुरु से विनय करके उनकी मरजी से उनकी शरण ग्रहण कर लो, तथा उनके चरणों के नीचे पड़े रहो अर्थात् दीन वनकर विनयपूर्वक नीच टहल करते रहो, वड़प्पन की भावना मन में मत आने दो, तो समझ लो काल या काल का जाल तुम्हारे लिये है ही नहीं, वह तुम्हारा कुछ नहीं विगाड़ सकता। सद्गुरु से निःस्वार्थ,

एकरस, अनन्य प्रेम करते हुए उनके दिए हुए नाम को मन में धारण करो तो यमराज अथवा काल का सब जोर तुमसे दूर हो जायगा, तुम पर काल का बल कोई काम नहीं करेगा। अपनी सुरति सँभालकर प्रेमपूर्वक त्रिकुटी में सहस्रदल कमल के ऊपर हंस पर विराजमान सद्गुरु के चरणों में जमाओ तथा तन-मन को स्थिर किए रहो, वे चंचल न होने पावें। सन्त गुलाल साहब कहते हैं कि ऐसा करने पर सद्गुरु ने मुझ पर कृपा की। मैं तो अथाह भवसागर में डूबा जा रहा था, मेरे सद्गुरु ने मेरी बाँह पकड़कर मुझे उबार लिया।

ऐसी आरति करु मन लाय, महाप्रसाद ठाकुर के चढ़ाय ॥
प्रेम कै पतरी प्रीति लगाय, भाव के बिंजन रुचिर बनाय ॥
संत साध मिलि आरत गाय, प्रभु के सिर पर चँवर ढुराय ॥
सुर नर मुनि सब आस लगाय, गिरा परा किनका बिन खाय ॥
सिव व्रह्मा जाको खोजत धाय, प्रभु को जूंठन भागहुँ पाय ॥
सतगुरु बुल्ले अलख लखाय, संतन सीत गुलालहुँ पाय ॥

— वही, पृ० १३२, आरती १

— हे भाई, मन लगाकर ऐसा आरती करो — ठाकुर को अर्थात् अपने सद्गुरुदेव को महाप्रसाद चढ़ाओ। प्रीतिपूर्वक प्रेम की पत्तल तैयार करो और उस पर अपने मन के उत्तम भावों द्वारा सुन्दर स्वादिष्ठ व्यंजन बनाकर परोसो। सब साधु-सन्त मिलकर आरती गाओ और प्रभु के मस्तक पर चँवर डुलाओ। देवता, मनुष्य, मुनि सव आशा लगाए खड़े हैं कि महाप्रसाद का एक कण गिरा-हुआ पड़ा मिल जाय तो उसे वीन कर खा लें। शिव और व्रह्मा जिनको खोजते भाग-दौड़ रहे हैं कि सौभाग्य से प्रभु का जूटन मिल जाय तो उसे खाकर कृतार्थ हो जायँ। सन्त गुलाल साहव कहते हैं कि मेरे सद्गुरु सन्त बुल्लेशाहजी ने मुझे इस शरीर के भीतर उस तत्त्व का साक्षात्कार करा दिया जिसे देख पाना किसी प्रकार सम्भव नहीं था, फल यह हुआ कि गुलाल को भी सन्तों का सीत-प्रसाद अर्थात् उनका जूठनरूपी प्रसाद मिल गया।

सोइ दिन लेखे जा दिन संत मिलाहिं।
संत के चरनकमल की महिमा, मोरे बूते वरनि न जाहिं ॥
जल तरंग जल ही तें उपजैं, फिर जल माहिं समाहिं ॥
हरि में साध साध में हरि हैं, साध (हरी) से अन्तर नाहिं ॥

ब्रह्मा बिस्नु महेस साध संग, पाछे लागे जाहिं।
दास गुलाल साध की संगति, नीच परम पद पाहिं ॥

— वही, पृ० १३४, पद २

— जीवन के वही दिन गिने जाने योग्य हैं जिनमें सन्त मिलते हैं, उनका दर्शन प्राप्त होता है। सन्तों के चरणकमल की महिमा का वर्णन करने का सामर्थ्य मुझमें नहीं है, मेरे बल-बूते पर तो उसका वर्णन नहीं हो सकता। जैसे जल की लहरें जल में ही उत्पन्न होतीं और जल में ही विलीन हो जाती हैं, इसी प्रकार साधु में परमात्मा और परमात्मा में साधु-सन्त हैं। साधु और परमात्मा में कोई अन्तर नहीं है। तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु मिल जायँ तो समझ लेना चाहिए कि साक्षात् परमात्मा ही मिल गए हैं। ब्रह्मा, विष्णु, महेश, सब ब्रह्मज्ञानी सन्त-सद्गुरु के पीछे-पीछे लगे फिरते हैं। अपने सद्गुरु के सेवक सन्त गुलाल साहब कहते हैं कि तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु की संगति से अत्यन्त नीच मनुष्य भी परमपद प्राप्त कर लेता है।

सन्त भीखा साहब

सन्त गुलाल साहब के शिष्य थे सन्त भीखा साहब (सन् १७१३ – १७६३ ई०)। संस्कारी जीव थे, पूर्वजन्मों की कमाई पर्याप्त थी, सो बारह वर्ष की ही अवस्था में विरक्त होकर प्रभु की खोज में निकल पड़े। लोगों ने बताया कि काशी में बहुत अच्छे साधु हैं जो भक्तिबीज नाम का बितरण करते हैं, पर काशी आकर उन्होंने देखा कि यहाँ तो सब लोग विभिन्न शास्त्रों की चर्चा में ही डूबे हुए हैं, सद्गुरु का तो कोई नाम ही नहीं लेता। उन्हीं के शब्द हैं —

कोउ कहेउ साधू बहु बनारस, भक्तिबीज सदा रह्यौ।
तहँ सास्त्र मत को ग्यान है, गुरुभेद काहू नहिं कह्यौ ॥

— वही, पृ० १३६

काशी से निराश होकर आप ढूँढ़ते-खोजते सन्त गुलाल साहब के पास पहुँच गए और पूर्ण सन्तुष्ट हो गए।

सन्त गुलाल साहब की सेवा से भीखा साहब को पूर्ण सन्तत्व की प्राप्ति हुई। तदनन्तर आपने जीवों के कल्याण-हेतु अपने अनुभव के आधार पर सद्गुरु की आवश्यकता और उनकी महिमा में डूबी अपनी वाणी प्रकट की। उनमें से कुछ वचन यहाँ सादर उद्धृत किए जाते हैं।

जग के करम बहुत कठिनाई, ताते भरमि भरमि जहँड़ाई ॥
ज्ञानवंत अज्ञान होत है, बूढ़े करत लरिकाई।
परमारथ तजि स्वारथ सेवहिं, यह धौं कौन वड़ाई ॥
बेद-वेदान्त कौ अर्थ विचारहिं, बहुविधि रुचि उपजाई।
माया-मोह-ग्रसित निसवासर, कौन वड़ो सुखदाई ॥
लेहिं बिसाहि काँच को सौदा, सोना नाम गँवाई।
अमृत तजि बिष अँचवन लागे, यह धौं कौनि मिठाई ॥
गुरु-परताप साध की संगति, करहु न काहे भाई।
अंत समय जव काल गरसिहै, कौन करौ चतुराई ॥
मानुष जनम वहुरि नहिं पैहौ, बादि चला दिन जाई।
भीखा कौ मन कपट कुचाली, धरन धरै मुरखाई ॥

— सन्त-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० १३८, पद १

— संसार के कर्म, सांसारिक इच्छाओं की पूर्ति के उद्देश्य से किए जानेवाले प्रचलित योग, यज्ञ, जप, तप आदि कर्मों को करना बड़ा कठिन है। इन कर्मों के फेर में लोग भ्रम में पड़े अन्त में धोखा ही खाते हैं। काम-क्रोध-लोभ-मोह आदि मनोविकारों से ग्रस्त वड़े-वड़े ज्ञानी समझे जानेवाले लोग भी अज्ञानियों जैसा आचरण करते हैं और वृद्ध हो जाने पर भी लोग जवानों का सा आचरण करते हैं, विषयों का पीछा नहीं छोड़ते, इसी में अपनी वड़ाई समझते हैं। भला बताइए, परमार्थ को छोड़कर स्वार्थ का सेवन करना, अर्थात् नित्य जीव के लिये स्थायी शान्ति का विचार छोड़कर अनित्य शरीर के पोषण और क्षणिक सुख के उपायों में मन लगाए रखना, यह कैसी वड़प्पन की बात है ! बड़े-वड़े विद्वान् तथा महात्मा समझे जानेवाले लोग वेदों, वेदान्त-ग्रन्थों आदि के अर्थ पर विचार करते रहते हैं, जनता को आकृष्ट करने के लिये अपने विचारों को रुचिपूर्ण ढंग से प्रस्तुत करते हैं, माया-मोह में दिन-रात डूबे रहनेवाले ऐसे लोग सांसारिक मान-बड़ाई और धन के लोभवश जो ऐसा करते हैं, यह कौन सा बड़ा सुखदायी काम है ! सोनारूपी भगवन्नाम खोकर बदले में काँच का सौदा कर लेते हैं, अमृत छोड़कर विष पीने लगते हैं. भला ऐसा करने में क्या मिठास है ! हे भाई, सद्गुरु के प्रताप से सन्त-सद्गुरु की संगति क्यों नहीं करते ! प्रारब्ध पूरा होते ही जब काल इस शरीर को निगलने लगेगा उस समय तुम उससे बचने के लिये कौन सी चतुरता करोगे ! यह जो बहुमूल्य मानव-शरीर सद्गुरु की सेवा

द्वारा आत्मकल्याण के लिये प्राप्त हुआ है उसे विषय-वासनाओं में ही बिता लोगे तो देह छोड़ने के बाद फिर मनुष्य का जन्म नहीं पाओगे। इस जन्म के ये बहुमूल्य दिन व्यर्थ ही बीत जायेंगे। सन्त भीखा साहब कहते हैं कि मेरा मन तो अत्यन्त कुचाली है जो हठपूर्वक मूर्खता को ही पकड़े रहता है।

मोहिं डाहतु है मन-माया ॥
एकै सब्द ब्रह्म फिरि एकै, फिरि एकै जग छाया।
आतम जीव करम अरुझाना, जड़ चेतन बिलमाया ॥
परमारथ को पीठ दियो है, स्वारथ सनमुख धाया।
नाम नित्य तजि अनितै भावै, तजि अमृत बिष खाया ॥
सतगुरु कृपा कोउ कोउ बाचै, जो सोधै निज काया।
भीखा यह जग रतो कनक पर, कामिनि हाथ बिकाया ॥

— वही, पृ० १३६, नाममहिमा, पद २

— यह मन और माया मुझे बहुत तंग कर रही हैं, मैं इन दोनों से बहुत हैरान हूँ। एक ही शब्द है और एक ही ब्रह्म है तथा उस ब्रह्म का छाया-स्वरूप यह संसार भी एक है अर्थात् नाम, उसका अर्थ ब्रह्म और उस ब्रह्म से ओतप्रोत यह चराचर जगत् सब एक ही है। किन्तु आत्मस्वरूप यह जीव कर्मों में उलझा हुआ है, चेतन होते हुए भी जड़ में, संसार में भूला हुआ है। परमार्थ यानी जीव के परमकल्याण की ओर इसने पीठ कर ली है और स्वार्थ यानी शरीर के सुख की ओर मुँह किए हुए है। एकमात्र सद्गुरु से प्राप्त होनेवाला नाम ही नित्य है जिसे छोड़कर इस जीव को यह अनित्य संसार ही अच्छा लगता है। अमृत को छोड़कर यह विष खाने में लगा है। ऐसी विषम और विवश अवस्था में सद्गुरु की कृपा से कोई ऐसा ही मनुष्य बच पाता है जो अपने शरीर को सद्गुरु के उपदेश के अनुसार भजन और सेवा की आँच में तपाकर अपने शरीर को शुद्ध कर लेता है। सन्त भीखा साहब कहते हैं कि सद्गुरु के ऐसे सेवक को छोड़कर बाकी सारा संसार तो धन के पीछे चक्कर काट रहा है और स्त्री के हाथों बिका हुआ है।

को लखि सकै राम को नाम।
देइ करि कौल करार बिसारो, जियना बिनु भजन हराम ॥
बरनत बेद बेदान्त चहूँ जुग, नहिं अस्थिर पावत बिसराम ॥
जोग जग्य तप दान नेम ब्रत, भटकत फिरत भोर अरु साम ॥

सुर नर मुनिगन पचि पचि हारे, अंत न मिलत वहुत सो लाम ॥
साहब अलख अलेख निकट हीं, घट घट नूर ब्रह्म को धाम ॥
खोजत नारद सारद अस अस, जातु है समय दिवस अरु जाम ॥
सुगम उपाय जुक्ति मिलबे की, भीखा इह सतगुरु से काम ॥
— वही, पृ० १४०, पद ३

— सन्त भीखा साहब कहते हैं — राम के नाम को भला कौन देख सकता है अर्थात् अपने बल पर कोई भी नहीं देख सकता, चाहे वह कितना ही सामर्थ्यशाली क्यों न हो। नाम तो शब्द ही है, शब्द सुना जाता है, वह देखा कैसे जायगा। यहाँ तात्पर्य है नाम के अर्थ को देखने से, ठीक वैसे ही, जैसे 'पानी' नाम को लेते या सुनते ही उस नाम का अर्थ जल पदार्थ का स्वरूप आँखों में झूल जाता है। किन्तु जिसने पहले जल पदार्थ देखा होगा उसे ही 'जल' शब्द कहते ही जल पदार्थ का स्मरण आवेगा, जिसने कभी न देखा हो, उसे कैसे जल पदार्थ का स्मरण आवेगा, वह कैसे जल को लख सकेगा ! इसी प्रकार राम के नाम का अर्थ, राम पदार्थ, राम का स्वरूप भला कौन लख सकता है, जबकि तत्त्वदर्शी महापुरुष सन्त-सद्गुरु को छोड़कर किसी ने उसे देखा ही नहीं। सन्त भीखा साहब आगे कहते हैं — अरे संसारी जीव, गर्भावस्था का नरक भोगते हुए तूने जो प्रतिज्ञा की थी 'गर्भ से बाहर निकलकर ईश्वर का भजन करूँगा' वह अपना दिया हुआ वचन तू भूल गया। अतः बिना भजन के तेरा जीना हराम है, व्यर्थ है। चारों युगों में, अनादि काल से वेद-वेदान्त पढ़े, समझे और समझाए जाते रहे हैं पर उन्हें पढ़ने, समझने या कहने-सुनने वाला कोई भी न स्थिरता पा सका, न विश्राम। सारा संसार तरह-तरह के मन-मुखी योग, यज्ञ, तपस्या, दान, नियम-पालन, व्रत आदि करते हुए भटकते फिरते हैं, सुबह होती है, शाम होती है, दिन बीतते चले जाते हैं, जीवन पूरा समाप्त हो जाता है। वड़े-बड़े देवता, मनुष्य, मुनिगण अपनी बुद्धि लगा-लगाकर, तरह-तरह के उपाय कर-करके हार गये, पर किसी को भी अन्त न मिला, किसी को भी राम न मिला, क्योंकि वह बहुत लम्वाई पर, बहुत दूरी पर विराजमान है। साहब यानी राम-नाम का अर्थ, प्रभु राम, परब्रह्म परमात्मा अलख है, अलक्ष्य है, बिना सद्गुरु की कृपा के नहीं देखा जा सकता, उसका यथावत् वर्णन भी नहीं हो सकता। जैसे वह बहुत दूर है वैसे ही अत्यधिक पास भी है, प्रत्येक शरीर में उसी का प्रकाश है, प्रत्येक शरीर उसी का निवासस्थान है, उसी का धाम है, इसीलिये दर्पण में स्वरूप

के समान जिन्होंने अपने मन में उसका अपरोक्ष अनुभव किया है उन्होंने भी तरह-तरह से उसका वर्णन करके भी अन्त में यही कहा कि वह अनिर्वचनीय है, उसका यथार्थ, जैसा वह है वैसा, वर्णन नहीं हो सकता। नारद और सरस्वती जैसे लोग उसे लगातार खोज रहे हैं, पहर बीत रहे हैं, दिन बीत रहे हैं, समय बीतता ही जा रहा है, जबकि उसके मिलने की युक्ति सीधा और सरल और उपाय है। सन्त भीखा साहब अपना अनुभव बतलाते हुए कहते हैं कि इस विषय में बल-बुद्धि वेद-शास्त्र आदि किसी मनमुखी उपाय से काम नहीं बन सकेगा, यहाँ तो बस एकमात्र सद्गुरु से ही काम बनेगा, तत्त्वदर्शी, अपने इसी घट के भीतर परब्रह्म परमात्मा के अन्तःसाक्षात्कार में डूबे सद्गुरुदेव ही समीप आए जिज्ञासु जीव को दया करके राम के नाम का दान भी करते हैं और उसके इसी शरीर में प्रभु राम का साक्षात्कार भी करा देते हैं।

> ब्राम्हन कहिए ब्रम्हरत, है ताका बड़भाग।
> नाहिंन पसु अज्ञानता, गर डारे तिन ताग ॥
> संत चरन में लगि रहै, सो जन पावै भेव।
> भीखा गुरु परताप तें, काढ़ेव कपट जनेव ॥

— वही, पृ० १४८, साखी १-२

— सगुण-साकार ब्रह्म सन्त-सद्गुरु के स्वरूप में लीन रहनेवाला ही वास्तव में ब्राह्मण कहा जाता है। ऐसा जीव निश्चय ही अतिशय बड़भागी है। अन्यथा अज्ञानी होते हुए भी ब्राह्मण समझे जाने के लिये गले में तीन धागे (जनेऊ) डाले रहनेवाला पशु ही है। सन्त भीखा साहब कहते हैं कि सन्त-सद्गुरु के चरणों की सेवा में जो लगा रहेगा वही ब्रह्म का भेद पा सकता है। फिर तो वह इस जनेऊरूपी झूटे चिह्न को निकालकर फेंक देता है, उसे इसकी कोई आवश्यकता नहीं रह जाती।

सन्त चरणदास

राजस्थान के एक वैश्य परिवार में जन्मे सन्त चरणदास (सन् १७०३ – १७८२ ई०) को उन्नीस वर्ष की अवस्था में सद्गुरु बाबा सुखदेवदासजी की सेवा प्राप्त हुई जिनका आपने श्रद्धावश शुकदेव नाम से उल्लेख किया है। आपने अपनी उपदेशमयी अनुभव-वाणी में बहुत ही स्पष्ट शब्दों में एकमात्र तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु की सेवा द्वारा ही भगवद्भक्ति अथवा जीवन्मुक्ति प्राप्त होने का समर्थन किया है। आप कहते हैं —

जग में दो तारन कूँ नीका।
एक तो ध्यान गुरु का कीजै, दूजे नाम धनी का ॥
कोटि भाँति करि निश्चय कीयो, संसय रहा न कोई।
सास्तर बेद पुरान टटोले, जिनमें निकसा सोई ॥
इनहीं के पीछे सब जानो, जोग जग्य तप दाना।
नौविधि नौधा नेम प्रेम सब, भक्ति भाव अरु ग्याना ॥
और सबै मत ऐसे मानो, अन्न बिना भुस जैसे।
कूटत कूटत बहुतै कूटा, भूख गई नहिं तैसे ॥
थोथा धर्म वही पहिचानो, जामें ये दो नाहीं।
चरनदास सुकदेव कहत हैं, समझि देख मन माहीं ॥

— सन्त-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० १५५, मंगल ५

— जीव को संसारसागर से पार उतारने के दो ही उत्तम उपाय हैं — एक तो अपने सद्गुरु का ध्यान करो और दूसरा, अपने स्वामी सद्गुरु द्वारा दिए गए नाम का अजपा जप। अनेक शास्त्रों, वेदों और पुराणों को उलट-पलटकर हमने देख डाला, सबमें यही एक बात अनेक प्रकार से कही हुई देखने को मिली। अतः करोड़ों तरह से निश्चय कर लिया, अब इस बात में कोई सन्देह नहीं रह गया कि सद्गुरु की सेवा, उनके स्वरूप का ध्यान और उनसे प्राप्त नाम के स्मरण यानी मानसिक जप के अतिरिक्त जीव के उद्धार का कोई अन्य उपाय नहीं है। जितने प्रकार के योग, यज्ञ, तप, दान, नौ प्रकार की भक्ति, नियम, प्रेम, ज्ञान आदि का वर्णन अथवा प्रचलन है, वे सब सद्गुरु के ध्यान और सद्गुरु के नाम-स्मरण के ही पीछे हैं अर्थात् सबके मूल में यही हैं। सद्गुरु की प्राप्ति ही सबका अन्तिम फल है। संसार में प्रचलित और सब मत-मतान्तर, सम्प्रदाय आदि को ऐसा समझो जैसे अन्न के दाने से रहित भूसा यानी उसके छिलके जिन्हें कोई लगातार कितना भी कूटता रहे, खाने को एक भी दाना नहीं मिलेगा, भूख नहीं मिटेगी। थोथा, खाली, निष्फल धर्म उसे ही समझना चाहिए जिसमें ये दोनों, सद्गुरु का ध्यान और सद्गुरु के नाम का जप न हों। सन्त चरणदासजी कहते हैं कि हमारे सद्गुरुदेव शुकदेवजी का यही कहना है, यही उपदेश है, इसे अपने मन में समझकर, विचार करके देख लो।

भाई रे, अवधि बीती जात।
अंजुलीजल घटत जैसे, तारे ज्यों परभात ॥
स्वांस-पूँजी गाँठि तेरे, सो घटत दिन-रात।
साधु-संगति पैंठ लागी, ले लगै सोइ हाथ ॥
बड़ो सौदा हरि सँभारौ, सुमिर लीजै प्रात।
काम क्रोध दलाल हैं, मत बनिज कर इन साथ ॥
लोभ मोह बजाज ठगिया, लगे हैं तेरि घात।
शब्द गुरु को राखि हिरदय, तौ दगा नहिं खात ॥
आपनी चतुराइ बुधि पर, मत फिरै इतरात।
चरनदास सुकदेव चरननि, परस तजि कुल जात ॥

—वही, पृ० १६६, पद २४

— अरे भाई, जीने की अवधि बीती जा रही है। जैसे अंजलि में रखा पानी बूँद-बूँद करके गिरते-गिरते समाप्त हो जाता है या जैसे प्रातःकाल तारागण आकाश से धीरे-धीरे एक-एक कर सब लुप्त हो जाते हैं, इसी प्रकार साँसों की पूँजी जो तेरे पास, तेरी गाँठ में है, वह दिन-रात घटती ही जा रही है। सन्त-सद्गुरु की संगति में पहुँच कर जितनी साँसें तेरे हाथ लग सकें उन्हीं को सार्थक कर ले अर्थात् उनके द्वारा सद्गुरु से प्राप्त नाम का स्मरण कर ले। हरि को सँभाल ले अर्थात्, 'नररूप हरि' सद्गुरु का स्वरूप ध्यान में बसा ले, यह बहुत बड़ा लाभ-वाला व्यापार है। नित्य प्रातःकाल नाम का स्मरण किया कर। काम और क्रोध दलाल हैं, इनके साथ मिलकर कोई सौदा, व्यापार मत कर। लोभ और मोहरूपी व्यापारी बड़े ठग हैं, ये तेरी घात में लगे हैं। अतः सद्गुरु ने तुझे जो शब्द यानी नाम दिया है उसे हृदय में रख अर्थात् उस नाम का निरन्तर, हर साँस में स्मरण करता रह तो तू धोखा नहीं खाएगा, ये काम-क्रोध आदि ठग तुझे हानि नहीं पहुँचा सकेंगे। अपनी चतुराई और अपनी बुद्धि के घमण्ड में इतराता हुआ, इठलाता हुआ निश्चिन्त होकर मत फिरता रह। सन्त चरणदासजी कहते हैं कि अपने कुल और जाति को छोड़कर यानी जाति और कुल का अभिमान त्यागकर हमारे सद्गुरु शुकदेवजी के चरणों का स्पर्श कर, उनके चरणों में दण्डवत् प्रणाम कर और उनकी सेवा कर।

जीव को शाश्वत कल्याण प्राप्त कराने के उपायों पर सन्त चरणदासजी की मान्यता उनकी ऊपर उद्धृत वाणियों से स्पष्ट है। आगे गुरुमहिमा तथा गुरु-भक्त की रहनी पर प्रकाश डालनेवाली उनकी वाणी का कुछ सरल, सरस तथा प्रभावपूर्ण अंश उद्धृत है जिससे सद्गुरु के भक्तों को तो आनन्द मिलेगा ही तथा जिन्हें सद्गुरु प्राप्त नहीं हैं उन्हें सद्गुरु की खोज करने की प्रेरणा प्राप्त होगी। जिन्हें सद्गुरु प्राप्त हो गए हैं उन्हें अपने व्यवहार में कैसा आचरण करना चाहिए, यह बतलाते हुए वे कहते हैं –

अब गुरुमुख के लच्छन गाऊँ। जुदे जुदे करिकै समझाऊँ ॥
इनकूँ समुझि धरै हिय कोई। पूरा गुरुमुख कहिए सोई ॥
प्रथमहिं गुरु सों झूठ न बोलै। खोटी खरी करै सब खोलै ॥
दूजे गुरु कूँ पै न लगावै। निस्चय गुरु के चरन मनावै ॥
तीजे अज्ञाकारी जानो। इन लच्छन गुरुमुखी पिछानो ॥
जो कोइ गुरु का लेवै नाम। ताकूँ निहुरि करै परनाम ॥
जो कहुँ देखै गुरु का बाना। ताको जानै गुरू समाना ॥
चरनदास सुकदेव बखानै। गुरुभाई कूँ गुरुसम जानै ॥

गुरुभाई को पूजिए, धरिए चरनन सीस।
चरनोदक फिरि लीजिए, गुरु मत बिसवा बीस ॥

जो कहुँ गुरु का बस्तर पावै। हिए लगाय चूमि दृग छूवावै ॥
गुरू-देस का मानुष आवै। दै परिकरमा सीस नवावै ॥
कहाँ दया करि दरसन दीने। मेरे पाप भए सब छीने ॥
जो अपने गुरुद्वारे जैये। देखत पौरि बहुत हरखैये ॥
द्वाई सूँ दंडौत जु कीजे। दरसन करि करि सर्बस दीजे ॥
फिरि ठाढ़ो रह जोरै हाथा। बैठै जब आज्ञा दें नाथा ॥
जो बोलैं सो मन में धरिए। अपने अवगुन सबही हरिए ॥
चरनदास सुकदेव बतावै। ऐसा गुरुमुख राम रिझावै ॥

– वही, पृ० १६७ – ६८, पद १ – २

सन्त चरणदासजी की कुछ महत्त्वपूर्ण साखियाँ हैं, जिनसे साधकों, जीवों को भजन करने में प्रेरणा, मार्गदर्शन और प्रोत्साहन प्राप्त होता है। अतः यहाँ उनको

उद्धृत करना आवश्यक प्रतीत होता है। वे कहते हैं कि सद्गुरुदेव जो कुछ करने को कहें वही करना चाहिए क्योंकि आज्ञापालन ही सर्वश्रेष्ठ सेवा है – 'आज्ञा सम न सुसाहिव सेवा'। किन्तु वे जो कुछ करें, उन्हें देखकर वैसा ही नहीं करना चाहिए। वे सर्वसमर्थ हैं, सर्वज्ञ हैं, ब्रह्मस्वरूप हैं, न जाने कब किस प्रयोजन से, किस उद्देश्य की सिद्धि के लिये, कौन सा प्रभाव उत्पन्न करने के लिये किस प्रकार का आचरण करते हैं। उनका अनुकरण करने से साधक शिष्य का विनाश के गर्त में जाना अवश्यम्भावी है –

गुरू कहैं सो कीजिए, करैं सो कीजै नाहिं।
चरनदास की सीख सुन, यही राख मन माहिं॥

– वही, १६८।१

संसार 'जड़-चेतन गुन-दोषमय' है, अतः हमें इस प्रकार निर्लिप्त भाव से, अनासक्त भाव से संसार में रहना चाहिए कि उसके गुण-दोषों से प्रभावित न हों। जीभ कितना भी घी क्यों न खा जाय, वह कभी चिकनी नहीं होती –

जग माहीं ऐसे रहौ, ज्यों जिह्वा मुख माहिं।
घीव घना भच्छन करै, तौ भी चिकनी नाहिं॥

– वही, १७६।८

सन्त चरणदासजी कहते हैं कि हे भाई, संसार में आसक्त होकर मत रहो, अपने सद्गुरुस्वरूप हरि का ध्यान करने में सदा लगे रहो। बाहर से देखने पर तुम्हारा शरीर तो पृथ्वी पर दिखाई पड़े, किन्तु प्राण मस्तक के भीतर के आकाश में सहस्रदल कमल पर विराजमान अपने सद्गुरुस्वरूप परमेश्वर में लगे रहें। ऐसी रहनी से रहने पर ही अपने शरीर के भीतर विराजमान ईश्वर का साक्षात्कार हो सकेगा –

जग माहीं न्यारे रहौ, लगे रहौ हरि ध्यान।
पिरथी में देही रहै, परमेसुर में प्रान॥

– वही, १६८।३

सद्गुरु से नाम प्राप्त करके उनकी बताई विधि से भजन-सुमिरन करनेवाला मनुष्य यदि दया, नम्रता, दीनता, क्षमा, शील-सन्तोष आदि सद्गुणों को अपनाए रहे तो उसे निश्चय ही मोक्ष प्राप्त हो जायगा –

दया नम्रता दीनता, छिमा सील संतोष।
इनको लै सुमिरन करै, निस्चय पावै मोष ॥ ५ ॥

दीन-दुखियों के प्रति दयाभाव, नम्रता – प्रकृति में लचीलापन, इष्टदेव – सद्गुरुदेव के सम्मुख दीनता, अपराधियों के प्रति क्षमा, सदाचार की प्रवृत्ति तथा प्रारब्धवश जो कुछ प्राप्त हो उससे अधिक की कामना न करना, इन गुणों को अपनाए रहते हुए भजन-स्मरण करने से भजन की शक्ति संचित होती है तथा भजन का शुभ प्रभाव तीव्रता से अनुभव में आता है। ऐसा न होने पर विपरीत गुणों द्वारा शक्ति विखरती रहती है और हमारी दशा यह हो जाती है कि 'चलनी में दूध दुहैं और भाग्य को दोष देयँ।'

कहा तपस्या नाम बिनु, जोग जग्य अरु दान ।
चरनदास यों कहत हैं, सबहीं थोथे जान ॥ ८ ॥
गई सो गई अब राखि ले, ए हो मूढ़ अयान।
निःकेवल हरि कूँ रटो, सीख गुरू की मान ॥ ९ ॥
जागै ना पिछले पहर, ताके मुखड़े धूल ।
सुमिरै ना करतार कूँ, सभी गँवावै मूल ॥१०॥
पिछले पहरे जाग करि, भजन करै चित लाय ।
चरनदास वा जीव की, निस्चै गति ह्वै जाय ॥११॥

– वही, पृ० १६९

– सन्त चरनदास कहते हैं कि सद्गुरु से प्राप्त नाम के बिना तपस्या कैसी ? उस नाम के विना योग, यज्ञ, दान आदि सभी साधन व्यर्थ हैं, निष्फल हैं। जबकि उस नाम का स्मरण-भजन होते रहने पर ये सभी साधन दसगुना लाभकारी हो जाते हैं। सन्त तुलसीदास कहते हैं –

रामनाम का अंक है सब साधन हैं सून ।
अंक गए कछु हाथ नहिं अंक रहे दसगून ॥

सन्त चरणदास कहते हैं कि अरे मोह में पड़े हुए अज्ञानी जीव ! अभी भी कुछ नहीं बिगड़ा है। जो समय बीत गया वह तो गया, जो बाकी बचा है उसका तो सदुपयोग कर ले। सद्गुरु की शिक्षा मान ले, उनसे नाम का उपदेश प्राप्त कर ले और सब ओर से अपने मन को बटोरकर लगातार एकमात्र उस नाम का उन्हीं की

बताई हुई विधि से भजन-स्मरण कर। सन्त कहते हैं कि मनुष्य की एक-एक साँस अनमोल है, उसे व्यर्थ नहीं खोना चाहिए –

एक एक स्वाँसा जात है, तीन लोक का मोल।

जो मनुष्य रात्रि के अन्तिम पहर यानी ब्राह्ममुहूर्त में सोता रहता है, जाग नहीं जाता उसके मुँह में मानो धूल पड़ रही है। उस समय जागकर जो कर्ता, सृष्टि-के रचयिता, जगद्विधात्री महामाया के स्वामी, परब्रह्म परमात्मा के नित्य करुणावतार तत्त्वदर्शी अपने सद्गुरुदेव का स्मरण नहीं करता वह मानो अपना सभी मूल धन व्यर्थ खो रहा है, ब्याज अर्जित करने की तो बात ही दूर है।

इसके विपरीत, जो मनुष्य नित्य ब्राह्ममुहूर्त में उठकर मन लगाकर, प्रेम से सद्गुरु से प्राप्त नाम का स्मरण, ध्यान तथा मानसिक पूजा, मानसिक सेवा आदि करता है, सन्त चरणदास कहते हैं कि उस जीव को निश्चय ही सद्गति प्राप्त हो जाती है।

जो जागै हरि भक्ति में, सोई उतरै पार।
जो जागै संसार में, भवसागर में ख्वार ॥ १६ ॥

– वही, पृ० १७०

– जो मनुष्य सदा अपने सद्गुरु की भक्ति के हेतु जागता है, जागरूक रहता है, सचेष्ट रहता है वही इस संसार-समुद्र को पार कर पाता है, किन्तु जो संसार में, सांसारिक विषय-भोगों के चिन्तन में, उन्हें पाने के प्रयत्नों में ही तन-मन से उलझा रहता है वह कूकर-शूकर आदि निकृष्ट योनियों में बार-बार जन्म लेता, मरता हुआ उत्तरोत्तर अधोगति को प्राप्त होता जाता है।

बलिहारी गुरु आपने, तन मन सदके जावँ।
जीव ब्रह्म छिन में कियो, पाई भूली ठावँ ॥ ४ ॥

– वही, पृ० १७१

सद्गुरु 'नर रूप हरि' होते हैं। शिष्य को पहले तो उनका नर रूप ही दिखाई देता है। फिर उनसे परानाम का उपदेश लेकर श्वास के सहारे उस नाम का मानसिक जप और मस्तक में त्रिकुटी पर सद्गुरु का ध्यान करते-करते जब उनका दिव्य, निरंजन, प्रकाशमय स्वरूप प्रकट होता है तो उसका दर्शन पाकर शिष्य कृतार्थ हो जाता है, और तभी अपने सद्गुरु के उस नर रूप का वास्तविक महत्त्व उसकी समझ

में आता है, जिसकी सेवा-उपासना द्वारा वह इस दिव्य अनुभव तक पहुँचा है। उन्हीं की कृपा ने तो उस ब्रह्मबिन्दु को ब्रह्मसिन्धु से मिलाया है जिससे बिछुड़ा हुआ वह अब तक जाने-अनजाने उसी को खोजता हुआ, उससे मिलने को व्याकुल, बेचैन, सन्तुष्टि पाने के लिये असफल मिथ्या प्रयासों में भटकता आ रहा है। यह अनुभव होते ही अपने सद्गुरुदेव के प्रति उसका हृदय अहोभाव से भर जाता है। उसकी कृतज्ञता अपने सद्गुरु की महिमा का स्तवन वनकर प्रवाहित हो पड़ती है। इसी भावदशा में सन्त चरणदास कहते हैं — मैं अपने सद्गुरु पर बलिहारी जाता हूँ, मैं अपना तन-मन सब उन पर न्यौछावर करता हूँ, जिन्होंने क्षण भर में ही मुझ जीव को ब्रह्म बना दिया और मैंने जन्म-जन्मान्तर से, युग-युगान्तर, कल्प-कल्पान्तर से भूले हुए अपने निज धाम सद्गुरुदेव के चरणों को प्राप्त कर लिया।

इसी भावदशा में वे अपने अनुभव से सद्गुरुदेव को सर्वदेवमय बतलाते हुए हम भूले हुए जीवों को एकमात्र उन्हीं की सेवा-भक्ति का उपदेश दे रहे हैं —

गुरु बिन और न जान, मान मेरो कहो।
चरनदास उपदेस बिचारत ही रहो॥
बेदरूप गुरु होहिं कि कथा सुनावहीं।
पंडित को धरि रूप कि अर्थ बतावहीं॥
कल्पवृच्छ गुरुदेव मनोरथ सब सरैं।
कामधेनु गुरुदेव छुधा तृस्ना हरैं॥
गुरु ही सेस महेस तोहि चेतन करैं।
गुरु ब्रह्मा गुरु विस्नु होय खाली भरैं॥
गंगा सम गुरु होय पाप सब धोवहीं।
सूरज सम गुरु होय तिमिर हरि लेवहीं॥
गुरु ही को करि ध्यान, नाम गुरु को जपौ।
आपा दीजै भेंट पुजन गुरु ही थपौ॥
समरथ श्री सुकदेव कहा महिमा करौं।
अस्तुति कही न जाय सीस चरनन धरौं॥ ३॥

— वही, पृ० १७२

हम चाहें कि प्रभु के प्रति हमारे हृदय में प्रेम उत्पन्न हो तो सन्त तुलसीदास इसका स्वानुभवसिद्ध उपाय बतलाते हैं — प्रभु के गुणों का बार-बार स्मरण करो तो हृदय में प्रभु के प्रति प्रेम बढ़ेगा —

सुमिरि सुमिरि गुन ग्राम राम के उर अनुराग बढ़ाउ।

अतः हमें अपने इष्टदेव, अपने सद्गुरुदेव के गुणों से, उनके परमदयालु, परम उदार महिमामय स्वभाव से परिचित कराते हुए सन्त चरणदास कहते हैं —

प्रभु अपने मुख सूँ कहेव, साधू मेरी देह।
उनके चरनन की मुझे, प्यारी लागै खेह॥
प्रेमी को रिनिया रहूँ, यही हमारो सूल।
चारि मुक्ति दइ ब्याज में, दै न सकौं अव मूल॥
भक्त हमारो पग धरै, तहाँ धरूँ मैं हाथ।
लारे लागो ही फिरौं, कवहुँ न छोड़ौं साथ॥
प्रिथवी पावन होत है, सव ही तीरथ आदि।
चरनदास हरि यों कहैं, चरन धरैं जहँ साध॥

— वही, पृ० १७४, साखी १-४

— प्रभु ने स्वयं अपने मुँह से कहा है कि साधु ही मेरा शरीर है, साधु के चरणों की धूल मुझे वड़ी प्रिय लगती है।

मैं अपने प्रेमी भक्तों का सदा कर्जदार वना रहता हूँ, यही मेरा उसूल या सिद्धान्त है। सायुज्य-सामीप्य-सालोक्य-सारूप्य इन चारों प्रकारों की मुक्ति मैं उसे व्याज में दे चुकता हूँ, उसके मूलधन का कर्ज मुझ पर सदा चढ़ा ही रहता है, उसे मैं कभी नहीं उतार पाता।

मेरा भक्त जहाँ-जहाँ अपने पैर रखता है वहाँ-वहाँ मैं अपना हाथ रखता चलता हूँ ताकि उसके पैर में कोई कड़ी चीज न गड़ने पावे। इस तरह मैं सदा उसके आगे-पीछे फिरता रहता हूँ, कभी उसका साथ नहीं छोड़ता।

सन्त चरणदास कहते हैं कि साधु के वर्तमान रहने मात्र से सारी पृथ्वी पवित्र होती रहती है और जहाँ-जहाँ साधु अपने चरण रखते हैं वे स्थान प्रमुख पवित्र तीर्थ वन जाते हैं।

सन्त चरणदास ने भक्त के प्रति अपने प्रभु सद्गुरुदेव के जिस परम उदार स्वभाव का वर्णन किया है वह किसी भक्त की याचना का परिणाम नहीं है, यह उनकी स्वयं की मौज है, उन्हें यही अच्छा लगता है, इतना सव कुछ वे विना किसी के कहे अपनी ओर से करते हैं। जिन्हें प्रभु का यह स्वभाव

ज्ञात नहीं हैं वहा लाग प्रभु से नाना प्रकार की माँग करते रहते हैं। जो प्रभु के इस स्वभाव को जान जाते हैं वे भला अब प्रभु से क्या माँगेंगे ? बिना माँगे प्रभु जितना कुछ कर रहे हैं इससे अधिक माँगने की शक्ति किसमें है ! इसीलिये भगवान् शिव पार्वती से कहते हैं –

उमा राम स्वभाव जिन जाना। तिन्हहि भजन तजि भाव न आना ॥

– उमा ! प्रभु राम के स्वभाव का जिन्हें यथावत् ज्ञान हो जाता है उन्हें फिर प्रभु के भजन के अतिरिक्त अन्य कुछ भी अच्छा नहीं लगा करता –

सन्त सहजोबाई

सन्त चरणदास की ही शिष्यायें थीं सन्त सहजोबाई तथा सन्त दयाबाई। इनका काल अनुमानतः सन् १६८३ से १७७३ ई० के मध्य था। दोनों ने अपने गुरुदेव की उत्तम सेवा की और उनकी दया से दोनों को तत्त्वबोध प्राप्त हुआ था। दोनों की वाणियों में उनकी अपरोक्ष अनुभूति, सद्गुरु-महिमा और सद्गुरु के प्रति अटूट आस्था देखने को मिलती है।

भगवान् राम ने वन में अपने रहने के लिये महर्षि वाल्मीकि से समुचित स्थान बतलाने को कहा तो वाल्मीकिजी ने अनेक सदाचारों का वर्णन करते हुए यह भी कहा कि हे राम, जो आपसे अधिक महत्त्व अपने सद्गुरु को देता हो तथा सब प्रकार से आदरपूर्वक उनकी सेवा करता हो उसके हृदय में आप निवास करें। वह आपके निवास के लिये उपयुक्त स्थान है।

तुम्ह तें अधिक गुरहि जिय जानी। सकल भायँ सेवहिं सनमानी ॥

कागभुशुण्डिजी ने गरुड़जी से कहा ही है –

मोरें मन प्रभु अस बिस्वासा। राम तें अधिक राम कर दासा ॥

इसी भाव को सन्त सहजोबाई बड़े जोरदार शब्दों में इस प्रकार व्यक्त कर रही हैं –

राम तजूँ पै गुरु न बिसारूँ। गुरु के सम हरि को न निहारूँ ॥
हरि ने जन्म दियो जग माहीं। गुरु ने आवागवन छुटाहीं ॥
हरि ने पाँच चोर दिए साथा। गुरु ने लई छुड़ाय अनाथा ॥
हरि ने कुटँब जाल में गेरी। गुरु ने काटी ममता-बेरी ॥
हरि ने रोग-भोग उरझायौ। गुरु जोगी कर सबै छुटायौ ॥

हरि ने कर्म भर्म भरमायौ। गुरु ने आतम रूप लखायौ ॥
हरि ने मो सूँ आप छिपायौ। गुर दीपक दै ताहि दिखायौ ॥
फिर हरि वंध मुक्ति गति लाये। गुरु ने सबही भर्म मिटाये ॥
चरनदास पर तन मन वारूँ। गुरु न तजूँ हरि कूँ तजि डारूँ ॥

— सन्त-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० १८१, पद १

सब परबत स्याही करूँ, घोलूँ समुन्दर जाय।
धरती का कागद करूँ, गुरु-अस्तुति न समाय ॥

— वही, २

सन्त सहजोबाई अपने सद्गुरु के वचनों के अतिरिक्त कोई दूसरा धर्म जानती ही नहीं। उनके गुरुदेव ने दया करके उनके कान में जो मन्त्र सुना दिया उसी से उनके घट के भीतर प्रकाश हो गया और सारा अज्ञान मिट गया। उनका कहना है कि मनुष्य पण्डित बन जाय या शेख, तीर्थ-व्रत करता रहे चाहे अनेक प्रकार के वेष धारण करता रहे, उसके भीतर ज्ञान का प्रकाश सद्गुरु के बिना सम्भव नहीं है। सद्गुरु की कृपा के विना उसका अन्धकार नष्ट नहीं हो सकता —

हमारे गुरु-वचनन की टेक।
आन धरम को नाहिं जानूँ, जपूँ हरि हरि एक ॥
गुरु विना नहिं पार उतरै, करौ नाना भेख।
रमौ तीरथ वर्त राखौ, होइ पंडित सेख ॥
गुरु विना नहिं ज्ञान-दीपक, जाय ना अँधियार।
काम क्रोध मद लोभ माहीं, उरझिया संसार ॥
चरनदास गुरु दया करिकै, दिये मन्तर कान।
सहजो घट परगास हूवा, गयौ सब अज्ञान ॥

— वही, पृ० १६३, पद १

सन्त सहजोबाई की निम्नलिखित साखियाँ गुरुमहिमा पर पर्याप्त प्रकाश डालनेवाली, गुरुभक्ति की प्रेरणा प्रदान करनेवाली तथा अत्यन्त सरल हैं। सद्गुरु की कृपा से आत्मज्ञान हो जाने पर जो अनिर्वचनीय आनन्द उन्हें मिल रहा है उसको शव्दों द्वारा व्यक्त करने का प्रयास दर्शनीय है —

गुरु सूँ कछु न दुराइये, गुरु सूँ झूठ न बोल।
वुरी भली खोटी खरी, गुरु आगे सब खोल ॥

परमेसर सूँ गुरु बड़े, गावत बेद पुरान।
सहजो हरि के मुक्ति है, गुरु के घर भगवान ॥
सहजो गुरु दीपक दियौ, देख्यौ आतमरूप।
तिमिर गयौ चाँदन भयौ, पायौ परघट भूप ॥
सहजो गुरु परसन्न ह्वै, मेट्यौ मन सन्देह।
रोम रोम सूँ प्रेम उठि, भीज गई सब देह ॥
सहजो गुरु परसन्न ह्वै, मूँद लिये दोउ नैन।
फिर मोसूँ ऐसे कही, समझ लेहि यह सैन ॥
सहजो गुरु किरपा करी, कहा कहूँ मैं खोल।
रोम-रोम फुल्लित भई, मुखे न आवै बोल ॥
चिउँटी जहाँ न चढ़ि सकै, सरसों ना ठहराय।
सहजो कूँ वा देस में, सतगुरु दई बसाय ॥

— वही, पृ० १८२

बार-बार नाते मिलैं, लख चौरासी माहिं।
सहजो सतगुरु ना मिलैं, पकड़ निकासैं बाँहिं ॥
चरनदास के चरन पर, सहजो वारै प्रान।
जगत ब्याध सूँ काढ़ि कर, राख्यो पद निरबान ॥

— वही, पृ० १८३

जब चेतै तबही भला, मोह-नींद सूँ जाग।
साधू की संगति मिलै, सहजो ऊँचे भाग ॥

— वही, साधमहिमा २

साध संग में चाँदना, सकल अँधेरा और।
सहजो दुर्लभ पाइये, सतसंगत में ठौर ॥
जो आवै सतसंग में, जाति बरन कुल खोय।
सहजो मैल कुचैल जल, मिलै सु गंगा होय ॥

— वही पृ०, १८४

सद्गुरु से प्राप्त नाम का स्मरण-अभ्यास करने में सावधानियाँ बतलाते हुए सन्त सहजोबाई कहती हैं —

पारस नाम अमोल है, धनवन्ते घर होय।
परख नहीं कंगाल कूँ, सहजो डारै खोय ॥
सहजो सुमिरन कीजिये, हिरदे माहिं दुराय।
होठ होठ सूँ ना हिलै, सकै नहीं कोइ पाय ॥
रामनाम यों लीजिये, जानै सुमिरनहार।
सहजो के कर्तार ही, जानै ना सन्सार ॥
जागत में सुमिरन करै, सोवत में लौ लाय।
सहजो इकरस ही रहै, तार टूटि नहिं जाय ॥
कामी मति भिष्टल सदा, चलै चाल बिपरीत।
सील नहीं सहजो कहै, नैनन माहिं अनीत ॥
सदा रहै चित भंग ही, हिरदे थिरता नाहिं।
रामनाम के फल जिते, काम-लहर बहि जाहिं ॥

— वही, पृ० १८८, साखी १ - ५

द्रव्य हेत हरि कूँ भजै, धन ही की परतीत।
स्वारथ ले सबसूँ मिलै, अन्तर की नहिं प्रीत ॥
प्रभुताई कूँ चहत है, प्रभु को चहैं न कोइ।
अभिमानी घट नीच है, सहजो ऊँच न होय ॥

— वही, पृ० १८९, साखी १० - ११

सन्त दयाबाई

सद्गुरुदेव की दया और उनसे प्राप्त नाम के प्रभाव से सन्त दयाबाई भी पूरी तरह प्रभावित हैं। वे तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु को ब्रह्म का प्रत्यक्ष स्वरूप मानती हैं। सद्गुरु को मनुष्य समझनेवाला उनकी दृष्टि में पशु ही है —

चरनदास गुरुदेवजू, ब्रह्मरूप सुखधाम।
ताप-हरन सब सुख-करन, दया करत परनाम ॥
अंधकूप जग में पड़ी, दया करमवस आय।
बूड़त लई निकासि करि, गुरु-गुन-ज्ञान गहाय ॥
सतगुरु-सम कोउ है नहीं, या जग में दातार।
देत ज्ञान उपदेस सों, करैं जीव भव-पार ॥

मनसा वाचा करि दया, गुरु-चरनों चित लाव।
जग-समुद्र के तरन कूँ, नाहिन आन उपाव ॥
सतगुरु ब्रह्मसरूप हैं, मनुषभाव मत जान।
मनुषभाव मानैं दया ते हैं पसू समान ॥

— सन्त-सुधा-सार, दूसरा खण्ड, पृ० १९९, साखी २-६

साधसंग छिन एक को, पुन्न न बरन्यो जाय।
रति उपजै हरिनाम सूँ, सब ही पाप बिलाय ॥
साधसंग जग में बड़ो, जो करि जानै कोय।
आधो छिन सतसंग को, कलमख डारै खोय ॥

— वही, पृ० २०४

पदमासन सूँ बैठ करि, अंतर दृष्टि लगाव।
दया जाप अजपा जपौ, सुरति स्वाँस में लाव ॥
दया कह्यो गुरुदेव ने, कूरम को ब्रत लेहि।
सब इन्द्रिन कूँ रोकि करि, सुरत स्वाँस में देहि ॥
बिन रसना विन माल कर, अंतर सुमिरन होय।
दया दया गुरुदेव की, बिरला जानै कोय ॥
हृदय कमल में सुरति धरि, अजप जपै जो कोय।
बिमल ज्ञान प्रगटै तहाँ, कलमख डारै खोय ॥
चरनदास गुरुकृपा तें, मनुवाँ भयो अपंग।
सुनत नाद अनहद दया, आठो जन्म अभंग ॥

— वही, पृ० २०५, १-५

सन्त पलटू साहब

अठारहवीं शताव्दी (ईसा) के उत्तरार्ध में सन्त गोविन्द साहब के शिष्य पलटू साहब नाम के एक सन्त हुए हैं जिनका सत्संग-क्षेत्र अयोध्या रहा है। आपकी वाणी बड़ी सीधी और सरल है। दो टूक बात कहना आपकी शैली की विशेषता है। माया से रहित ब्रह्म का प्रत्यक्ष स्वरूप आप एकमात्र सन्त-सद्गुरु को ही मानते हैं जो जीव को सत्तनाम का दान करके उसे चौरासी लाख योनियों में जन्म-मरण के चक्र से मुक्त होनेवालों की पंक्ति में खड़ा कर देते हैं। सन्त-सद्गुरु

और सत्तनाम की महिमा प्रकाशित करनेवाली आपकी पवित्र वाणी के कुछ अंश इस प्रकार हैं –

परमारथ के कारने संत लिया अवतार ॥
संत लिया औतार जगत को राह चलावैं ।
भक्ति करैं उपदेस, ज्ञान दे नाम सुनावैं ॥
प्रीति बढ़ावैं जक्त में, धरनी पर डोलैं ।
कितनी कहै कठोर, बचन वे अमृत बोलैं ॥
उनको क्या है चाह, सहत हैं दुःख घनेरा ।
जिव तारन के हेतु मुलुक फिरते बहुतेरा ॥
पलटू सतगुरु पायकै, दास भया निरवार ।
परमारथ के कारने संत लिया औतार ॥

– सन्त-सुधा-सार, पृ० २२०।१

जीव को मनुष्य-शरीररूपी नाव तो मिल गयी हैं पर उसे खेनेवाला केवट यानी सद्गुरु नहीं मिले, और यदि मिल भी गए तो वह उनके उपदेश पर ध्यान नहीं देता। तब भला बताइए, वह कैसे भवसागर पार कर सकेगा –

नाव मिली केवट नहीं, कैसे उतरै पार ॥
कैसे उतरै पार पथिक बिस्वास न आवै ।
लगै नहीं बैराग यार कैसे के पावै ॥
मन में धरै न ज्ञान, नहीं सतसंगति रहनी ।
बात करै नहिं कान, प्रीति बिन जैसे कहनी ॥
छूटि डगमगी नाहिं संत को बचन न मानै ।
मूरख तजै विवेक, चतुरई अपनी आनै ॥
पलटू सतगुरु सब्द का तनिक न करै बिचार ।
नाव मिली केवट नहीं, कैसे उतरै पार ॥

– वही, पृ० २२०।२

ईश्वर और ईश्वर के भक्त सन्त-सद्गुरु दो नहीं, एक ही हैं। और अवतार तो त्रिगुणात्मिका माया से युक्त ही अवतार लेते हैं किन्तु सन्त-सद्गुरु ही एक मात्र ऐसे हैं जो माया से मुक्त होते हैं। इन्हें जो कोई अलग-अलग मानता है वह अवश्य नरकगामी होगा –

हरि हरिजन को दुइ कहै, सो नर नरकै जाय ॥
सो नर नरकै जाय, हरिजन हरि अन्तर नाहीं।
फूलन में ज्यों बास, रहैं हरि हरिजन माहीं ॥
संतरूप अवतार, आप हरि धरिकै आवैं।
भक्ति करैं उपदेस, जगत को राह चलावैं ॥
और धरैं अवतार रहैं तिर्गुन संजुक्ता।
संतरूप जब धरैं रहैं तिरगुन से मुक्ता ॥
पलटू हरि नारद सेती बहुत कहा समुझाय।
हरि हरिजन को दुइ कहै सो नर नरकै जाय ॥

— वही, पृ० २२४।८

सद्गुरु से सत्तनाम लेकर भजन करने का लाभ अज्ञानी जीव को भले ही न मालूम हो किन्तु सद्गुरु तो जानते हैं कि जीव यदि मन लगाकर भजन कर ले तो उसका कितना अधिक भला हो जायगा। इसीलिये भूत-प्रेत, लड़ाई-झगड़ा, गरीबी-बीमारी आदि दूर करने के लिये, स्वार्थ सिद्ध करने के लिये भी जो जीव उनके पास आता है उसे वे सत्तनाम का दान कर भजन करने के लिये प्रेरित करते हैं। किन्तु पलटू साहब तो अद्भुत सन्त हैं। वे माया-मोह में पड़े अज्ञानी विषयी जीव के पैर पकड़कर उससे आग्रह कर रहे हैं कि संसार के और काम भले ही छूट जायँ, भजन में चूक मत कर —

भजन आतुरी कीजिये, और बात में देर ॥
और बात में देर, जगत में जीवन थोरा।
मानुष-तन-धन जात, गोड़ धरि करौं निहोरा ॥
काँचे महल के बीच पवन इक पंछी रहता।
दस दरवाजा खुला उड़न को नित उठि चहता ॥
भजि लीजौ भगवान, एहि में भला है अपना।
आवागौन छुटि जाय, जनम की मिटै कलपना ॥
पलटू अटक न कीजिये, चौरासी घर फेर।
भजन आतुरी कीजिये, और काम में देर ॥

— वही, पृ० २२५।११

सद्गुरु से प्राप्त नाम के स्मरण से जो लाभ होता है उसके सामने ज्योतिष, तन्त्र, मन्त्र आदि दूसरे साधनों से होनेवाला लाभ नगण्य है, अतः सन्त पलटूदास साफ शब्दों में खुलकर ज्योतिष आदि के फेर में न पड़ने का उपदेश देते हुए नाम की महत्ता प्रतिपादित कर रहे हैं —

लगन महूरत झूट सब, और बिगाड़ैं काम ॥
और बिगाड़ैं काम, साइत जनि सोधै कोई।
एक भरोसा नाहिं, कुसल कहवाँ से होई ॥
जेकरे हाथै कुसल ताहि को दिया बिसारी।
आपन इक चतुराइ बीच में करै अनारी ॥
तिनका टूटै नाहिं बिना सतगुर की दाया।
अजहूँ चेत गँवार, जगत है झूठी माया ॥
पलटू सुभ दिन सुभ घड़ी, याद पड़ै जब नाम।
लगन महूरत झूट सब, और बिगाड़ैं काम ॥

— वही, पृ० २२८।१७

सद्गुरु की सेवा और उपासना का सही आदर्श पतिव्रता स्त्री ही है। सन्त-वाणियों में प्रायः इसी आदर्श के द्वारा सेवा का मर्म समझाया गया है। सन्त पलटूदास कहते हैं कि जैसे सती स्त्री अपने पति के प्राण के साथ इस प्रकार अपने प्राण मिलाए रहती है कि उसके शव के साथ अपना शरीर भी अग्नि को समर्पित कर देती है इसी प्रकार जो शिष्य अपने सद्गुरुदेव के साथ छाया की भाँति लगा रहता है वही प्रशंसा के योग्य है —

सोई सती सराहिये जरै पिया के साथ ॥
जरै पिया के साथ, सोइ है नारि सयानी।
रहै चरन चित लाय, एक से और न ज़ानी ॥
जगत करै उपहास, पिया का संग न छोड़ै।
प्रेम की सेज बिछाय, मेहर की चादर ओढ़ै ॥
ऐसी रहनी रहै तजै जो भोग बिलासा।
मारै भूख पियास याद संग चलती स्वाँसा ॥
रैन दिवस बेहोस, पिया के रँग में राती।
तन की सुधि है नाहिं, पिया सँग बोलत जाती ॥

पलटू गुरु-परसाद से किया पिया को हाथ।
सोई सती सराहिये जरै पिया के साथ॥

— वही, पृ० २२६।१६

सन्त-सद्गुरु को छोड़कर कोई अन्य देवी-देवता जीव को नरक जाने से नहीं वचा सकते अतः एक मात्र सन्त-चरण की पूजा का उपदेश देते हुए सन्त पलटूदास कहते हैं —

संत चरन को छोड़िकै पूजत भूत बैताल॥
पूजत भूत बैताल मुये पर भूतइ होई।
जेकर जहवाँ जीव अंत को होवै सोई॥
देव पितर सब झूठ, सकल यह मन की भ्रमना।
यही भरम में पड़ा, लगा है जीवन-मरना॥
देई-देवा सेइ परमपद केहिने पावा।
भैरों दुर्गा सीव बाँधि कै नरक पठावा॥
पलटू अंत घसीटिहै, चोटी धरि धरि काल।
संत-चरन को छोड़िकै, पूजत भूत बैताल॥

— वही, पृ० २३३।२७

समाज, गाँव, देश, दुनिया की चिन्तारूपी आग में सारा संसार जलता रहता है। पलटू साहब भी इसी आग में जलते रहे किन्तु सद्गुरु ने उन्हें बचा लिया —

पराई चिंता की आगि महैं, दिन राति जरै संसार है जी।
चौरासी चारिउ खान चराचर, कोऊ न पावै पार है जी॥
जोगी जती तपी संन्यासी, सबको उन डारा जारि है जी।
पलटू मैं भी जरत रहा, सतगुरु लीन्हा निकारि है जी॥

— वही, पृ० २४३।१८

सन्त-सद्गुरु से भगवान् भी डरते हैं तथा उनके साथ लगे रहते हैं अतः सन्त पलटू साहब का उपदेश है कि सब तरह से उन्हीं की सेवा और उनसे प्राप्त नाम का भजन करना चाहिए —

जीवन है दिन चार, भजन करि लीजिये।
तन मन धन सब वारि संत पर दीजिये॥

सन्तहिं से सब होय, जो वे चाहैं सो करैं ।
अरे हाँ पलटू, संग लगे भगवान, संत से वे डरैं ॥

विशुद्ध सन्तजन ऋद्धि-सिद्धि, इन्द्रासन-वैकुण्ठ आदि कुछ भी नहीं चाहते, यहाँ तक कि मुक्ति को भी तुच्छ समझते हैं —

ऋद्धि - सिद्धि से बैर, संत दुरियावते ।
इन्द्रासन बैकुण्ठ बिष्टा सम जानते ॥
करते अविरल भक्ति, प्यास हरिनाम की ।
अरे हाँ पलटू, संत न चाहैं मुक्ति, तुच्छ केहि काम की ॥

— वही, पृ० २४६ । १-२

परमात्मा शब्दस्वरूप है और सन्त-सद्गुरु शब्द में लीन रहते हैं अतः दोनों एक ही हैं। सन्तों में ही परमात्मा इस प्रकार छिपा है जैसे मेंहदी के पत्ते में लाली छिपी रहती है —

हरिजन हरि हैं एक सबद के सार में ।
जो चाहैं सो करैं संत दरबार में ॥
तुरत मिलावैं नाम एक ही बात में ।
अरे हाँ पलटू, लाली मेंहदी बीच, छिपी है पात में ॥

— वही, पृ० २४७ । ४

सन्त-सद्गुरु के द्वार पर पड़े रहना चाहिए, अपना तन-मन-धन सब उन्हें समर्पित कर देना चाहिए, जो भी कठिनाइयाँ वहाँ आवें उन्हें सहर्ष झेलता रहे, कोई वहाँ से हटने को लाख समझावे पर किसी की न सुने, मुरदा जैसा होकर पड़ा रहे, कुत्ते के टुकड़े की तरह भी जो मिल जाय उसे प्रसन्नतापूर्वक प्रसाद समझकर खा ले और सद्गुरुदेव के चरणों में मन लगाए रखे। सन्त पलटूदास कहते हैं कि इतना सहकर भी सन्त-सद्गुरु के द्वार पर जीव टिका रह जाय तो निश्चय ही उसका काम बन जायगा —

बनत बनत बनि जाय, पड़ा रहै सन्त के द्वारे ॥
तन मन धन सब अरपन कै कै, धका धनी को खाय ।
मुरदा होय टरै नहिं टारे, लाख कहै समुझाय ॥
स्वान-बिरित पावै सोइ खावै, रहै चरन लौ लाय ।
पलटूदास काम बनि जावै, इतने पर ठहराय ॥

— वही, पृ० २६० । २

स्वार्थ सिद्ध करने के लिये तो सभी जागते हैं किन्तु परमार्थ की सिद्धि के लिये वही जागता है जिस पर सद्गुरु की कृपा होती है —

मितऊ देहला न जगाय, निंदिया बैरिन भइली।
की तो जागै रोगी, की चाकर कै चोर।
की तो जागै संत बिरहिया, भजन गुरू कै होय ॥
स्वारथ लाय सभै मिलि जागैं, बिन स्वारथ ना कोय।
परस्वारथ को वह नर जागै, किरपा गुरु की होय ॥
जागे से परलोक बनतु है, सोये बड़ दुख होय।
ज्ञान खरग लिये पलटू जागै, होनी होय सो होय ॥

— वही, पृ० २६१ । १

चतुर सखी वही है जो सद्गुरु-घाट पर पहुँचकर सुरति की रस्सी में नाम की गगरी बाँधकर झुककर गहरे समुद्र से पानी खींच ले। यदि लोकलाज की परवाह न करके वह पानी भरने में सफल हो गयी तो वह दिन-रात सदा आनन्द में डूबी रहने लगेगी, उसकी चाल में मस्ती भर जायगी —

है कोई सखिया सयानी, चलै पनिघटवा पानी ॥
सतगुरु घाट गहिर बड़ा सागर, मारग है मोरी जानी।
लेजुरी सुरति सबद कै घेलन, भरहु तजहु कुलकानी ॥
निहुरि के भरै घयल नहिं फूटै, सो धन प्रेम-दिवानी।
चाँद सुरुज दोउ अंचल सोहैं, बेसर लट अरुझानी ॥
चाल चलै जस मैगर हाथी, आठ पहर मस्तानी।
पलटूदास झमकि भरि आनी, लोकलाज ना मानी ॥

— वही, पृ० २६४ । २

सन्त-सद्गुरु चाहें तो भाग्य का लिखा भी बदल देते हैं। किन्तु सन्त-शरण में जाने पर भी यदि भाग्य का लिखा बदलने में देर हो रही है तो यह अपने ही मन की खोट है —

पलटू लिखा नसीब का, संत देत हैं फेर।
साँच नहीं दिल आपना, तासे लागे देर ॥

सन्त पलटूदास की निरभिमानिता देखें –

ना मैं किया न करि सकौं, साहिब करता मोर।
करत करावत आप हैं, पलटू पलटू सोर॥

– वही, पृ० २६७।१०, १४

सन्त तुलसी साहब

अठारहवीं ईसवी शताब्दी के अन्तिम समय में सन्त तुलसी साहब नामक एक तत्त्वदर्शी साधु हुए हैं जिन्हें हाथरस के आसपास के क्षेत्र में कन्धे पर कम्बल रखे तथा हाथ में डण्डा लिए घूमते देखे जाने का उल्लेख है। इनका भी यही मत है कि तत्त्वदर्शी महापुरुष के उपदेश द्वारा इस शरीर में वर्तमान परमात्मा का भेद जान लेने के अतिरिक्त जीव के कल्याण का कोई और उपाय नहीं है। आपकी अनुभववाणी के निम्नलिखित अंशों में इसी सिद्धान्त का खुले हृदय से समर्थन प्राप्त होता है।

सन्त तुलसी साहब का कथन है कि मैंने सर्वत्र खोज करके हार मान ली। ब्रह्मा-विष्णु-महेश, योग-युक्ति, देव-मुनि, ब्रह्मचर्य, वैरागी, संन्यासी, दरवेश, वेदान्त पढ़कर बने हुए परमहंस, तीर्थ-व्रत, चारों वर्णों के आचार-विचार, इन सबका अनुसरण निरर्थक है, बन्धनकारक है, यह जानकर मैंने सब सांसारिक सुख-ऐश्वर्य छोड़कर सद्गुरु की शरण ग्रहण कर ली –

प्यारे पिया पैहों कौने भेस, मैं तो हारी ढूँढ़ि सारा देस॥
जोग जुगति जोगी ठगे, ब्रह्मा बिस्नु महेस।
वेद-विधी बंधन भये, देव, मुनी औ सेस॥
ब्रह्मचार बैराग लौ, संन्यासी दुरवेस।
परमहंस बेदांत को पढ़ि भाषत ब्रह्म नरेस॥
तीरथ बरत अन्हान को, चार बरन परवेस।
काल करम करता करै, बाँधे जम धर केस॥
जगत-जाल-जंजाल से, कोउ नहिं पावत पेस।
मैं सतगुर सरना लिया, तुलसी सकल तजि ऐस॥

– सन्त-सुधा-सार, पृ० २७५।२

संसार के लोग ऐसे मूर्ख हैं कि कथा-पुराण सुन-सुनकर ही अपने को कृतकृत्य मान लेते हैं। वास्तव में वेद, शास्त्र, स्मृतियाँ आदि सब काल का फैलाया हुआ जाल है ज़िसमें फँसकर लोग अपना जन्म विगाड़ रहे हैं। इस आचरण से उन्हें यद्यपि कोई लाभ नहीं है, हर जन्म में मृत्यु के बाद उन्हें यमराज की लातें सहनी पड़ती हैं, फिर भी वे लोग वैसा ही आचरण करते जाते हैं। परिणाम यह होता है कि दीनदयाल सन्त-सद्गुरु की शरण न ग्रहण करने से युगों-युगों तक प्रत्येक जन्म में मार खाते रहते हैं –

सतगुरु दीनदयाल बिन, जुग-जुग मारे जायँ ॥
जुग जुग मारे जायँ, खायँ फिर जम की लाती।
ऐसे मूरख लोग चलैं वाही के साथी ॥
सुन-सुन कथा-पुरान जानकर जनम बिगारा।
सिम्रित सास्तर वेद काल ने किया पसारा ॥
तुलसी सतसँग संत बिन फिर फिर खेही खायँ।
सतगुर दीनदयाल बिन जुग-जुग मारे जायँ ॥

— वही, पृ० २७७।१

तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु से परानाम का उपदेश जिन्होंने नहीं प्राप्त किया ऐसे मनुष्यों को देखकर संत तुलसी साहब को बड़ा खेद है। वे कहते हैं कि जीव ने मनुष्य का शरीर तो पा लिया पर सत्य का दर्शन नहीं कर पाया, क्योंकि सद्गुरु के चरणों का सार उसे चखने को नहीं मिला। एक मात्र सन्त-सद्गुरु ही जीव के कर्मों की परम्परा को काट सकते हैं, इस बात से अनजान वह भ्रम में पड़ा संसार में युगों-युगों से जन्म-मरण के चक्र में भटक रहा है। दुर्लभ मनुष्य-शरीर मिल जाने पर भी उसकी आँखों में दुखदायी कर्मों का ऐसा जाला पड़ा है कि उसका प्रियतम, उसका स्वामी परमात्मा सदा उसके हृदय में विराजमान है, फिर भी उसे दिखाई नहीं देता। विना सद्गुरु के भला दूसरा कौन उसे उसके हृदय के भीतर विराजमान अविनाशी प्रियतम का दर्शन करा सकता है ? किन्हीं दीनदयाल दाता सद्गुरु से उसकी भेंट हो जाय तो वे उसके जीव को वहाँ पहुँचा दें, जहाँ से वह आया है। तब कोई अतिशय सौभाग्यशाली जीव ही उस अविनाशी परमपुरुष का दर्शन अपने हृदय में कर पाता है। फिर समझ लो भवसागर में पड़ी उस जीव की नाव किनारे लग गयी। यदि सन्त-सद्गुरु दया करके मिल जायँ तो मनुष्य को चाहिए कि

बलपूर्वक, हट करके अपने मन को विषयों की ओर से मोड़कर सन्त-सद्‌गुरु की सेवा करे, मन में सदा उनके चरणों की चाह बनी रहे, तो ऐसा करने से उसे शरीर के भीतर चार-चार धार बरसता हुआ अमृत पीने को मिलता है और वह काल को जीत लेता है। सद्‌गुरु के मिल जाने पर भी कोई एकाध ही सज्जन इस प्रकार काल को जीत पाता है। मनुष्य-शरीर पा लेने पर भी यदि सद्‌गुरु की प्राप्ति न हो पाई तो धिक्कार है ऐसे जीवन को –

तन पाये तत ना लखा, चखा न गुरपद सार॥
चखा न गुरपद सार, पार कहु कैसे पावैं।
जम के हाथ बिकाय, लिये चौरासी धावैं॥
जुग-जुग भरमत जायँ, काल से बाजी हारा।
ऐसा जगत अचेत, भरम मैं किया पसारा॥
तुलसी सतगुर संत बिन करम न काटनहार।
तन पाये तत ना लखा, चखा न गुरपद सार॥

– वही, पृ० २७८।४

पिया दरस बिना दीदार दरद दुख भारी।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी॥
क्या जनम लिया जग माहिं मूल नहिं जाना।
पूरनपद को छाँड़ि किया ज़ुलमाना॥
जुग-जुग में जीवन-मरन, आज नरदेही।
सुख-संपति में पार पुरुष नहिं सेई॥
जग में रहना दिन चार बहुरि मरना री।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी॥
यह नरतन दुरलभ माहिं हाय नाहिं लाई।
जाले अँखियों में पड़े करम दुखदाई॥
पिया है हरदम हिर्ये माहिं परख नहि पाई।
बिन सतगुरु के कौन कहे दरसाई॥
खोजत रही री, दिनरात ढूँढकर हारी।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी॥

– वही, पृ० २७६।१-२

कोई भेटै दीनदयाल डगर बतलावै।
जेहि घर से आया जीव तहाँ पहुँचावै ॥
दरसन उनके उर माहिं करै बड़भागी।
उनके तरने की नाव किनारे लागी ॥
कहिं वे दाता मिल जायँ करैं भवपारी।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी ॥

— वही, पृ० २८०।५

सतसँग करना मन तोड़ सरन संतन की।
अंदर अभिलाषा लाग रहै चरनन की ॥
सूरति तन मन से साँच रहै रस पीती।
कोइ जावै सज्जन कुफर काल को जीती ॥
अंमृत हरदम कर पान चुवै चौधारी।
बिन सतगुरु के धृग जीवन संसारी ॥

— वही, पृ० २८१।६

सन्त तुलसी साहब के निम्नलिखित दोहे जीव को इसी शरीर में परमात्मा के साक्षात्कार द्वारा शाश्वत कल्याण प्राप्त करने के लिये सद्गुरु की शरण ग्रहण करने की प्रेरणा प्रदान करते हैं —

प्रथम सरन सतगुरु गहो, निरखो नैन निहार।
वारपार परखत रहो, गुरु-पद-पदम अधार ॥
संत चरन चित हित करो, सूरति संध सँवार।
आदि अंत घर लखि परै, सूझै पिउ-दरवार ॥
यह भवसिंध अगाध है, बूड़े भवजल-धार।
बिन सतगुरु भरमत फिरै, कैसे उतरै पार ॥

— वही, पृ० २८२

तन मन से साँचा रहै, गहै जो सतगुरु बाँह।
काल कधी रोकै नहीं, दे बताइ धुर राह ॥

— वही, पृ० २८८

खाय पियै उतना रखै, बाकी रखै न पास।
और आस ब्यापै नहीं, सतगुरु का बिस्वास ॥

जल मिसरी कोइ ना कहै, सरबत नाम कहाय।
यों घुल के सतसँग करै, काहे भरम समाय ॥

— वही, पृ० २८९

नरतन दुरलभ ना मिलै, खिलै कँवल रस मायँ ।
खाय अमर फल अगम के, जो सतगुरु सरनाय ॥

— वही, पृ० २६०

सन्त राधास्वामी दयाल

उन्नीसवीं शताब्दी के आरम्भ में उत्तरप्रदेश के आगरा शहर में एक उच्च कोटि के तत्त्वदर्शी सन्त हुए हैं – श्री राधास्वामी दयाल, जिनका विशाल सत्साहित्य प्रकाशित है। आपके भी सम्पूर्ण वचनों का सार यही है कि 'वक्त-गुरु' यानी वर्तमान समय के प्रत्यक्ष सद्गुरु की अनन्य उपासना, सेवा तथा उनके ध्यान में तन्मयता के द्वारा ही मनुष्य अपने भीतर विराजमान सच्चिदानन्द परमात्मा का साक्षात्कार प्राप्त कर सकता है, इसके अतिरिक्त दूसरा और कोई उपाय जीव के मुक्त होने का नहीं है।

उनकी बहुमूल्य अनुभव-वाणी का कुछ अंश सादर उद्धृत है जिसमें विश्व भर के सनातन सन्तमत की मान्यता सुस्पष्ट शब्दों में मानो मूर्त हो जाती है।

वचन आठवाँ

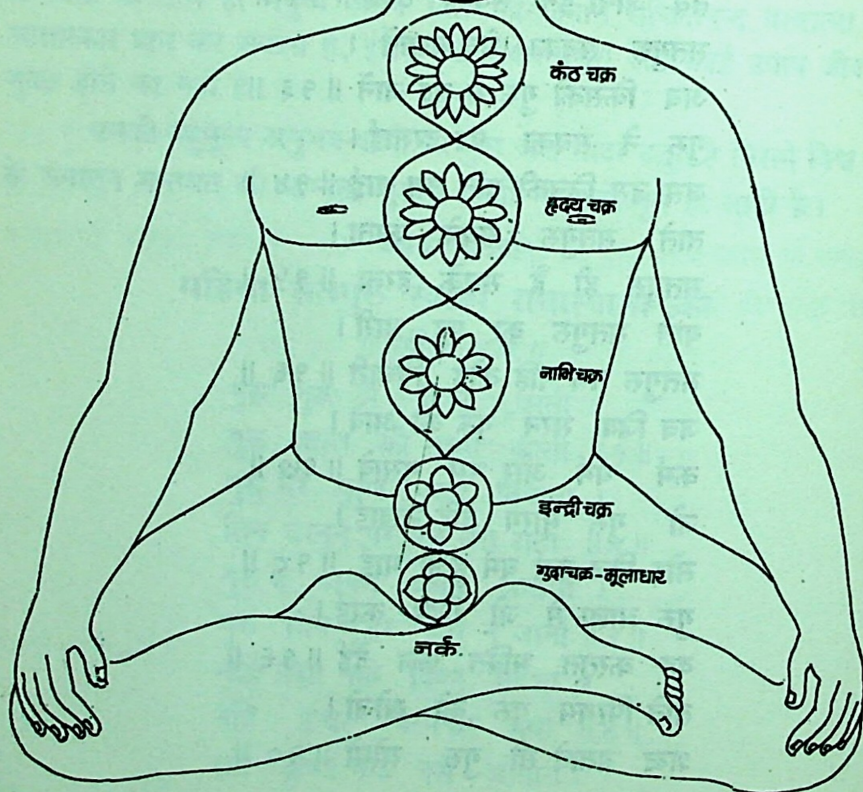
महिमा सतगुरु स्वरूप राधास्वामी की

॥ पहिला शब्द ॥

गुरू गुरू मैं हिरदे धरती ।
गुरु आरत की सामाँ करती ॥ १ ॥
गुरु मेरे पूरण पुरुष विधाता ।
तिन चरनन पर मन मेरा राता ॥ २ ॥
गुरु हैं अगम अपार अनामी ।
गुरु विन दूसर और न जानी ॥ ३ ॥
नहिं ब्रह्मा नहिं विष्णु महेशा ।
नहिं ईश्वर परमेश्वर शेषा ॥ ४ ॥
राम कृष्ण नहिं दस औतारी।
व्यास वसिष्ठ न आदि कुमारी ॥ ५ ॥
ऋषि मुनि देवी देव न कोई।
तीरथ वर्त धर्म नहिं होई ॥ ६ ॥

जोगी जती तपी ब्रह्मचारी।
जनक सनक संन्यास विचारी ॥ ७ ॥
आतम परमातम नहिं मानूं।
अक्षर निःअक्षर नहिं जानूं ॥ ८ ॥
सत्तनाम जानूं न अनामी ।
लिख गिरंथ सब करत बखानी ॥ ९ ॥
सबको करूं प्रनाम जोड़कर ।
पर कोई नहिं सतगुरु सम सर ॥ १० ॥
सतगुरु कृपा सबन का जाना।
बिन सतगुरु कैसे पहिचाना ॥ ११ ॥
सतगुरु भेद दिया इक इक का।
तब जाना इन सबका टेका ॥ १२ ॥
सतगुरु सबका भेद बखानें ।
अब किसको गुरु से बढ़ जानें ॥ १३ ॥
गुरु ने सबका पद दरसाई।
जस जस जिनकी गति तस गाई ॥ १४ ॥
ताते सतगुरु सबके करता।
सतगुरु ही हैं सबके हरता ॥ १५ ॥
याते सतगुरु का पद भारी।
सतगुरु सम नहिं कोइ बिचारी ॥ १६ ॥
जब जिव सरन गुरू की आवे।
कर्म धर्म और भर्म नसावे ॥ १७ ॥
जो गुरु मारग देहि लखाई।
सोइ निज कर्म धर्म हुआ भाई ॥ १८ ॥
गुरु आज्ञा से जो शिष करई।
वह करतूत भक्ति फल देई ॥ १९ ॥
ताते पिरथम गुरु को खोजो।
शब्द बतावें सो गुरु सोधो ॥ २० ॥
अस गुरु सम कोइ और न आना।
गुरू मिले फिर कहा कमाना ॥ २१ ॥

रूहानी मंज़िलें-
राधास्वामी मत



याते मो मत निश्चय येही।
गुरु बिन दूसर और न सेई ॥ २२ ॥
जाके हिरदे गुरु परतीती ।
काल कर्म वा से नहिं जीती ॥ २३ ॥
सबके सिर पर उसका डंका ।
काहू की उसके नहिं संका ॥ २४ ॥
बड़े बड़े उधरें उस संगा ।
गुरुमुख है इन सबसे चंगा ॥ २५ ॥
गुरुमुख की गति सबसे भारी ।
गुरुमुख कोटिन जीव उबारी ॥ २६ ॥
कहँ लग महिमा गुरुमुख गाऊँ ।
कोई न जाने किस समझाऊँ ॥ २७ ॥
जग में पड़ा काल का घेरा ।
जीव करें चौरासी फेरा ॥ २८ ॥
जो चौरासी छूटन चावें ।
तो गुरुमुख सेवा चित लावें ॥ २९ ॥
और काम सब देहिं बहाई ।
शब्द गुरू की करें कमाई ॥ ३० ॥
कोटिन जन्म रहे कोइ काशी ।
वेद पाठ और तीरथ बासी ॥ ३१ ॥
जप तप संजम बहु बिधि करई ।
भेख बनावे बिद्या पढ़ई ॥ ३२ ॥
पिछलों की जो धारें टेका।
जिनको कभी आँख नहिं देखा ॥ ३३ ॥
पोथिन में सुनी उनकी महिमा ।
टेक बाँध मन सबका भरमा ॥ ३४ ॥
अब इनको जो कोइ समझावे ।
टेक छोड़ते जिव सा जावे ॥ ३५ ॥
कोई शिव और कोई विष्णु की ।
कोइ राम और कोई कृष्ण की ॥ ३६ ॥

कोइ देवी कोइ गंगा जमना ।
कोइ मूरत कोइ चारों धामा ॥ ३७ ॥
कोइ मथुरा कोइ टेक मुरारी ।
मदनमोहन कोइ कुंज बिहारी ॥ ३८ ॥
कोइ गोकुल कोइ बलभाचारी ।
कोइ कंठी माला गल धारी ॥ ३९ ॥
कोइ अचार कोइ संध्या तर्पन ।
गया गायत्री करें समर्पन ॥ ४० ॥
कोइ गीता कोइ भागवत पढ़ते ।
कथा पुरान नेम से सुनते ॥ ४१ ॥
क्या दादू क्या नानकपंथी ।
क्या कबीर क्या पलटू संती ॥ ४२ ॥
सब मिल करते पिछली टेका ।
वक्त गुरू का खोज न नेका ॥ ४३ ॥
बिन गुरु-वक्त भक्ति नहिं पावे ।
बिना भक्ति सतलोक न जावे ॥ ४४ ॥
यह कहना उन जीवन कारन ।
जिनके बिरह अनुराग की धारन ॥ ४५ ॥
बिषई संसारी और रागी ।
इनको टेक न चहिये त्यागी ॥ ४६ ॥
इनको टेक सहारा भारी ।
टेक बिना कुछ नाहिं अधारी ॥ ४७ ॥
उनको नहिं उपदेश हमारा ।
उनको जगत कामना मारा ॥ ४८ ॥
कोइ कुटुम्ब कोइ धन आधीना ।
कोइ कोइ मान प्रतिष्ठा लीना ॥ ४९ ॥
मारे डर के टेक न छोड़ें ।
वक्त गुरू में मन नहीं जोड़ें ॥ ५० ॥
जो अनुरागी बिरही भाई ।
भक्ति गुरू की उन प्रति गाई ॥ ५१ ॥

वक्त गुरू जब लग नहिं मिलई ।
अनुरागी का काज न सरई ॥ ५२ ॥
पिरथम सीढ़ी भक्ति गुरू की ।
दूसर सीढ़ी सुरत नाम की ॥ ५३ ॥
जब लग गुरु भक्ती नहीं पूरी ।
मन मनसा यह होयँ न पूरी ॥ ५४ ॥
मन चूरे बिन सुरत न निर्मल ।
कैसे चढ़े और लगे शब्द चल ॥ ५५ ॥
गुरु भक्ती अस कैसे आवे ।
सतसँग कर गुरु सेवा धावे ॥ ५६ ॥
गुरु को पल पल माहिं रिझावे ।
गुरु प्रसन्नता नित्त क मावै ॥ ५७ ॥
गुरु जब इसको प्यारे होई ।
गुरु को प्यारा जब यह होई ॥ ५८ ॥
पूरन दया गुरू जब करई ।
भक्ति पदारथ जबही मिलई ॥ ५९ ॥
दया भी जोग मेहर से होगा ।
दया मेहर बिन जानो धोखा ॥ ६० ॥

क्या हिन्दू क्या मुसलमान, क्या ईसाई जैन ।
गुरु भक्ती पूरन बिना, कोई न पावे चैन ॥ ६१ ॥

पिरथम सीढ़ी है गुरुभक्ती ।
गुरुभक्ती बिन काज न रत्ती ॥ ६२ ॥
और उपाय अनेकन करते ।
गुरुभक्ती को मुख्य न रखते ॥ ६३ ॥
यही कसर है सबके मत में ।
सिद्धान्त न पावें ओछे चित में ॥ ६४ ॥

गुरु भक्ती दृढ़ के करो, पीछे और उपाय ।
बिन गुरभक्ती मोह जग, कभी न काटा जाय ॥ ६५ ॥

मोटे बंधन जगत के, गुरु भक्ती से काट।
झीने बंधन चित्त के, कटें नाम परताप ॥ ६६ ॥

मोटे जब लग जायँ नहिं झीने कैसे जायँ ।
ताते सबको चाहिये, नित गुरुभक्ति कमायँ ॥ ६७ ॥

एक जन्म गुरु भक्ति कर, जन्म दूसरे नाम।
जन्म तीसरे मुक्ति पद, चौथे में निज धाम ॥ ६८ ॥

अब आरत गुरु करूँ सँवारा।
काया थाल मन दीपक बारा ॥ ६९ ॥
भक्ति जोत और भोग अनुरागा।
दृष्टि जोड़ नित चरनन लागा ॥ ७० ॥
यों आरत अब करी बनाई।
सतगुरु पूरे रहें सहाई ॥ ७१ ॥

— सार वचन छंद वंद, पहला भाग, पृ० १६७-१७५

॥ दसवाँ शब्द ॥

प्रेमी सुनो प्रेम की बात ॥ टेक ॥

सेवा करो प्रेम से गुरु की।
और दर्शन पर बल बल जात ॥ १ ॥
वचन पियारे गुरु के ऐसे।
जस माता सुत तोतरि वात ॥ २ ॥
जस कामी को कामिन प्यारी।
अस गुरुमुख को गुरु का गात ॥ ३ ॥
खाते पीते चलते फिरते।
सोवत जागत बिसर न जात ॥ ४ ॥
खटकत रहे भाल ज्यों हियरे।
दर्दी के ज्यों दर्द समात ॥ ५ ॥
ऐसी लगन गुरू संग जाकी।
वह गुरुमुख परमारथ पात ॥ ६ ॥
जब लग गुरु प्यारे नहिं ऐसे।
तब लग हिरसी जानो जात ॥ ७ ॥

मनमुख फिरे किसी का नाहीं।
कहो क्यों कर परमारथ पात ॥ ८ ॥
राधास्वामी कहतं सुनाई।
अब सतगुरु का पकड़ो हाथ ॥ ६ ॥

— वही, पृ० १८७

अट्ठारहवाँ वचन

उपदेश सतगुरु भक्ति का

॥ बारहवाँ शब्द ॥

सतसंग करत बहुत दिन वीते।
अब तो छोड़ पुरानी वान ॥ १ ॥
कब लग करो कुटिलता गुरु से।
अब तो गुरु को लो पहिचान ॥ २ ॥
गुरु को तुम मानुष मत जानो।
वे हैं सत्तपुरुष की जान ॥ ३ ॥
जैसे तैसे मन समझाओ।
धर परतीत करो उन ध्यान ॥ ४ ॥
दया मेहर से वचन सुनावें।
वे हैं पूरन पुरुष अनाम ॥ ५ ॥
धरी देह मानुष की गुरु ने।
ज्यों त्यों तेरा करें कल्यान ॥ ६ ॥
सेवा कर पूजा कर उनकी।
उनही को गुरु नानक जान ॥ ७ ॥
वही कबीर वही सतनामा।
सब संतन को वहीं पिछान ॥ ८ ॥
तेरा काज उन्हीं से होगा।
मत भटके तू तज अभिमान ॥ ६ ॥
चूके मत औसर अब पाया।
बढ़कर इनसे कोइ न मिलान ॥ १० ॥

जो अबके तू गुरु से चूका।
तो भरमेगा चारों खान ॥ ११ ॥
फिर ऐसे गुरु मिलें न कबही।
मान मान तू अब ही मान ॥ १२ ॥
पढ़ पढ़ पोथी गा गा साखी।
क्यों मन में तू धरता मान ॥ १३ ॥
इसी मानं ने ख्वार किया है ।
यही मान अब करता हान ॥ १४ ॥
तातें प्यारे कहूँ बुझाई ।
यह इस्तिगना भली न जान॥ १५ ॥
जल्दी करो कपट को छोड़ो।
सरधा भाव बढ़ाओ आन ॥ १६ ॥
इतने पर मन कहा न माने।
तो फिर अपनी तू ही जान॥ १७ ॥
सिर पर तेरे हुकुम काल का।
तातें मन तेरा नहिं मान ॥ १८ ॥
लगा रहेगा सँग में गुरु के।
सहज सहज शायद मन मान ॥ १९ ॥
एक बात जानी हम भाई।
है तू बड़का बे-ईमान ॥ २० ॥
राधास्वामी कहें बुझाई।
ऐसे जीव होयँ हैरान ॥ २१ ॥

— वही, पृ० ३३२-३४

सन्त काष्ठजिह्व (कठजिभ्या) स्वामी

काशिराज की राजधानी में काष्ठजिह्व स्वामी नामक एक तत्त्वदर्शी सन्त हुए हैं। ये संस्कृत के अच्छे विद्वान थे। लोक में ये कठजिभ्या स्वामी नाम से जाने जाते थे। इनकी एक ही रचना मुखपृष्ठरहित जीर्ण दशा में प्राप्त हो सकी — 'वैराग्यप्रदीप'। संभवतः इनके प्रमुख शिष्य श्री हरिहरप्रसादजी ने अपने

गुरु की वाणी को वैराग्य- प्रदीप नाम से प्रकाशित किया है। यह तत्कालीन काशिनरेश श्री ईश्वरी प्रसाद नारायण सिंह जी द्वारा संशोधित है। इसे देखने से अनुमान होता है कि इनके सद्गुरुदेव का नाम संभवतः 'देव रहा होगा। इनके प्रत्येक पद के अन्त में यह नाम कवि के उपनाम की भाँति श्लिष्ट रूप में प्रयुक्त है।

इनके नाम के संबन्ध में एक किंवदन्ती प्रसिद्ध है। एक बार काशी के सभी बड़े-बड़े विद्वान् यज्ञ कराने के लिये सादर आमन्त्रित होकर जयपुर चले गए थे। इनके गुरुदेव भी राजधानी से बाहर थे। तभी दक्षिण के कुछ विद्वान् शास्त्रार्थ द्वारा दिग्विजय हेतु काशी आए और शास्त्रार्थ के लिये चुनौती दे दी। उनसे शास्त्रार्थ की योग्यता किसी में न होने से कोई सामने न आया। तभी कुछ लोग दौड़कर स्वामीजी की शरण में पहुँच गए और निवेदन किया कि चलकर काशी की इज़्ज़त बचाने की कृपा करें। बहुत टालने की कोशिश की क्योंकि पूज्य गुरुदेव आश्रम पर नहीं थे, उनका आदेश प्राप्त होना जरूरी था, पर उन लोगों के प्रबल आग्रह पर ये शास्त्रार्थ के लिये काशी आ गए और दक्षिण के उन विद्वानों को अपनी तपस्या की शक्ति से पराजित कर दिया। उनमें जो मुख्य पण्डित निरुत्तर होकर पराजित हुआ था उसे इतनी अधिक आत्मग्लानि हुई कि उसने सबके सामने गंगा में डूबकर आत्महत्या कर ली। स्वामीजी की जय-जयकार हुई। सब लोग प्रसन्न हो गए।

स्वामीजी के गुरुदेव जब यात्रा से लौटे तो दूर से ही उन्हें अपने शिष्य की विजयगाथा विस्तार से सुनने को मिल गई। खेद से सन्तप्त मनोदशा में आश्रम में प्रवेश करते ही उन्होंने इस घटना के बारे में पूछा तो स्वामीजी ने सब कुछ सच-सच वता दिया। गुरुदेव बड़े सन्तप्त स्वर में बोले कि तेरी वाणी की प्रखरता ने एक ब्राह्मण को आत्महत्या कर लेने के लिये बाध्य कर दिया, इसे भी तू विजय का नाम देता है ! अरे यह तो तेरी घोर पराजय है। जिस समय वह वाणी तेरे मुँह से निकलने को थी, तेरी वाणी लकड़ी की क्यों न हो गई ! कहते हैं कि वे फिर जो मौन हुए तो जीवन के अन्त तक नहीं बोले। अपने गुरुदेव की वाणी सत्य करने के लिये उन्होंने लकड़ी की एक खोली बनवा ली थी जिसे जीभ पर चढ़ा लेते थें। कुछ लोग कहते हैं कि उनकी वाणी में लचीलापन नहीं, सूखी लकड़ी जैसी कठोरता है इसलिये उन्हें काष्ठजिह्व (काष्ठ की जिह्वावाला) कहा जाने लगा।

सत्य जो भी हो। उनके द्वारा रचित गेय पदों में भी सन्तमत की इन्हीं मान्यताओं की प्रतिष्ठा दिखाई देती है कि ईश्वर का साक्षात्कार केवल इस मनुष्य शरीर के भीतर ही होता है, बाहर कहीं नहीं। और इसके लिये तत्त्वदर्शी सद्गुरु से नाम लेकर सेवा-उपासना द्वारा उन्हें सन्तुष्ट करना आवश्यक है। उनकी कृपा के बिना साधना-अभ्यास में सफलता प्राप्त होना सम्भव नहीं है। इस आशय के उनके कुछ वचन यहाँ सादर उद्धृत हैं।

आप कहते हैं कि संसार में किसी का दिल साफ नहीं दिखाई देता। कुछ लोग ऊपर से फकीरी बाना पहने केवल जबान से ज्ञान छाँटते हैं। कुछ पढ़े-लिखे लोग अपनी पंडिताई के अभिमान में चूर हुए प्रवचन करते, कथा बाँचते हैं। किन्तु दुनिया की, मान-बड़ाई, धन-दौलत की चाह से सबका दिल भरा दिखाई देता है। भजन करते समय ये लोग ऐसे अलसाते हैं मानो कहीं दूर की मंजिल से आकर हारे-थके पड़े हों। दूसरों को पीसने में सिल-लोढ़ा के समान शूर-वीर हैं। उनके मुँह से सदा जहरीली बोली ही निकलती है, जैसे साँप के बिल से साँप का फुफकार भरा फण ही निकलता है। मनमाने जप-तप पूजा-पाठ आदि का भरोसा अथवा कल्पित कृपा या कुशल-क्षेम का मानना, कहना-सुनना, सब व्यर्थ है, मिथ्या है। अब क्या कहें। आत्म-साक्षात्कार अथवा परमात्मा से मिलने का सारा भेद तो अपनी आँखों के तिल में समाया है, पर बतलावे कौन ? बिना तत्त्वदर्शी सद्गुरु के मिले भला कोई कैसे जान सकता है –

कोई साफ न देखा दिल का, साँचा बना झिलमिल का।
कोइ बकुला कोइ बिल्ली देखे, पहिरे फकीरी खिलका।
बाहर मुख से ज्ञान छाँटते भीतर गोरा छिलका।
रामभजन में गजब आलसी जैसे मारा मँजिल का।
औरन के पिसने में सुरुवा पटतर लोढ़ा सिल का।
पढ़े लिखे कछु ऐसे तैसे बड़ा घमंड अकिल का।
जहरी सखुनै मुख से निकलै मसल साँप के बिल का।
रामलगन बिन जप तप झूटा झूटा तवक्का फजिलका।
क्या कहिये गुरुदेव न पाया महरम आँख के तिल का॥

– वैराग्यप्रदीप, पृ० ४

पूर्ण सद्गुरु के प्राप्त हो जाने पर ही सम्पूर्ण सद्गुणों की और ब्रह्मज्ञान की भी प्राप्ति हो सकती है। साधु ही हमारा जीव है, जीवन हैं। सद्गुरु-उपासना के जिस रहस्य को शब्दों में प्रगट करने के लिये सन्त कवीर ने कहा है – 'सतगुरु सिख की आतमा', सन्तमत के उसी भाव को कठजिभ्या स्वामी यहाँ कहते हैं – 'साधु हमारा जीव है।' सन्तों की बानियों में सत्, साधु और सद्गुरु का एक ही अर्थ होता है। सद्गुरु नाम का अर्थ हैं, वे नाम के रूप हैं। नाम या गुरु का भजन-ध्यान शिष्य को जीव में ठहरा देता है, जीव की, अपनी निजता की पहचान करा देता है। साधु या सन्त-सद्गुरु मुक्त जीव के स्वरूप होते हैं। वे ही हमारे शुद्ध, वुद्ध और मुक्त जीव के देहधारी रूप हैं, जिनकी उपासना से हम भी वैसे ही शुद्ध, वुद्ध और मुक्त हो जाते हैं।

मठ गड़वाघाट आश्रम के सन्तप्रवर परमहंस आत्मविवेकानन्दजी महाराज कहते हैं कि 'सत नाम साधू का है।' इस प्रकार साधु या सद्गुरु का संग ही सब प्रकार के उत्तम गुणों को शिष्य में भर देनेवाली अमूल्य वस्तु है।

ऐसे सत्संगमय जीवन का आनन्द वेदों में नहीं प्राप्त हो सकेगा। वेदरूपी पेड़ों को क्यों व्यर्थ गिन रहे हो, तुम्हें तो पका हुआ आम का फल चाहिए ? सद्गुरु की शरण जाकर उपासना का रहस्य जान लो, उनसे नाम प्राप्त कर लो, फिर चाहो तो आठों पहर रस लूटते रहो –

सतगुरु पूरा जो मिलै गुण रंग लहो।
लगन लगै सियराम से जग मंगल हो ॥
ब्रह्मज्ञान हूँ फूल सों गुण रंग लहो।
फल सनेह जो नाम से जग मंगल हो ॥
साधु हमारा जीव है गुण रंग लहो।
काम नहीं धन धाम से जग मंगल हो ॥
जीवन है सतसंग से गुण रंग लहो।
सो न बनिहि ऋक साम से जग मंगल हो ॥
जो न भयो जन राम को गुण रंग लहो।
कुछ न बनो नर चाम से जग मंगल हो ॥
का श्रुति पेड़न को गनो गुण रंग लहो।
काम तुमहि है आम से जग मंगल हो ॥

सिर पर सीताराम जो गुण रंग लहो।
डर न बिधाता बाम से जग मंगल हो ॥
आठो याम रस लूटिये गुण रंग लहो।
देवरूप घनश्याम से जगमंगल हो ॥

— वही, पृ० १४

हमने कभी सीतापति का गुणगान नहीं किया। धनवानों को सुख भोगते देख-देखकर उन्हीं जैसा बनने के मिथ्या प्रयत्न करते-करते, दीन होकर उन्हीं के आगे-पीछे घूमते-फिरते, खेलते-खाते, हँसते-बोलते पूरा जीवन बीत गया, बुढ़ापा आ गया। यह निश्चय है कि अब हमें भी मरना ही है, यह हम जानते हैं, फिर भी हमारा पागलपन नहीं मिटता। श्री सद्गुरुदेव की दया और सत्संग की सहायता के बिना करोड़ों उपाय कर लेने पर भी ईश्वर के चरणों में प्रेम भला कैसे उत्पन्न हो सकता है ? —

कबहुँ न सियवर के गुण गाये।
झूटी आशा में फँसि फँसि कै बिरथा जनम गँवाये ॥
धनवन्तन को देखि लोभवश निज स्वरूप बिसराये।
कूकुर सों टुकरा के कारण पुनि पुनि पूँछ हिलाये ॥
खेलत खात हँसत औ बोलत चौथेपन नियराये।
बीसों विस्वा मरण होइगो जानिहु के बौराये ॥
श्री गुरुदया संग संतन को इनके बिना सहाये।
देवचरण रति कैसे उपजै साधेहुँ कोटि उपाये ॥

— वही, पृ० २६

यह संसार पापरूपी अगम-अथाह जल से भरी भयानक नदी है। 'मैं' 'मेरा' यही इसके तट हैं। दुष्टों का साथ इस पापनदी की भँवर हैं जिससे धुलकर यह चित्तरूपी चादर और मैली हो जाती है। जीव को दुर्बुद्धि वहाँ ले जाकर डुबाती है जहाँ तीखी धार है। काम-क्रोध-लोभ आदि इसके भयानक जलजन्तु हैं। यह हमारे संचित कर्मों के पहाड़ से निकली है। निकलते ही इसने मन का ढालुआँ मैदान पा लिया और दुर्गति के समुद्र से जाकर मिल गई। जीवरूपी मछलियों को फँसाने के लिये काल महामोह की कँटिया में रूप-रस आदि विषयों का आहार फँसाए

बैठा है। अब जीव के बचने का एक ही उपाय है। यदि सद्गुरुरूपी मल्लाह मिल जायँ और उनसे प्राप्त नाम का आश्रय लेकर जीव भक्तिरूपी नाव पर बैठ जाय तो सद्गुरुदेव उसे अवश्य पार कर देंगे —

बाढ़लि पापिनि नदिया हो मैं मोर करार।
अगम पापजल पूरण सूझै वार न पार ॥
चादरि भँवर कचरिया हो खल संग खुआर।
बरबस धरि धरि बोरै दुरमति जहँ खर धार ॥
तामें जन्तु भयावन कामादिक परिवार।
पावन बिरवन करकै मूल उखार पखार ॥
संचित गिरि से निसरी पायेसि मन कै ढार।
दुरगति सागर से मिली दुख ही जहँ सार ॥
ढाबर नीर भयंकर लागत बड़ खार।
तहँ सब जीव मछरिया सुख से करत बिहार ॥
महामोह कै कँटिया तामैं विषय अहार।
काल बुझावत मारत नित यह रोजगार ॥
चादरि भइ मटमैली कबहुँ न भयल पखार।
रामरंग कस लागै निरमल जन शृंगार ॥
चढ़इ जो भक्ति नवरिया केवल नाम अधार।
सतगुरुदेव मलहवा तौ करइ उधार ॥

— वही, पृ० ३६

हे राम! बहुत खोजा, पर पूर्ण सद्गुरुदेव नहीं मिल रहे हैं, अब मैं क्या करूँ! साधुवेषधारी जितने लोग मिले, सब धन ठगनेवाले ही निकले, वहाँ मन की शान्ति कहाँ। बोलने के लिये दो-चार अच्छी-अच्छी बातें सीख लीं, गप्पें हाँकने लगे और संसार में प्रसिद्ध हो गए। करनी-करतूत कुछ नहीं दिखाई देती, केवल जीभ के गुलाम हैं। भला इनसे परमार्थ किसी का क्या बनेगा जिनके भीतर सदा काम का ही नंगा नाच होता रहता है। मैं तो आठों पहर यही सोचता रहता हूँ कि विशुद्ध सन्त-सद्गुरु का मिल जाना देवताओं के लिये भी दुर्लभ है —

गुरु नहिं मिलत करौं का राम।
धन ही के ठग जित तित पाये रहत न मन को थाम ॥

कान फूँकि ऊँचे चढ़ि बैठे साजेनि मंदिर धाम।
निसिवासर सोइ जतन बिचारत जातें बटुरै दाम॥
सीखि साखि दुइ चारि गपोड़े जग में भे सरनाम।
कछु करनी करतूति न देखी केवल जीभ गुलाम॥
इनसे का परमारथ बनिहै जिनमें झमकत काम।
दुर्लभ देवहु के गुरु अस मैं सोचौं आठों याम॥

— वही, पृ० ४४

हे भाई, चख-चखकर, स्वाद ले-लेकर अपने नेत्ररूपी प्यालों से भर-भरकर श्री रामरूपी अमृत का पान करो और राम के चरितरूपी समुद्र में अपना रोम-रोम भिंगो डालो। संसार में दूसरों से राग-द्वेष बढ़ाकर क्यों अपनी हानि कर रहे हो, दूसरों का थोड़ा सा भी दुःख देखकर तुम्हें स्वयं पसीज जाना चाहिए, इससे अनायास वैरभाव समाप्त हो जायगा। वेदमन्त्रों को तोड़-मरोड़कर खींच-तान करके वेदों को मत गींज डालो, ऐसा अर्थ करो कि वेदों का सहज-स्वाभाविक, नैसर्गिक अर्थ नष्ट न होने पावे, उसका रस बना रहे। किन्तु इस प्रकार का बुद्धि-बिचार प्राप्त करने के लिये बहुत समय तक सन्तों के दोनों चरण दबाते रहो, उनकी सेवा करते रहो और उनकी कृपा से दिव्यदृष्टि पाकर युगो-युगों तक जीवित रहे आओ अर्थात् मृत्यु पर विजय प्राप्त कर लो ! दूसरे किसी भी मनमुखी उपाय से शुद्ध बुद्धि-विचार प्राप्त नहीं हो सकता —

चीखि चीखि चसकन से रामसुधा पीजिए।
रामचरित सागर में रोम रोम भींजिये॥
राग द्वेष जग बढ़ाइ काहे को छीजिये।
पर दुख कन देखत ही आप सों पसीजिये॥
तोरि तारि खैंचि खाँचि श्रुति को नहिं गींजिये।
जामें रस बनो रहै वही अर्थ कीजिये॥
बहुत काल सन्तन के दोऊ चरण मींजिये।
देवदृष्टि पाइ बिमल युग युग लौं जीजिये॥

— वही, पृ० ५६

श्रवण-मनन और निदिध्यासन में श्रवण ही प्रधान है। भक्तिभाव, सेवाभाव आदि सभी भाव श्रवण के वाद ही मन में उत्पन्न होते हैं अतः श्रवण ही सभी भावों

की जड़ है। विना सुने कोई कैसे कुछ जानेगा और जो जानेगा नहीं वह क्या करेगा ? यद्यपि देखने से भी मनुष्य कुछ जान लेता है पर उसमें भी वह संशय में पड़ जाता है। फिर उस संशय को कहे-सुने बिना कैसे दूर किया जा सकता है ? सुनने के वाद ही चित्त में रुचिरूपी अंकुर उत्पन्न होता है और उसमें क्रम से डालियाँ आदि निकलती हैं। इसके बाद सत्संगमय जीवन से श्रवणांकुर को सींचने पर उसमें भक्ति के फल लगते हैं। वेद भी श्रवण को ही प्राथमिकता देता है और लोक में भी यही प्रचलित है अतः सबसे पहले सद्गुरु के मुख से दिव्य मन्त्र (परानाम) का श्रवण करो, तभी भवसागर पार कर सकोगे –

श्रवणै सव भावन की जरि है।
विना सुने कैसे कछु जनिहै विनु जाने नर का करिहै ॥
यद्यपि देखेहु से नर जानत तदपि वहाँ संशय परिहै।
कहे सुने विन वा संशय को कहहु न कैसे को हरिहै ॥
श्रवणहिं से रुचि अंकुर उपजत डार आदि क्रम से भरिहै।
सतसंगति जीवन सिंचन से सुंदर भक्तिलता फरिहै ॥
श्रुतिउ कहत पहिले श्रवणहिं को लोकहु में यह मत ढरिहै।
प्रथम सुनिहि गुरुदेव मंत्र जन तब भवसागर को तरिहै ॥

– वही, पृ० ७३

महायोगियों के अन्तःकरण में रमनेवाले राम यदि हृदय में नहीं बसे तो तपस्या से शरीर को कसने, कष्ट देने से क्या लाभ ? कोई तो केवल मुँह से 'अहं व्रह्मास्मि' 'सोऽहं' आदि वकते हुए ज्ञानमार्ग में धँसे हुए हैं। इस थोथे ज्ञान-ध्यान से कुछ हाथ नहीं लगा, और ये करम-धरम तो सब नष्ट ही करनेवाले हैं। कुछ लोग तो ऊपर से वड़ा भव्य वेष वनाए बैठे हैं किन्तु भीतर से विषयों के फन्दे में फँसे पड़े हैं। ऐसे लोगों से हमें कुछ नहीं कहना-सुनना, क्योंकि ये तो कालसर्प के डसे हुए हैं। योग, ज्ञान, जप, तप, व्रत, संयम, ये सव रामनाम में समाए हुए हैं। सद्गुरु से रामनाम लेकर अभ्यास करने से उस रामनाम का ऐसा प्रभाव चारों ओर फैलेगा जैसे चन्दन को घिसने से उसकी सुगन्ध चारों ओर फैल जाती है। हमारे तो इष्टदेव एकमात्र सन्त ही हैं, हम उन्हीं के चरणों में समाए हुए हैं। हमारी तो गति-मति, हमारा प्रेम, सब कुछ सन्त के चरणों में ही है। वे लोग वावले हैं जो हमें देखकर हँसते हैं –

भया क्या तौ तप से तन कसे जो न राम हिय बसे ॥
कोई केवल बक बक के बल ज्ञान पंथ में धँसे।
ज्ञान ध्यान कछु हाथ न आया धरम करम तौ नसे ॥
कोई आछो वेष बनाये विषय फन्द में फँसे।
इनसे कुछ नहिं कहना सुनना काल सरप के डसे ॥
योग ज्ञान जप तप व्रत संयम राम नाम में टसे।
राम नाम ही महकि उठैगो हरिचन्दन से घसे ॥
सन्त हमारे इष्टदेव हैं हम उनके पद खँसे।
उनहीं में रति मति गति मेरी लोग बावरे हँसे ॥

— वही, पृ० ८८

जीवन वीत गया, कभी भी सुखपूर्वक सोने को नहीं मिला। धन कमाने के लिये धन्धे के चक्कर में पड़े-पड़े माणिक्य सा मूल्यवान् मानव-शरीर व्यर्थ खो दिया, संसार के सब रिश्ते-नाते स्वार्थ के कारण ही जुड़े हुए हैं, एक का दूसरे से कोई स्वार्थ न हो तो हम इनके कौन, और ये हमारे कौन ? बिना गरज के कौन किसको पूछता है ? हमने बहुत अच्छी तरह से टटोलकर देख लिया है। एक-एक कौड़ी के लिये द्वार-द्वार भटककर हम नीचों का मुँह जोहते रहे। इस प्रकार हर जन्म में अपने कर्मरूपी घास का गट्ठर हम अपने सिर पर ढोते रहे। दर्शन मात्र से पापों का नाश करनेवाला सन्त-समागम गंगा जैसा पवित्र है, वहाँ पर मल-मलकर हमने अपने पापों को नहीं धोया। नतीजा यह है कि अपने राम,प्रत्यक्ष वर्तमान सद्गुरुदेव के चरणों में प्रेम के बिना अन्त समय में माथे पर हाथ धरे रो रहे हैं —

कबहुँ न अपने सुख से सोये।
धन धन्धा के घेरघार में माणिक से तन खोये ॥
नाते आइ लगे स्वारथवश नाहिं त को हम को ये।
बिना गरज को काको पूछत भली भाँति टकटोये ॥
कौड़ी कारण द्वार-द्वार फिरि नीचन के मुख जोये।
जनम जनम निज करम घास के बोझे सिर पर ढोये ॥
देवसरित सों सन्त-समागम तहाँ न मल मल धोये।
रामलगन बिनु अन्त समय में माथ हाथ धरि रोये ॥

— वही, पृ० ८९

अपने इष्टदेव की धरती की धूल कब मेरे अंगों में लगेगी ! कब ऐसा होगा कि सन्तों की महिमा सुन-सुनकर मेरा मन प्रेमरस से भर जायगा। कब अपने सद्गुरुदेव की शरण ग्रहण करने के बाद उनके प्रभाव से मोह का दल अपनी सेना सहित तितर-वितर होकर भाग जायगा और परमात्मा के, सद्गुरुदेव के शुद्ध चैतन्य स्वरूप को झलकानेवाला शुद्ध ज्ञान मेरी बुद्धि में कब जागेगा –

प्रभुपद अंकित अवधपुरी को रज कब अंगनि लागैगो।
संतन की महिमा सुनि सुनि के कब मेरो मन पागैगो॥
गुरुदेव शरण से सैन सहित कब बिखरि मोहदल भागैगो।
रामरूप झलकावन मति में शुद्ध ज्ञान कब जागैगो॥

– वही, पृ० ६४

कब ऐसा होगा कि मैं अपने राम, अपने सद्गुरुदेव की सेवा-टहल में रहने लगा रहूँगा। अपने हाथ से बनाई हुई टूटी-फूटी पुरानी झोपड़ी में कब बैठूँगा ? अपने हाथ से बनाई गई झोपड़ी टूटी-फूटी ही सही, उसमें रहने का अलग आनन्द है। अपनी झोपड़ी के बाहर-भीतर, जहाँ-कहीं जैसे भी चाहें, बैठ सकते हैं, लेटे रह सकते हैं। कोई रोकने-टोकनेवाला नहीं। वहाँ चारों खूँट अपनी ही प्रभुता है, अपना ही अनुशासन है, अपनी ही मर्जी है। महाभारत के जलचर यक्ष ने धर्मराज युधिष्ठिर से प्रश्न किया था कि 'वास्तव में संसार में सुखी कौन है ?' उत्तर देते हुए युधिष्ठिर ने कहा था –

दिवसस्याष्टमे भागे शाकं पचति स्वगृहे।
अनृणी चाप्रवासी च स वारिचर मोदते॥

– हे जल-विहारी यक्ष ! दिन ढल जाने पर अपने घर में जीवन-धारण के लिये केवल पत्तों का शाक पकाकर खाकर सो रहनेवाला वह आदमी सर्वथा सुखी है जो न तो किसी का कर्जदार हो, न परदेस में हो।

सुख-दुःख की परिभाषा विद्वानों ने भी की है – वह सब कुछ दुःख है जो पराधीन हो तथा जो अपने अधीन हो वह सब कुछ सुख है –

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।

तात्पर्य यह है कि गरीबी के साथ अपनी टूटी-फूटी झोपड़ी में सन्तोष करके बैठने से जो सुख मिलता है वह राजभवन में बैठने से नहीं मिल सकता। इसलिये धन

की अधिकता की चहल-पहल, चमक-दमक जिसे अच्छी लगे वह उसमें पड़ा रहे, मैं तो यमराज के कहर से दहलकर पल-पल सूखा जा रहा हूँ। कोई हाथी पर चढ़े, कोई शक्तिशाली बँधेल घोड़े पर बैठे,चाहे कोई टमटम-वग्घी पर सवार हो, यह कोई बड़ी बात नहीं है, पूर्वजन्म के कर्मों के अनुसार एक जीव दूसरे जीव का भोग कर रहा है, इतनी सी बात मैं कब सरलता से जानने लगूँगा। शुकदेवजी ने राजा को श्रीमद्भागवत-कथा-प्रसंग में इसी बात का तो ज्ञान कराया है। यह ज्ञान मुझसें कब जागेगा, मुझमें अपने राम से मिलने की लगन कब लगेगी, मैं कब अपने सद्गुरुदेव की आज्ञा का वशवर्ती होकर रहने लगूँगा –

कब लागौंगो राम टहल में ॥
टूटी पुरानी झोपड़ी रचिकै बैठौंगो अपने अहल में।
जो सुख सड़ी गली झोपड़ि में सो नहिं राजमहल मे ॥
जाको रुचै सो रहो सुखी से धन की चहल पहल में।
मैं तो दमदम जात झुरानो कहरी यम की दहल में ॥
हाथी चढ़ौ कोइ घोड़ा चढ़ौ कोइ बैठो घोड़ बहल में।
जीव जीव को भोगत कब मैं जानौंगो एता सहल में ॥
यही राह शुकदेव जनाई कथा प्रसंग पहल में।
रामलगन कब लगिहै कब मैं रहिहौं गुरु के कहल में ॥

– वही, पृ० ६४

काष्ठजिह्व स्वामी कहते हैं कि सद्गुरु ही मेरे माई-बाप हैं, वे ही मेरे भगवान् हैं। वे सांसारिक पिता से बढ़कर मेरा हित करते हैं तथा माता के समान सदा मेरी रखवाली करते रहते हैं। वे विष्णु के समान अधमों का उद्धार करनेवाले हैं और सदा सर्वत्र अपने सेवक का मान रखते हैं। वेद की अगम्य दुर्बोध बातें वे अत्यन्त सरल रूप में समझा देते हैं। वेद के तत्त्व हाथ में रखे फलों-पत्तों की तरह वे प्रत्यक्ष प्रमाण द्वारा बतला देते हैं। दिन-रात वे अपने समीप वर्तमान जीवों को उत्तमोत्तम गुण ही सिखाते हैं और जो जिज्ञासु अधिकारी यानी सुपात्र समझ में आते हैं, जिनमें समझने की योग्यता देखते हैं, उन्हें उपासना के गुप्त रहस्य का भी उपदेश करते हैं। इसीलिये तो सद्गुरु का नाम यानी उनके द्वारा दिया गया नाम सुमेरु पर्वत से भी अधिक गौरववाला माना गया है, सद्गुरु की सर्वेश्वर रूप में प्रतिष्ठा सभी मतों में मानी गई है। सत्य तो यह है कि सद्गुरु ही सर्वप्रथम, सबसे वड़े,

आदिदेव हैं, सर्वेश्वर हैं। पुराणों का भी कथन है कि स्वयं भगवान् विष्णु ने भी सद्गुरु को पहचाना और उन्हें सबसे बड़ा माना तथा सर्वोपरि महत्त्व एवं सम्मान प्रदान किया है –

गुरु मोर वाप महतारी गुरुहि भगवान ॥
पितु से वड़े हितकारी, मातु सी करत रखवारी।
हरि अस अधम उधारी, नित राखत मान ॥
अगम निगम की वतियाँ, सुगम करत कहि घतियाँ।
कर-गत जस फल पतियाँ परतछ परमान ॥
दिन राति गुणहिं सिखावैं कछु गुप्त भेद बतावैं।
गुरु नाम याही से कहावैं मेरुहु से गरुआन ॥
गुरु सव मत में माने गुरु आदिदेव बखाने।
हरि आप गुरु पहिचाने अस कहत पुरान ॥

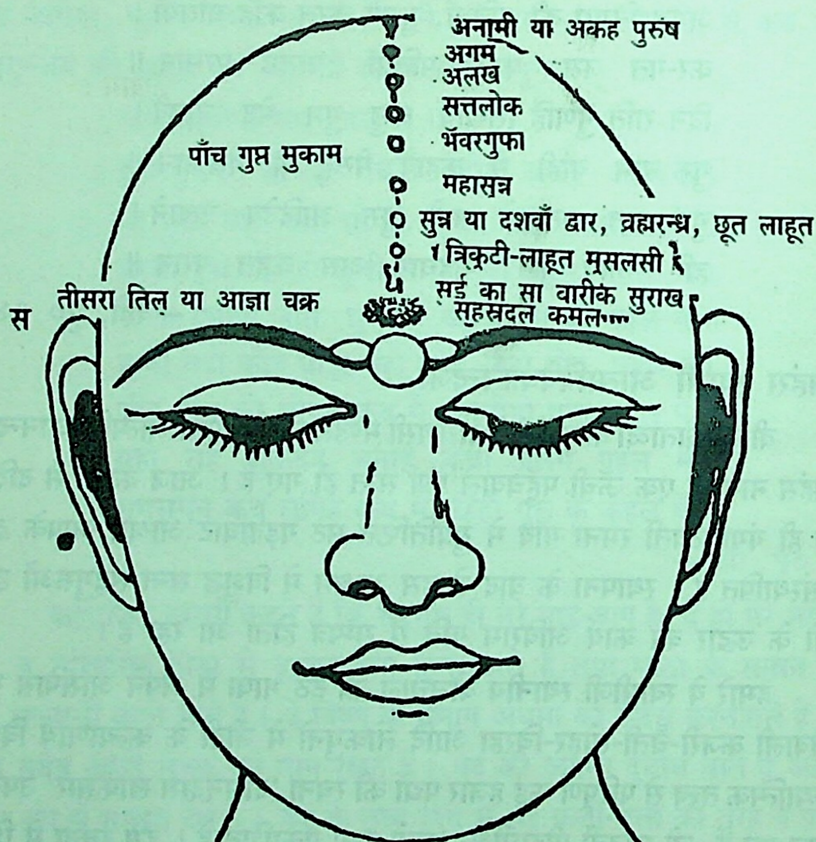
– वही, पृ० १४०

परमहंस स्वामी आत्मविवेकानन्दजी

वीसवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में वाराणसी मण्डल में श्री स्वामी आत्मविवेकानन्दजी परमहंस नाम के एक ऊँची पहुँचवाले पूर्ण सन्त हो गए हैं। आज काशी से दक्षिण पास ही गंगातटवर्ती रमना गाँव में सुप्रतिष्ठित मठ गड़वाघाट आश्रम आपके द्वारा ही संस्थापित है। स्थापना के बाद से इस आश्रम में विशुद्ध सन्त-सद्गुरुओं द्वारा जीवों के उद्धार का कार्य अविराम गति से सम्पन्न होता आ रहा है।

हमारे ये स्वामीजी स्थानीय बोलचाल की ठेठ भाषा में अपने आसपास गाए जानेवाली कजरी-चैती-सोहर-बिरहा आदि लोकधुनों में जीवों के कल्याणार्थ विशुद्ध आध्यात्मिक तत्त्व से परिपूर्ण कई हजार पद्यों की रचना 'दासनदास खाकसार' उपनाम से कर गए हैं, जो परवर्ती पीठाधीश्वर सन्तों द्वारा प्रकाशित हैं। इस रचना में शिष्य और गुरु के प्रश्नोत्तर रूप में कुछ गद्यांश भी सम्मिलित है। सम्पूर्ण रचना सीधी, सरल, समयोचित, व्यावहारिक और स्पष्ट है।

सब सन्तों की तरह आपके भी उपदेश का सार यही है कि परब्रह्म परमात्मा का साक्षात्कार इस मनुष्य-शरीर के भीतर ही होता है। यही मानव-जीवन का परम लक्ष्य है। इसे प्राप्त किए विना जीव जन्म-मरण के चक्र से मुक्त नहीं हो सकता


सुरत की रूहानी मंजिलें
अनामी या अकह पुरुष
अगम
अलख
सत्तलोक
भँवरगुफा
पाँच गुप्त मुकाम
महासुन्न
सुन्न या दशवाँ द्वार, ब्रह्मरन्ध्र, छूत लाहूत
त्रिकुटी-लाहूत मूसलसी है
सुई का सा बारीक सुराख
तीसरा तिल या आज्ञा चक्र
सहस्रदल कमल

तथा तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु की दया अथवा कृपा के बिना यह कार्य अन्य किसी उपाय से सम्भव नहीं है, यह सिद्धान्त अकाट्य है।

इसी सिद्धान्त के कुछ बिन्दुओं पर उनके विशाल उपदेश-भण्डार में से हम उनके अपने अनुभव में डूबे कुछ पवित्र वचन यहाँ सादर उद्धृत करने का प्रयास करेंगे।

पूज्य स्वामीजी कहते हैं कि नाम के बिना कोई काम नहीं हो सकता और सद्गुरु के बिना नाम जाना नहीं जा सकता इसलिए सद्गुरु से मिलकर उनसे नाम प्राप्त कर लेना परम आवश्यक है –

नाम बिना नाहीं होई कमवाँ हो, गुरु बिन नाम न लखाय।
नाम बिना न परम धमवाँ हो, चाहे कोटिन करो उपाय।
श्रुति संत कै कहनवाँ हो, कोटिन करम करो धाय धाय।
दासनदास खाकसरवा हो, नाम धारना के करहु उपाय॥

– दासनदास भजनमाला, भाग १, भजन ५३५

नवों प्रकार की भक्ति सन्तों के पास रहती है। अपने इष्ट सद्गुरुदेव की उन्होंने नवों प्रकार से भक्ति की है, कर रहे हैं तथा उनके उपासक भी उन्हीं से नवधा भक्ति प्राप्त कर सकते हैं। जो उनके स्वरूप को अपने मस्तक के भीतर स्थिर रूप से धारण कर लेगा उसके आनन्द की कोई सीमा नहीं है। यह बात अकाट्य है, यह सन्तों के द्वारा अनुभव किया हुआ सत्य है। अतः हे जीव, सद्गुरु के पास जा, उनके शरणागत हो जा –

नव भक्ती संतन के पासे।
जे संतन संग सेवा करिहैं तिनके परम हुलासे।
कपट छोड़ हृदये में धरिहैं, तिनके परम प्रकासे।
यह मत अचल जान जो कोइं पूरे गुरुवा से।
सतगुरु बिना नाम ना पइहैं, जतन करोड़ तन नासे।
दासनदास खाकसार सरनागत हो गुरु के पासे॥

– वही, १।१३०३

आप कहते हैं कि हे मन, संसार में प्रचलित सभी धर्मों का दूर से ही त्याग कर दो, मेरी बात मानो और सद्गुरु के चरणों से लिपट जाओ, तभी तुम्हें सच्चा सन्तोष प्राप्त होगा –

दासनदास खाकसार मन तू बात को मानो,
सब धरमन को दूर बहाओ,

सतगुरु के चरन लपटे रे दइया
संतोषवा भइलैं ना ॥

— वही १।८

संसार से यानी जन्म-मरण के चक्र से छुटकारा पाने का मात्र एक ही उपाय है परानाम का भजन, जो केवल सद्गुरु से ही प्राप्त हो सकता है। परानाम के भजन से ही इस शरीर के भीतर विराजमान परमात्मा का साक्षात्कार हो जाता है। वह परानाम केवल तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु ही जानते हैं, वह उन्हीं की कृपा से प्राप्त हो सकता है। सद्गुरु को अपना तन-मन-धन सब अर्पण कर देने से जीव के सम्पूर्ण कर्म जल जाते हैं। अब उसके सब भोग भी समाप्त हो जाते हैं अतः वह जन्म-मरण से रहित हो जाता है –

परानाम संतै साधू हैं जानत।
जे साधुन कै सेवा करिहैं तेही नाम पावत।
तन मन धन सब अरपन करि दे, सबै करम जरि जावत।

— वही १।२१४

भव छूटत भजन ही से री।
विना भजन से भव न छूटत कोट करम करो री।
परा नाम जो पकड़ लिया है भव पार करो री।
परा बिना परमेस्वर न मिलिहैं, जनम जनम भटको री।
जेतनी संत भये हैं आगे हैं होंगे परानाम जे जानो री।
दासनदास खाकसार सरनागत संत सही हैं री ॥

— वही, १।२१६

पराभजन जे जानी मुद मंगल कै खानी रे साँवलिया।
ब्राम्हन छत्री बैस सूद्र और जात अनजानी रे साँवलिया।
सतगुरु बिना कोई न जानी चाहे कोटि किताब पढ़ो आनी रे साँवलिया।
दासनदास खाकसार सरनागत मन में करो गलानी रे साँवलिया ॥

— वही, ३।१४३

सद्गुरु ही सगुण साकार ब्रह्म हैं, वही राम हैं, वही ब्रह्मा हैं, विष्णु हैं, सदाशिव हैं, तत्त्व हैं, शब्द हैं। सद्गुरु ही विप्र हैं, ब्राह्मण हैं, द्विज हैं –

पच्छपात कुछ नहीं है, जथारथ बात कही, महीसुर सन्तै हैं।

— वही १।३०५

हरे मेरे मन यह सब बतिया लेहु विचारी।
लिखा है सब बानी में सन्त के अनभौचारी, नाम के महिमा भारी।
नाम गुरु है, शब्द गुरु है, तत्व गुरु है, तत्वमसि गुरु है, करो विचारी।
सद्गुरु हैं सरगुन ब्रह्म, गुरु हैं सनातन ब्रह्म, गुरु हैं हरी।
गुरु है रघुपति, गुरु हैं रामचन्द्र, गुरु हैं महीसुर, गुरु हैं ब्राम्हन री।
गुरु हैं द्विज, गुरु हैं विप्र, गुरु हैं सन्त,
गुरु हैं करतार, गुरु हैं सर्व सिरजनहारी।
दासनदास खाकसार सरनागत गुरु के अंदर बाहर दोनों होवै नाम री॥

— वही १।१४०४

सदाशिव सन्तै कहावत जग में।
बिद्या अविद्या पार भये जे तेही सन्त कहावत जग में।

— वही १।१३६६

सर्गुण ब्रह्म सतगुरु कहावत निश्चय उर में धार।

— वही २।६१३

संसार में धर्म एक ही है — सन्त-सद्गुरु की सेवा, उनका ध्यान और उन्हीं की मानस पूजा। प्रभु सन्त के साथ ही रहते हैं। सन्त अपने सेवक के हृदय में भी उन्हें प्रकट कर देते हैं —

धरम हौ एकै तेहि के केहू न करी बहुमत पकरी।
सतगुरु सेवा ध्यान मानस में पूजा बहुत विधि करी।
बहुमत में सब मत पंथ है हिन्दू जवन ईसाई झगरी।
मतपंथ अहंकार कै जड़ है, जहाँ 'मैं' तहाँ प्रभु कैसे रहै री।
बहुत बात कै एक कहत हौं, प्रभु संत संग रहत प्रगट करी।
दासनदास खाकसार सरणागत संत के, जे प्रभु प्रगट करी॥

— वही, ४।१०२३

हे मोरे भाई, सन्त चरन गहो जाई।
जे संत हरी पद के पाये, लोभ मोह कोह कामना नसाई।
तेही चरन रज नयन ध्यान लगाओ, दिव्य दृष्टि खुल जाई।
सरगुन निरगुन देखो घट भीतर, देह तपावै कै काम ना भाई।
जे जे भये ते ऐसै हो गये, ये ही नाम सब संत चिल्लाई।

तीन-चार अक्षर के जे बतावै, वोही मंत्र पंथ कहाई।
दासनदास खाकसार सरनागत नाम के सब सुख पाई॥

— वही, ४।१०२४

लोग नाना प्रकार के यज्ञ-दान-व्रत-जप-तप, मन्दिर-मस्जिद की पूजा आदि कर्मकाण्ड में फँसे रहते हैं और समझते हैं हम भवसागर पार हो गए। ये सव कार्य पेट भरने के उपाय हैं। उनके फलस्वरूप मरने पर पुनः जन्म लेना, शरीर धारण करना पड़ेगा। एक मात्र सद्गुरु की सेवा से ही भले-बुरे सव कर्म नष्ट होते हैं, फलतः फिर जन्म नहीं लेना पड़ता —

सव जग करै पेट के करवा, कहै हो गये हम परवा।
तप तीरथ ब्रंत देह कै साधन, दान जग्य पोखरवा।
बिद्यादान दवादान पृथ्वीदान धातू सव रतनवाँ।
यह सब दान तन पावै के लिये आपन पेट भरवा।
सतगुरु सेवा करम नासत है भला बुरा जेतनी करवा।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के, हो गये परवा॥

— वही ४।१०६०

नाम की महिमा से ही यह दुनिया ठहरी हुई है। नाम अर्थात् शव्दब्रह्म के मूर्त रूप सन्त-सद्गुरु न होते तो यह धरती रसातल को चली गई होती —

जग में भेड़ी राह देखाई, निरगुन सरगुन भेद न पाई।
केहू पत्थर के सरगुन, केहू ईंट पर माथा पटकाई,
केहू घर में बाँग पुकारै रोवै रोवाई।
बेद पुरान वायबिल का कहता, जिनको सन्त अपने हाथ वनाई,
सन्त मिलैं तबै मतलव देहिं देखाई।
बिना सन्त के अर्थ न पैहौ, कोट जनम पढ़ो गावो ढोल वजाई,
जरा मरन न जाई, सत कहौं मोरे भाई।
पक्षपात तनिक न कहता, सबकी एक राह है भाई,
वात अलग अलग समझाई, सन्त सब एक है राह देखाई।
दासनदास खाकसार सरनागत नाम के,
जिनसे दुनिया ठहराई, नाहीं रसातल जाई,
वोही सन्त समझाई॥

— वही, २।५६५

शरीर से संसार के सब कार्य करते हुए हम मन से सद्गुरु से प्राप्त नाम का स्मरण करते रहें तो हमें संसार का सुख भी मिलेगा और परलोक भी सुधरेगा, किन्तु सद्गुरु की ओर से मन हटाकर कितना भी जप-तप करें, स्वाध्याय करते रहें, कुछ भी हाथ नहीं लगेगा –

जग के करो सब करवा, रहो नाम के अधरवां।
इहाँ उहाँ दोनों सुख मिलिहैं, नाहीं तो भव परवा।
इसमें संसै जनि कछु मानो, स्रुति संत कहत पुकरवा।
नाम के अधार केतने पापी तरे, संत सब कहत पुकरवा।
यह कलिकाल कठिन हौ सही, लेकिन नाम से निस्तरवा।
दासनदास खाकसार सरनागत नाम के, येही से भव तरवा॥

– वही, ३।८४७

कली में नाम से सब करवा।
और करम तू केतनो कर ले, फोटक हउए फरवा।
जप तप संजम नेम करु सब, नाम बिना नाहीं निस्तरवा।
बेद पुरान किताब सबै पढ़ि डालो, बिना नाम संसै रही अपरवा।
पढ़त लिखत सबही जग हारे, मोह बढ़ल अपरवा।
दासनदास खाकसार सरनागत, पढ़लस नाहीं एको अक्षरवा॥

– वही, ३।८४८

सन्त-सद्गुरु का उपदेश ही सत्य है। इनका कहना न मानने से दुःख ही दुःख तथा कहना मानने से तुरन्त सुख प्राप्त होता है। यह मेरा कथन सर्वथा सत्य है, करके देख लो –

सन्त के बतिया साँची।
जो इनकर कहा न करोगे, दुख भोगोगे साँची।
कमात कमात मर जइहौ, पेट न भरी, चौरासी नाची।
एक सन्त मानकर करो, इहाँ उहाँ सुख भोगोगे साँची।
इसमें तनिक झूठ न मानो, करिके देखो तुरत फल नाची।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के,
जिनकी महिमा जुग जुग साँची॥

– वही, १।१०१

योग के विहंगम मार्ग की सरल, सरस तथा तुरन्त फल देनेवाली साधना का रहस्य सन्त-सद्गुरु से ही प्राप्त हो सकता है –

कलजुग में तो अन्न में प्रान, मन चींटी सम बलबनवाँ।
सहजै में पकड़ा जायगा, कलजुग जमनवाँ।
सतगुरु पावै बिहंग मारग लखावै,
सहज में जीव जाय अपने मोकमवाँ ॥

— १।१०८८

सद्गुरु की आज्ञा पर यदि दृढ़ रहो तो तुम्हें राम मिल जायेंगे, इसमें सन्देह मत करो —

अरे मन, तू संगत करै कैसेहू।
गुरु आज्ञा पर दृढ़ रहकर भजन करो कैसेहू।
एक दिन तोहीं राम मिलिहैं, संसै करो जिन केहू ॥

— वही १।१२८७

कोई भी स्त्री हो या पुरुष, शरीर के भीतर अगमपुर की बहार देखना चाहो तो सद्गुरु का नाम, उनके चरण हृदय में धारण करो, फिर तुम्हारे लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जायगा —

जे अगमपुर देखा चाहौ औरत मरद वुढ़वार।
सतगुरु चरन को धारन करो रे, देखहु रंग अपार।
दासनदास खाकसार नाम धरु हिय में,
मिल जैहैं करतार ॥

— वही, १।१३

चल देखि आईं गंगा कै वहार ललना,
मिली जमुना सरस्वती की धार ललना।
रंग रंग के कमल दल हैं लहरत,
आठ दल कमल चमत्कार ललना,
हंस चढ़े सरकार ललना।
तिरबेनी तिरलोक बिराजत,
चाँद सूरज चमत्कार ललना।
तारागण अपार ललना।
अमित प्रभाव त्रिवेणी निरखत,
कोटि जनम अघ होई छार ललना,
सुख होई अपार ललना।

दासनदास खाकसार सरन गहु गुरु की,
कछु दुर्लभ नाहीं संसार ललना ॥

— वही १।२०

अगमपुर नगरिया खबरिया कैसे मिली पूर।
सतसंगत सतगुरु चरन रज अंजन सूझै नूर।
तबै डगरिया देखाई भरपूर, कोई जाई सूर।
दासनदास खाकसार, अंजन लाओ अँखिया पूर ॥

— वही १।५१६

कासी प्रयाग अजोध्या मथुरा संत देहियाँ होई।
त्रिदेव सक्ती समेत गणेश दुर्गा अवर देव परमात्मा सोई।
त्रिवेनी त्रिलोक बिराजे, मध्य शिखर हौ निरंजन सोई।
सतगुरु बिना संगै हउए, लख न परै कोई, साथै होई।
दासनदास खाकसार सरनागत, सतगुरु कै कृपा होई ॥

— वही, १।६७५

मानुष तन में सब ब्रम्हण्डवा।
जोई पिंड में सोई ब्रम्हाण्ड में, सतगुरु लखावै देसवा।
सुमेरु दण्ड में सिखर अनेकन तापर रहैं देवतवा।
गंगा जमुना सरस्वती त्रिवेनी संगम, जहाँ फूले सहसदल कमलवा।
उहाँ सव दिन धुन सुनै, जहाँ निर्मल होत है चितवा।
दासनदास खाकसार सरनागत, सतगुरु सरन बिन सब फिकवा ॥

— वही, १।७२६

तीनों गुण के भीतर बतिया सो कहत बेदवा।
इसके बाद कै जो देसवा, ताके लखावैं सब संतवा।
भूः भुवः स्वः महः जनः तपः सत यह सब हैं लोकवा।
बिना सन्त गुरु के कौन जानै, नाम परा लखावै केसवा।
सोई मानुष तन कै हाल पाई, जिनके सतगुरु सिसवा।
दासनदास खाकसार सरनागत, नाम कै सरन कितवा ॥

— वही, १।७३०

तीसर ब्रह्म कै हौ देसवा।
अलख अनामी अकह कहावत, अदभुत तमसवा।
बिना गये जीव कै छुटकारा नाहीं, जनमै के परी देसवा।
सतगुरु मिलै वोहाँ पहुँचावे, जेकर हौ वह देसवा।
यह भेद कोई जानी सन्त, वोही महीसुर देसवा।
दासनदास खाकसार सरनागत, जे पहुँचे वोही देसवा॥

— वही, १।७३१

चला चलीं सतनाम सतद्वारे सतगुरु दीहैं लखाई ना।
पिंड छोड़ ब्रम्हाण्ड के अंदर नाम लखाई दिये, भ्रम छोड़ाय,
मन जिताय, पाप छोड़ाय, हृदये में ईस्वर झलकाई,
जोगी परमारथ पाई, भये सुखदाई ना।
गंगा जमना सरस्वती क धारा, तामें सहसदल कमल चमत्कारा,
अनेक चाँद सुरुज चमके तारा, जहाँ अमृत धारा,
जे देखै सोई सुख जानै सुख अपारा ना।
घंटा संख बाँसुरी बीन ताल मृदंग नगाड़ा
बादल गरज चिड़िया झींगुर झनकारा,
बाग बगीचा सारा, बिजली सा चमत्कारा,
ऐसा अमगपुर कै बजारा, जे देखै फिर न जाय चौरासी की धारा ना।
दासनदास खाकमारा, मन करो बिचारा,
मानुस तन नहीं बारम्बारा, देवन से दुर्लभ पाय के नाहीं सुधारा,
ब्यरथ सर्वकारा ना, सतगुरु चरन रज पाओ, हृदय नयन उर धारा ना॥

— वही ३।१४८

बंसिया बाजत कौनी ओर, सुनि सुनि तड़फड़ात बाय ज़ियरा मोर।
अनहद धुनि हरदम है बाजत, अगमपुर घनघोर, ताल मृदंग कै सोर।
नाम ध्यान जेके होय निरन्तर, तेही सुनै निसि दिन साँझ भोर।
मर के जीवै तेही अमृत पीवै, चढ़ै अगमपुर. बढ़े जोर सोई सूर।
नाम रटन सन्तन कै दरसन, बिनै करत रहै कर जोर, हीय प्रगट सरकार।
दासनदास खाकसार सरनागत हौ नाम के दुख हरै कई करोर।

— वही, ३।५२६

नाम वसन्त खेलो रे मन गोइयाँ, फिर न आवै के होय येही ठैयाँ।
जे जे खेला केहु न आया, जस फूल फूले दसो दिसि ठैयाँ ठैयाँ।
खरचा कछू न मेहनत तनिको, ध्यान धरै के सतगुरु से पूछो उपैया।
दाँत हिलै न जीभ डोलावै, ख्यालै अगमपुर जावै फूले फूल सब ठैयाँ।
यह वसन्त कायागढ़ नगरी खेलैं सन्त, वोही महीसुर येही ठैयाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त के जस छैयाँ ॥

— वही, ४ । ७४

नाथ के हाथ बिकानी लोग कहैं बौरानी हो रामा।
लोकलाज कुल मरजाद तजि सतगुरु सरनागत भये,
तवै प्रभू पहिचाना हो रामा।
लाज सब गई, काज बना मेरा,
राजा मोरा करत प्यरवा हो रामा।
लोक अगमपुर फूलों की सेजरिया,
तेहि पर सैयाँ मोरा करै खेलवरिया हो रामा।
सन्त भये जोगभक्ती पाये, नाम वोही दो आखर कहाये,
साधुन कै ये ही मतवरिया हो रामा।
दासनदास खाकसार सरनागत नाम के,
सतगुरु के वलिहरिया हो समा ॥

— वही, ४ । १००

अगमपुर कै राह कठिन है जो पहुँचै सोई शूरा है।
सतगुरु संग जे धरै मुसाफिर, सुनै सो अनहद तूरा है।
सात लोक सतसंग न दौड़े, पहुँचै अकह में पूरा है।
कोई-कोई पहुँचै सन्त मोसाफिर, सोई सतगुरु पूरा है।
विन पहुँचे उपदेस न करना, पाप लदी भरपूरा है।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के,
जस छाये जग पूरा है ॥

— वही, ४ । १३०

नाम धरो हरी नाम गहो राम नाम कहो मेरे मनवाँ रे।
नाम विना कोइ काम न अइहै,

करम करो निसिदिनवाँ मेरे मनवाँ रे।
नाम ही से सब काम बनिहैं, स्वारथ परमारथ सब सँगवाँ रे,
नव इन्द्री बस होइहैं, बस होव तू सँगवाँ,
सतगुरु कै करो कमवाँ मेरे मनवाँ रे।
जनम जनम कै मैल बैठल हौ, चालीस सेर से भइल मनवाँ,
सदग्रंथ में चढ़ि गयल तबै खराद होई,
खसखस होवै तबै मन वजनवाँ मनवाँ रे।
झलझल झलकी जनवाँ, बिषय कै नाहीं कमवाँ,
तबै मिली नमवाँ, सहज समाधी निसदिनवाँ,
संकल्प विकल्प कै नाहीं कमवाँ मोरे मनवां रे।
सतलोक सुषुम्ना के द्वार घुसकर देखाई नमवाँ,
तहाँ हौ पंच अस्थान पंच करनी ताकर नमवाँ,
वोहाँ से अलख अनामी अकह हौ अस्थनवाँ मेरे मनवाँ रे।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु कै नमवाँ रे,
बन जाई सब कमवाँ रे, जहाँ देखाई नमवाँ रे,
बिरला संत समुझी, सहज समाधी येही जनमवाँ मेरे मनवाँ रे॥

— वही, ४।१२७८

सतगुरु ध्यान सहसदल जे पावा।
तिनकर महिमा कहत कवि जन हारे, तें संत पदवी पावा।
वोही नाम कहि सबहिं पुकारत, नाम कोई कोई पावा।
आखर दो सब कहत हैं, आखर मतलब कोई कोई पावा।
ध्याता ध्यान ध्येय जे पावै नाम तबै ते पावत, तत्व तत्वमसि आवा।
एही बेद पुरान संत सब गावा, कोई समझ न आवा।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के, जे दिया लखावा॥

— वही, ४।१६१०

जिनका मन सद्गुरुदेव के चरणनखों में बसा रहता है वे फिर इस चौरासी में नहीं आते —

तोरी साँवगी सुरतिया मन भावै ललना।
जिनकी सुरत लगी है तोरे नखनवाँ, फिर चौरासी नहिं आवै ललना।

— वही, १।१०

सन्तौ हरी मिलै के कौन हो पतवा।
तन मन धन अर्पन सव करिके, मुख में नाहीं वतवा।
तूँ ही करता, तूँ ही धरता, मैं पतित, एही हौ सरतवा।
गुरु पद नख पर नयन लगाओ, रहो सन्त सेवा करतवा।
आप ही आप मिलै घट भीतर, जानहु एही पक्का घतवा।
दासनदास निरख गुरु पद नख, सन्त सेवा में रतवा॥

—वही १।५६५

अभिमान में डूबा सारा संसार जहर से ही लिपटा हुआ है, अपने ही भीतर भरा अमृत उसे नहीं मिल पाता। हे ब्राह्मण भाई, हे पादरी भाई, हे मौलाना भाई, मेरी विनती मान लो। चाहे कितना भी पढ़ लो, कितनी भी चतुराई करो, विना भेदी यानी तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु के इस शरीर के भीतर विराजमान परमात्मा का भेद किसी भी प्रकार नहीं मिलेगा—

जगत जहर में लपटानी, अमृत मिलै न अभिमानी,
पावै कोई गुरुज्ञानी हो बम्हनवाँ।
वेद पुरान कुरान वायबिल सवमें है भाई नजीर,
क्या वहस कराई, भेदी वकील देखाई, तवै डिग्री पाई हो बम्हनवाँ।
एकै से सव पंथ कहावत, मजहव बन गया सारा,
नाम विना सव काम विगड़ गया, झगड़ा मारी-मारा हो पादड़ी मोलनवाँ।
नहीं ग्रन्थ में, नहीं पन्थ में, नहिं मजहव संसार में,
काया का जो भेद बतावै, वोही गुरुं सरकार है,
अपने में पइवा हो काजी मोलनवाँ।
दासनदास खाकसार की विनती मानो भाई,
विन भेदी के भेद न मिलिहैं, पढ़ो करो केतनो चतुराई हो बम्हनवाँ॥

—वही, १।१६

मैं जानत हौं सव विधि गुरु करै पार।
विना गुरु कोई उतरा चाहै भवपार, सो बे विचार।
वेद पुरान सन्तवानी, सवमें एही सार, नाम पुकार।

आदि अन्त मध्य में गुरु है, नित्य कल्यान मै संसार।
दासनदास खाकसार गुरु के सब अरपो, हो जाओ पार ॥

— वही, १।१२४७

बिना सतगुरु के केहू नहीं घाय सके, बैखरी में चिल्लाय सके,
मन ना पकड़ाय सके ना।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त के,
जे जीव के बताय सके, नाम धारना कराय सके ना ॥

— वही, १।१५२४

तत्त्वदर्शी महापुरुष तीन प्रकार के होते हैं — दाना, दीवाना और मस्ताना। दीवाना और मस्ताना से जीव का उपकार नहीं होता क्योंकि वे न जीवों को उपदेश देते न अपने को प्रकट करते, अपने ही आनन्द में डूबे रहते हैं। तीसरे दाना कोटि के महापुरुष वे होते हैं जो अपने सद्गुरु के आदेश से जीवों को नाम का उपदेश (दीक्षा) देते हैं। जीवों का उद्धार इन्हीं से होता है। यही सन्त-सद्गुरु कहलाते हैं। हमारे स्वामीजी कहते हैं —

सन्तै सब जग के थाम्हे बोझवा।
बिना सन्त के पाप के नासै, भोगावै में सब जोधवा।
जंगल पहाड़ में तब तक रहते, तत्त्वज्ञान कै नाहीं बोधवा।
जंगल में फिर न जाते, जीव तारै कें संसार में करते उपदेसवा।
दीवाना मस्ताना से उपकार न कछू जीव कै, अपने में मगनवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत दाना सन्त कै, जे रूप लखावै जनवाँ ॥

— वही, १।१२२

हरे मेरे मन, दाना सन्त कै करु ध्यनवाँ।
जिनकी महिमा नहीं कहें बिधि हरि हर सेस सारदा, थाके कै बखनवाँ।
सोई देव स्वामी मोरे बिचरैं संसार में, करम मिटावैं जे आया समनवाँ।
तेहि के कोई न करै पहिचनवाँ, अमीरी ठाट कौन करौं बखनवाँ, जीवै जनवाँ।
सबही तो ठाट से बतियावै, हमरे तो बोली न निकसै समनवाँ तत्त्व करनवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत सद्गुरु के, जिनकी महिमा आपै आप जनैनवाँ ॥

— वही, १।१२३

दाना जे, सोई साधू सन्त कहावत।
उपदेस करत, अनभौ बानी लिखत,
जेहि से हम पाये बिस्रमवाँ।
बेद पुरान उनहीं कै लिखा हौ,
गीता उपनिषद गुपत भेद करि करत बखनवाँ।
सोई बात खोल कर कहते, हमरे समझ आवै,
बढ़ै प्रेम निसदिनवाँ।
सन्त समान उपकारी न जग में कोई,
दुख हरैं जे जाय समनवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त गुरु के,
जिनकर नाम भगवनवाँ॥

—वही, १।१२४

सन्त-सद्गुरु वही हैं जो हमारे संशय को मिटा दें और जिनकी बात हृदय में बैठ जाय। जो क्रोध-लोभ आदि से रहित हों तथा जो शरीर के भीतर विद्यमान अगमपुर की बातें बतलाते हों—

सन्त संग जनाई परमारथ कै बतिया।
सन्त संग से न जनाय तो जानहु जिज्ञासु है मतिया।
खोजो साधू जो काया में नाम बतावैं, संसै हरै अनभौ बतिया।
वोही सन्त जो अगमपुर बतावैं, क्रोध मोह कै न बतिया।
ऐसे सन्त मिलैं जेही, धन्य तेकर किसमतिया गतिया।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त के, तिनकर सुभ मतिया॥

—वही, १।१५३

असली बात कहौं समुझाई जिनसे संसै जाई।
तेही मेरा सतगुरु प्यारा, जिन हिय नाम मिलाई।
संसै मेरा दूर बहाई, पोथी लेख देखाई।
वोही सतगुरु हौ जो हीय में देय बैठाई सत कहाई।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के, जिन संसै छोड़ाई॥

—वही, १।१६२

सद्गुरुदेव सच्चिदानन्द परमात्मा के देहधारी स्वरूप होते हैं, परम चैतन्य होते हैं अतः उनका सम्पूर्ण स्वरूप एक साथ हम पामर जीवों के ध्यान में नहीं आता। इसीलिये सन्त-दरबार में दीक्षित व्यक्ति को उपदेश दिया जाता है कि पहले सद्गुरुदेव के आश्रम का, कुटिया का, उनके पलंग का, उनकी पादुकाओं का, यानी उनसे सम्बन्धित जड़ पदार्थों का ध्यान करना चाहिए क्योंकि विषयों के चिन्तन से मलिन जड़ चित्त में चेतन का बिम्ब ग्रहण करने का सामर्थ्य नहीं होता। इस प्रकार सद्गुरुदेव की जड़ वस्तुओं के ध्यान के साथ साँस के सहारे नाम का स्मरण करते रहना चाहिए। ऐसा करते-करते ज्यों-ज्यों मन में कुछ सात्त्विक बल संचित होगा, मलिनता दूर होगी, प्रभु की महिमा मन में बैठेगी, प्रभु के प्रति प्रेम उत्पन्न होगा, त्यों-त्यों उनका स्वरूप मन में स्पष्ट होता जायगा। सन्त तुलसीदास इसी आशय से समझाते हुए कहते हैं कि ध्यान में सद्गुरु का स्वरूप न आवे तो निराश न हों, उतावली न करें, धैर्यपूर्वक मात्र नाम का विधिपूर्वक स्मरण करते रहें। हृदय में स्नेह जैसे-जैसे उत्पन्न होता जायगा वैसे-वैसे सद्गुरु का स्वरूप मानस-पटल पर स्पष्ट होने लगेगा –

सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखे। आवत हृदयँ सनेह बिसेखे ॥

– शिवजी कहते हैं कि प्रभु यद्यपि सर्वत्र समान रूप से व्याप्त हैं किन्तु मशीन की तरह शुष्क, नीरस स्मरण-ध्यान की प्रक्रिया मात्र से नहीं, प्रेम से प्रकट होते हैं, यह बात मैं अपने अनुभव से भली भाँति जानता हूँ –

प्रभु ब्यापक सर्वत्र समाना। प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना ॥

तात्पर्य यह कि तत्त्ववेत्ता सद्गुरु का पूरा स्वरूप मलिन मनवालों के ध्यान में नहीं आया करता, और यही उनकी प्रमुख पहचान है। यह बात सन्तप्रवर अपने भजनों में इस प्रकार कह रहे हैं –

सरगुन रूप चेतन फल तुरन्तवा।
ध्यान किये आवै न कबहूँ, तब जानो आतमज्ञनवाँ।
इसकै मानस पूजा होय तवै करम नासवा खासवा ॥

– वही, १।१७१

सन्त वोही है ध्यान में नहीं आवत।
माया जिसमें लगी हुई है, सो ध्यान में आवत।
येही परीक्षा जान लेहु, सोई तत्त्वज्ञानी कहावत।

पहले बाहरी ध्यान अमल से, संचित दगध पावत।
तव वोही सुरत मूरत होत है, सदग्रंथिन में पावत।
दासनदास खाकसार सरनागत, वोही मूरत नाम कहावत॥

— वही, १ । ७६७

ऐसे सन्त-सद्गुरु ही वास्तव में भुसूर, महीसुर, विप्र, द्विज तथा ब्राह्मण हैं —

कलि में सब देव अलोप भये, एक देव सन्त पुजावत।
वोही भूसुर महीसुर विप्र द्विज ब्राम्हन, जे सत्तलोक पहुँचावत।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त गुरु के,
जे सत्त लोक पार कहावत॥

— वही, १।१६६

महीसुर जग मे सन्तै हैं, जे जात पाँत न मानैं छूत।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के, नाम पाये अकूत॥

— वही, ४।१००७

रामायण-गीता-भागवत-उपनिषद् तथा अन्य आध्यात्मिक ग्रन्थ ऐसे ही सन्त-महापुरुषों के द्वारा लिखे गए हैं जिनमें मनुष्य-शरीर के भीतर का हाल लिखा है। विषय-भोग में डूबे गृहस्थ लोग भला उनका समुचित अर्थ कैसे जान सकते हैं —

रामायण हौ मानस कै बतिया।
मानुस तन कुदरत वनाया, तिससे बनी कितबिया।
मानस समझो साबूत भरी है पोथिया जनाई सब बतिया।
बिन जोगी के भोगी का जानै, सन्तन कै लिखी कितबिया तत्त्व कै बतिया।
उपनिषद गुपत भेद के कहते, जोगी कै हौ बतिया, जानै का पढ़तिया।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के, जिनसे जनाई गुपत भेद कै बतिया॥

— वही, १।१७७

सतगुरु खोजो भाई, पढ़े से न मिली मुक्तिया।
पढ़-लिखे अहंकार बढ़त है, अभ्यास से होई गतिया।
अनभौ भये पर सबै लखाई, बेदशास्त्र सब सन्तन कै बतिया॥

— वही, १।१७८

पढ़ि पढ़ि के विद्वान कहावै, तत्त्वज्ञान कै किये न कमवाँ।
आतमज्ञानी के वानी कै अर्थ लगावैं, मूरखताई कै नहीं टेकनवाँ॥

— वही, १।२६३

बिनी सन्त के पोथी कै अन्त न मिली, बनावल उनहीं केरा।
बिरती कै हाल गृहस्थी बतावै, कूयें भाँग पड़ रहीरा।
सन्त बिना कोऊ अंत न पाई, सत्तलोक जे पहुँच रहीरा।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्तचरन में रहीरा॥

— वही, १।६७३

सद्गुरु की उपासना सब सफल होती है जब सद्गुरु की मूर्ति, उनका स्वरूप मस्तक के भीतर बस जाय। जिस साधक के मस्तक के भीतर सद्गुरु का स्वरूप स्थिर हो जाय उसकी महिमा अनिर्वचनीय है। उसी ने सच्चा वेदान्त पाया है –

जेहि सिर सन्त बसेरा कीना।
तेहि की महिमा कहे न सेस जी सरस्वती भई है दीना।
और कै हाल कहाँ ले बरनौं, एक मुख है क्या कीना।
सतगुरु महिमा कौन कहेंगे, सब ही चुप साध लीना।
सुद्ध मुख होने को सब ही गाया, मैं कछू कहि दीना।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु मोहीं लीना॥

— वही, १।१६४

बिना रूप के नाम न पूरा येतनौ समझ न आई।
बेद पुरान सुग्गा ऐसे पढ़ते, अर्थ न समझाई।
यह पढ़े बेपढ़ा अच्छा, अहंकार सिर पर टेखाई बेदान्ती भाई।
बेदान्त कै मतलब का हौ, तीनों गुण से परे परा पाई।
वोही हौ बेदान्त कै मतलब, सतगुरु जबै लखाई।
दासनदास खाकसार सरनागत, सतगुरु जेके लखाई सोई बेदान्त पाई॥

— वही, १।६६७

सतगुरु मिल भी जायँ, उनकी पहचान भी हो जाय तो भी उनके पास जाने का मन नहीं होता क्योंकि वहाँ विषय-संबन्धी बातों का रस नहीं मिलता –

सन्त से मन रहता है बहुत दूर।
असन्तन संग खुसिहाली करता, बिसै मिली भरपूर।
जे सन्त मन के जितावै, तिन पर क्रोध करै भरपूर।
जेकर मन ऐसा हौ भाई, तेकर कैसे बनी काम पूर।

आरत हो जे सन्त सरन गया, तेकर पाप रही न एक धूर ।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त के, खोजो सन्त के भरपूर ॥
— वही, १।१०५

एक तो नाम की महिमा पर किसी को विश्वास ही नहीं है। जिसे विश्वास है, वह भी कहता है कि अच्छा, कभी कर लेंगे। यदि कोई मन लगाकर सद्गुरु से प्राप्त नाम का उनकी बताई विधि से भजन करे तो उसे तुरन्त ही फल प्राप्त होगा —

नाम पर परतीत न केहू के।
जेकरे परतीत हौ तेहू कहत करैंगे कबहूँ के।
जे करै तुरतै फल पावै, चारों वेद कहत करै के।
उधार फल है न इसमें, इच्छा फल मिलैं इसमें के।
नाम कै महिमा जानत सिवजी, हलाहल अमृत के।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त के, जानै फल के ॥
— वही, १।१०७

मन न मानै, चाल है अटपट।
करम के बस भये थिर न रहत, भजन के वक्त करै झटपट।
पहले तो टारत जावै, बीते वक्त आपै समुझावै, कल करौं लपट।
यह न जानत शत्रू है कि मित्र है, जीव के दोनों ओर लपट।
तुम्हरी कृपा होई सोइ होई, समझ लिये मन कै कपट, तोरे चटपट।
दासनदास खाकसार सरनागत तुमरे, तुमहीं करो मंजूर फट ॥
— वही, २।१००६

भजन करै में आलस आवत, मन कुटिल कहै दूसरी जुनिया ना।
मानुस तन गुन ज्ञान कै घरवा, हृदया विचारो, जीव कै तरवा ना।
आलस मन जीव कै दुसमन, पाप से बना दुख के दोस्त जनवाँ ना।
जेके सूझै तेही बूझी, दोस्त दुसमन कै करवा,
नाम रटन में जीव लगाया, छूट गया संसरवा ना।
बड़े बड़े विद्वान कहावत, ज्ञानी बना संसरवा,
मन आलस के भेद कोई न जाना, डूब मरत संसरवा ना।

दासनदास खाकसार सरनागत हौ नाम के,
कई जनम कै पुन्य उदे हो, तब नाम कै करै करवा ना ॥

— वही, ३।५३६

भक्ति प्राप्त करनी हो तो सद्गुरु से चालाकी नहीं करनी चाहिए। भक्ति में चालाकी उन्हें अच्छी नहीं लगती। सद्गुरु का शिष्य होकर मनमाना आचरण करनेवाले को बहुत दुख भोगना पड़ता है —

भक्ति की चालाकी साहिब को नहीं भाती,
मनमुख से बड़े घाती रे साँवलिया।
कलेस हुआ तब सोचन लागे, मन में बहुत आह सुनाई,
उपाधी में कोई न सहाई रे सजनवाँ ॥

— वही, १।१७

हार गये समुझाई केतने के समुझ न आई।
पाखंड में मन जल्दी लगत, मनमुखी बात सोहाई।
भगती मारग सब करमों से सहल,
गुरुमुख होय सोई पाई सुखदाई ॥

— वही, १।२७८

जब तक मन सद्गुरु की आज्ञा के अधीन नहीं होगा, उनकी सेवा में निमग्न नहीं होगा तब तक भक्ति प्राप्त नहीं हो सकती, अतः हे मेरे मन, तू आलस्य मत कर, नाम का अभ्यास कर, तो सरलता से भवसागर पार कर जायगा —

हरे मेरे मन, जनि तू होहु कदरवा।
बिना परिश्रम पार होइ जैहौ, दुख छूटी संसरवा।
केतने पापी पार हो गइलैं, करो नाम व्यापरवा।
इहाँ अनेक सुख देइ, जीवनमुक्त संसरवा परवा।
जनि अलसाव, करौ तू ख्याल एही बन जइहैं तेरो करवा।
दासनदास खाकसार सरनागत नाम के रहो अधरवा ॥

— वही, १।१३१

नाम ही से सब संसैजाई, ज्ञान भक्ती कै बल अधिकाई,
नाम रटन करो जोर, दुःख जरि जइहैं सब कई करोर रे मानुस तनवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत नाम के रहब कर जोर रे सम्हनवाँ ॥

— वही, ३।५३७

नाम के करो ध्यनवाँ, छूटी करम कै फनवाँ,
सुख निसिदिनवाँ, येही तनवाँ ना।
खाब पहिरब में न भूलो, नाम रटन करो पूरो,
नाम मिलिहै आँखों के सम्हनवाँ ना।
देखोगे अपने नैना, बिस्वास होय गुरु के बैना,
तबै जनाई गुरु कै महिमवाँ ना।
केतने हो गये जोगी जती फकीर, जिनकर बिस्वास भरपूर,
केतने कै दुख कटल हौ सम्हनवाँ ना।
श्रद्धा बिस्वास कै कमजोरी, ध्यान जमै न, हठ न करो री,
जुगुती कै यह कमवाँ ना;
दासनदास खाकसार सरनागत हौं नाम के,
जेकर जस दसो दिसवाँ ना॥

— वही, ३।५५८

आलस्य हमारा बहुत बड़ा शत्रु है, हमसे ही पलता है और हमारा ही नाश कर रहा है। हमारे मन को इसने अपने अधीन कर रखा है। प्रबल तमोगुण का परिणाम है यह। सब कुछ जानते-समझते हुए भी, सोकर प्रातः तीन बजे उठना चाहते हुए भी अपने प्रमादी मन से हम किस प्रकार पराजित हो जाते हैं, सभी जानते हैं। हम प्रतिक्षण यही योजना बनाते रहते हैं कि कुछ न करना पड़े, या कम से कम करना पड़े और सभी आवश्यकताओं की पूर्ति होती रहे।

वेद कहता है — सौ बरस जीने की कामना अवश्य करो, पर कर्म करते हुए ही। बिना कर्म किए एक क्षण भी जीने की कामना उचित नहीं है —

कुर्वन्नेवेह कर्माणि जिजीविषेच्छतꣳसमाः।

सन्तजन हमें उपदेश देते हैं —

विन बंदगी इस आलम में खाना तुझे हराम है रे।

किन्तु हम हैं कि केवल खाना तो चाहते हैं, वंदगी नहीं करना चाहते। बिना लगाम के घोड़े इस निरंकुश मन को सद्गुरु से प्राप्त नाम-स्मरण की लगाम लगाए रखना आवश्यक है। भौतिक -आध्यात्मिक सभी समस्याओं का समाधान धीरे-धीरे इसी से हो जायगा। यही बतलाते हुए प्रातःस्मरणीय स्वामीजी कहते हैं —

सुखै सुख के सबके चहनवाँ, उद्दम करै देय न मनवाँ,
दुख छूटी कौनो जनमवाँ रे मानुस तनवाँ।
दुख के दाता आलस हउवे, तेही के संगी जे जे रहिहैं,
दुख छूटी न कबहूँ जुग जमनवाँ रे मानुस तनवाँ।
पुरसारथी जे जे भइलें,
तेही के महिमा सब जग गवलैं रे मानुस तनवाँ।
सन्त के आलस वहुत खरावा सेवा करावै, भजन करै न,
चढ़ावे पपवा रे मानुस तनवाँ।
नाम रटन करु भाई, छूट जाय हृदये के काई,
रूप प्रगट झलकाई, जीवनमुक्त कहाई रे मानुस तनवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत हों नाम के,
भजन करु रे मानुस तनवाँ ॥

— वही, ३ । ५७५

नाम बिनु मानुस तन जात अकारथ।
जेतना करो वोही चौरासी बटोरो, जीव कै कोई न स्वारथ।
नाम रटो और काम करो, तव ही जीव के स्वारथ।
ऐसा करे से दोनों सधिहैं, जीव पाई जथारथ।
एक नाम का ध्यान करो नित, सत्य जानो एक परमारथ।
दासनदास खाकसार सरनागत नाम के, वन गया परमारथ ॥

— वही, ३ । ७७४

मन जव तक विषय-चिन्तन में डूबा हुआ है तव तक भजन कैसे होगा ? —

भजन वनत नहीं, मन विषय रहैया।
जब से विषय हौ तबसे भजन नहीं, लगत न कोई उपैया।
सतगुरु चरन कमल रज अंजन, हीय नयन में लैया।
उघरैं नैन, तमोगुण नासै, ब्रह्मसुख अनुभव पैया।
यह सुख महा अथाह हौ, निसिदिन छन सुख न जैया।
दासनदास खाकसार सरनागत हरी के चरन चित लैया ॥

— वही, १ । ६२४

प्रत्येक मनुष्य की साँस में परमात्मा का निवास है किन्तु सद्गुरु के उपदेश के अनुसार अभ्यास और उनकी कृपा के विना कोई भी उन्हें पा नहीं सकता –

हरी हर दम में रहत, सतगुरु विना कोई न पैया।
सिच्छित गुरु मंत्र पढ़ावैं, वेदहु पाठ करो मन लैया।
भूखो व्रत, नहावो गंग, चहूँ दिसि तीरथ में भ्रमैया।
रही एक की भई सहस की, कौन संग जरै कै उपैया।
दीच्छित मिलैं, स्वाँस पकड़ावैं, घटहीं में प्रभु रहिया, येही उपैया।
दासनदास खाकसार सरनागत, प्रभु कृपा कै दोहैया॥

— वही, १।६२५

मन को वश में करना वहुत ही कठिन काम है। वास्तव में केवल सन्त-सद्गुरु ही शिष्य के मन की चंचलता समाप्त कर सकते हैं। उनकी आज्ञा मानने से फिर इसकी चतुरता नहीं चलती –

सन्तै मन के करत हैं चूर-चूर।
विना संत के मन वस नाहीं, और करम से होत भरपूर।
आज्ञापालन में चलत न चातुरी, विनय करत जै जै हजूर।
ये ही उपाय मन वस करै के हौ, दूसर सब हौ बहुत दूर।
सतगुरु मिलैं राह वतलावैं, वोही किये जीव तरै जरूर।
दासनदास ख़ाकसार सरनागत, हरि गुरु जस छाये है पूर॥

— वही, १।१०६

मन के धोखा देहु रे भाई, तवै भजन वनी दिन रतिया।
खात पकावत, ऊठत वैठत, सोअत जागत, चलत फाल गिनतिया।
उद्यम करत, हाथ डोलावत, गोड़ चलावत, मन बझाओ येही भँतिया।
मन को तो इसमें लगाओ, नाम रहै सुरतिया, जैसे पनिहारिन सिर गगरिया।
वात करत, झुक पाँव धरत, तीन तीन लिये गगरिया, ता पर है सुरतिया।
दासनदास खाकसार सरनागत, हरी गुरु पर लगी रहै सुरतिया॥

— वही, १।२४५

मन की जो चालाकी समुझै, सोई जोगी ह्वै जाय।
जो कछु देखै सोई रूप है छनभर न ठहराय।
चेतन देखा चाक ऐसे घूमै, तनिक लेस न लग जाय।

अविद्या से मन बना है, अविद्या में ठहराये, एही है एक उपाय।
अविद्या में नारी सकल है, भक्ती नारी रूप ह्वै जाय, तबै ठहराय।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त हरी के, जिनकी कृपा से बन्हाय॥

— वही, १।३००

भजन बनत नहीं मनवाँ हौ सैलानी।
सैतानी करमों में निसिवासर धावत, देव करम में करत हैरानी।
सतगुरु अज्ञा की डर होवै तबै सुधरी, नाहीं कोट करम अहंकार बनी।
दासनदास खाकसार गुरु अज्ञा डर मान, नाही तो चौरासी सही बनी॥

— वही, १।५५६

मन के चाल है अटपट।
कबहूँ ज्ञान बैराग रहत है, कबहूँ बिसै पर चटपट।
इनकर कहा न कबहूँ कीजै, गुरु अज्ञा पर रहो लपट।
यह मन है बड़ा लबार, इन्द्री से करावत चट खटपट।
सुरती रहै चरन पर तबै मिटै इनकै कुल खटपट।
दासनदास खाकसार सरनागत, हरी गुरु के लगै न कपट॥

— वही, २।७१७

निम्नलिखित पद में सन्तप्रवर सम्भवतः उपासना के उसी रहस्य की ओर इंगित कर रहे हैं जिसके प्रति सन्त मलूकदासजी ने किया है (पृ० २०२)। वे कहते हैं कि माया को सभी लोग बुरा कहते हैं किन्तु मुझे तो उस माया ने तथा मेरे ऐब ने ही प्रभु के पास पहुँचा दिया —

मेरो तो कलिजुग सम और जुग नहिं कोऊ।
सब जुग जनम मरन होत आया, कलि में सन्त गुरु पाऊ।
जो रच्छक सोइ राजा कहिये, भच्छक होय सोइ निसिचर नाऊँ।
मेरे तो ये ही रच्छक हैं, मैं नहिं कहत बात बनाऊँ नाम पाऊँ।
माया को सबही बुरा कहत, हमके ले साहब कीहैं पहुँचाऊँ।
दासनदास खाकसार सरनागत मेरे ऐब ले गया सन्त के ठाऊँ॥

— वही, १।११६

संसार ऐसा विचित्र है कि निर्गुण को सगुण और सगुण को निर्गुण कहता है। सगुण को कोई जानता ही नहीं, सब निर्गुण में उलझे हुए हैं —

निरगुन में फँसल सब जतिया।
सरगुन के कोई नहिं जानत, जे जाना तेकर लिखी पुस्तकिया।
निरगुन ही को सरगुन मानत, अपनी बनाई मुरतिया, कैसे परतीतिया।
सरगुन पर बिस्वास न तनिको, कौसिला जसोदा के न परतीतिया।
ऐसी अंधेर फैली जग भीतर, दुख भोगैं, मानैं न सन्त कै बतिया।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त के, जिन छोड़ाये पाखंडिया॥
— वही, १।२६७

भजन में धूर्त मैं देखवा, तैसन फल लेखवा।
सरगुन के निरगुन, निरगुन के सरगुन कहे, मैं आँख देखनवा।
जो वस्तु देखा नहीं कबहूँ, मेरे लिये निरगुनवाँ, सही कहनवाँ।
जो बस्तु आँख के सामने देखाई, सोई हौ सरगुनवाँ समनवाँ।
निरगुन रहै, सबही करता, सरगुन मिलना मुसकिलवा।
दासनदास खाकसार सरनागत, सतगुरु बिना नाहीं मिलनवाँ॥
— वही, १।६६५

सब जग बाझल हौ निरगुन हीं मतवा।
मंदिर में राम कहाँ, मस्जिद में खोदाई, गिरजा में इलाही कहवाँ।
इसमें कहीं ईस्वर मिलल बाय, केहू पोथी में लिखल वाय कहवाँ।
ईश्वर मिली अपने मंदिर में बनवले बाय तहवाँ।
सन्त लखाई तबै पाई, नाहीं कोट जनम जनमो मरो तहवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के, जिनकी कृपा से इहवाँ॥
— वही, १।१०४१

निरगुन येही कहावत।
कान से सुनि के मैं जो एकरते, जड़ मूरती पुजावत।
जो जो ध्यान करते मन अन्दर, मन कै ध्यान कहावत।
इससे कभी मन थीर न होइहैं, तनिक समझ न आवंत।
मन तो बना सर्व विषय से, जड़ बुधि कहावत आवत।
दासनदास खाकसार सरनागत, सतगुरु सरगुन कहावत॥
— वही, १।१०१५

संसार में इतने तेजोविहीन मत-पन्थ प्रचलित होने का कारण यही है कि तत्त्वज्ञानी सन्त-सद्गुरु के पास जाकर साधु वेश तो धारण कर लिया पर भजन में

पूर्णता प्राप्त नहीं हुई। फिर भी सद्गुरु के देहत्याग के वाद स्वयं उपदेश देने लगे, शिष्य वनाने लगे –

साधू वनके गद्दी पाये, नाम साधना न किया, इसी से मत-पन्थ हुआ।

– वही, १।१४०६

वेद-शास्त्र अथवा विभिन्न मत-पन्थों के आध्यात्मिक ग्रन्थ पढ़कर लोग ब्रह्मज्ञानी बन जाते हैं और जीवों को उपदेश (दीक्षा) भी देने लगते हैं। ईश्वर ही बचाये ऐसे वाक्यज्ञानियों से –

पढ़ लिख भया सयाना, नाम न जाना।
ज्ञान वक के आप ब्रह्म भा, विषै में निसिदिन लपटाना।
ऐसे नर बहुत जग भीतर, के के कहौं, देखो आँखिन नाना।
नाम न जाना भक्त कहाना, येही करम वेइमाना।
कहन आन विधि, रहन आन विधि, कैसे मालिक पहिचाना।
दासनदास खाकसार सरनागत, तुमहीं राखो ईमाना॥

– वही, ४।५७३

हमारे स्वामीजी अपने सद्गुरुदेव का दर्शन होने से पहले और वाद की साधना और उपलब्धि से सम्वन्धित निजी अनुभव वतलाते हुए कहते हैं –

करम प्रधान जग में फैला, जैसा करै तैसा फल पावै, ऊँच नीच नहीं जतिया।
जात पंथ मत में जे पड़ गइलैं, इहाँ दुख परलोकौ मैं दुख देखिहैं, सही मानिया।
उधार फल में पड़कर दुनियाँ सहत दुख नाना, सन्त के नाहीं मानैं वतिया।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त गुरु के,
मोर भल भयल सोई कहत कहनियाँ॥

– वही, १।२२६

चाहै करै कोई कोट उपाई, नाम विना गति केहू न पाई।
जप तप संजम नेम अपारा, नाम विना चौरासी के छोड़ाई।
पापी अधम नाम अनेकन तारे, और धरम कहाँ तराई।
शिव सनकादि सिद्ध मुनि जोगी, नाम पाई ब्रह्म में समाई।
हमहूँ नाम बहुत जग खोजे, नाम विना फजीहत पाई।
दासनदास खाकसार सरनागत के गुरुदेव लखाई, मन थीर भाई॥

– वही, १।५६५

रहली विषयरस मातल, चहुँदिसि अँधियारा हो रामा।
रहली मोहनिसा में सोवल, स्वप्न अनेक प्रकारा हो रामा।
नाना करम धरम बहु किये, उड़ै अहंकार कै गुवारा हो रामा।
दासनदास खाकसार के सतगुरु मिललैं,
तवै से मिललैं घरवा हमार हो रामा॥

—वही, १।६२९

हम वउरइली जग के लेखवा।
भाई पुत्र कुटुम्व धन घर छोड़ गुरु के यहाँ गइली,
जेठ सुकुल पखवा।
तुरन्ते हरि दरसन देहलैं, चोटी काट चोलना पहिरउलैं,
उपदेस कइलैं भक्ती जोगवा।
अज्ञा देहलैं, साधुन संग रहो, करो भजनियाँ,
अरजिया कहौ, त्याग से सुख होई अगवाँ।
अज्ञा डर से सहौं बचनियाँ जोई कहैं सोई सत बचनियाँ,
मनवाँ कै कहौं न करमनियाँ, करौं कमवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत होके करो भजनियाँ,
दूसर नाहीं कहनियाँ न सुननियाँ॥

—वही, १।१३८५

कोट उपाय कर थाके, नामहिं से मोर जीव जागे।
नामहिं से सब साधन वन गये, औरो भक्ती जागे।
नामहिं से सरीर रच्छा हो गई, भोजन मिलै बिन माँगे।
नामहिं से सब जानन लागे, मन बस हो गये जागे।
नामहिं कली जीव अधार हौ, और साधना भागे।
दासनदास खाकसार सरनागत हरी के लव लागे॥

—वही, २।६५०

हरी गुरु हरैलें पपवा तीनों तपवा विन जपवा।
निस्चै नहीं तनिक हौ हमरे, मिलतै छोड़ावैं जनम कै पपवा।
तन मन धन सव अरपन होवै, जुग जुग कै लेलैं संतपवा।
मेरे तो येही जुगः येही तन छोड़ाये दुख, सत कहौं जग लिखवा।
दासनदास खाकसार सरनागत सन्त के, जिन मिटाये मोर सन्तपवा॥

—वही, २।६८५

भइली हैरान बहुत दिनवाँ, कै के सब करमवाँ।
तीरथ बरत सब देव पूजा, बैखरी से जपली नमवाँ बहुत दिनवाँ।
अहंकार जस पर्वत सुमेरु, क्रोध के ऐजनवाँ, लोभ समुन्द्र लहरनवाँ।
काम मोह मिली आँधी पानी, कहाँ जाँव जासे बचै जनवाँ,
बेकल भयल परनवाँ।
दोहाई देकर रहे पुकारत, दयानिधि मिल गये सन्त सजनवाँ,
राखे मोर परनवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत हो गये सतगुरु के,
जीव सुख पवले, सत मानो कहनवाँ ॥

— वही, २।१०६८

हमसे बचल न एकौ करमवाँ, दुख पावल निसिदिनवाँ।
नाम नरेस के सरनागत होतै, तीनों ताप गयल वोही छनवाँ।
केतने लोग तमासा आवैं, उपदेस करौं निसिदिनवाँ।
कैसन रहली कैसनें भइलीं, नाम प्रताप बलवनवाँ।
सुनो सत्य संत कहनवाँ, नाम से स्वारथ परमारथ कमवाँ।
दासनदास खाकसार सरनागत नाम के, सिद्ध सब कमवाँ ॥

— वही, ४।१०७५

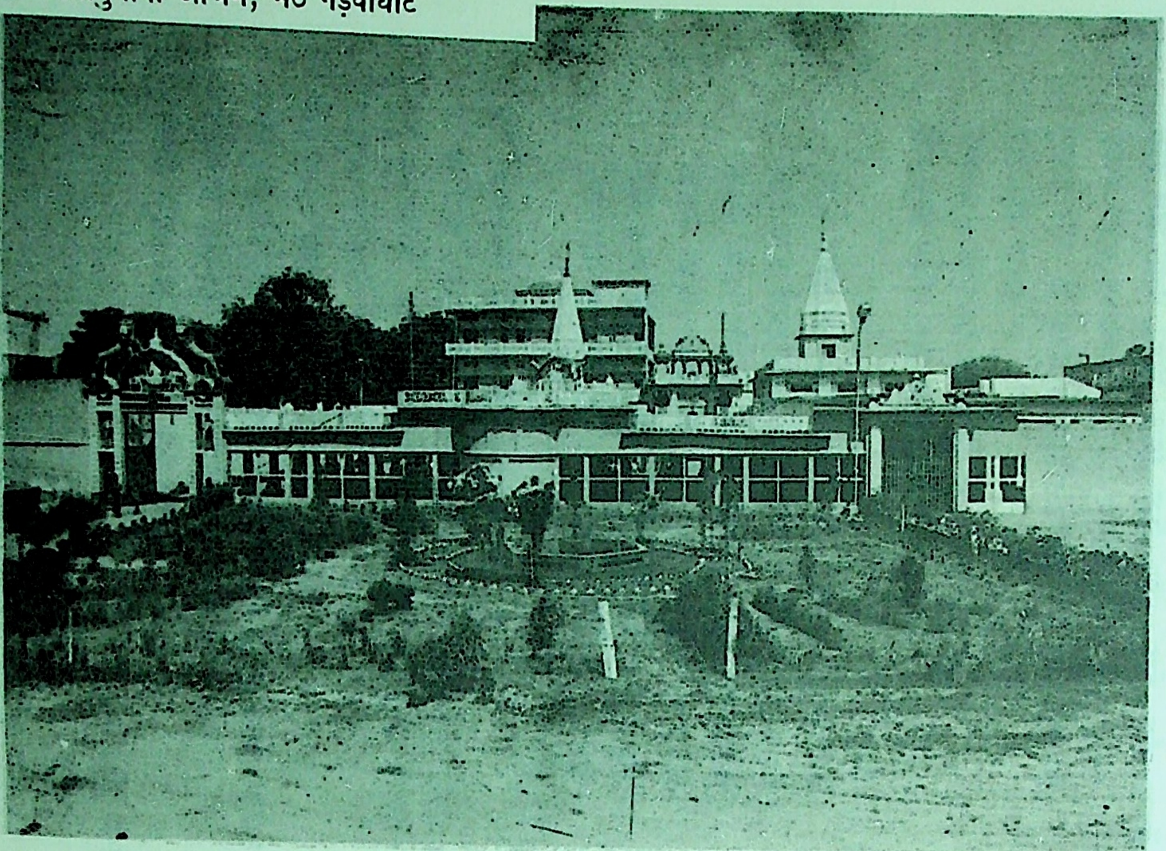
तोरे बिना नाम मोर भइलीं बहुत दसवा।
घर घर बिनै करत मोहिं बीतल, केहू दया कर नाहीं मोहीं पोसवा।
जुग जुग जनम मरण दुख पवली, तवने कै तनिक न होसवा।
सतगुरु जबरदस्ती मोहीं दिये,
पाँच मिनट ब्रह्म मुहूर्त में करो, होई होसवा।
कौन कृपा सतगुरु कै कहौं, जुग जुग जनमों, चरन कमल के रहौं पसवा।
दासनदास खाकसार सरनागत सतगुरु के,
जिनकी कृपा के कहि न सकैं शेषवा ॥

— वही, २।४६०



उपसंहार

सन्तमतानुयायी आश्रम, मठ गड़वाघाट



श्रीमत्परमहंसो हि गड़वाघाटमन्दिरे, जीवानां क्लेशनाशाय वाराणस्यां विराजते ॥
जीवों के जन्म-मरणरूप क्लेश के विनाश के लिये वाराणसी के गड़वाघाट आश्रम में परमहंस श्रीसद्गुरुदेव विराजमान रहते हैं।

उपसंहार

जीव के परमकल्याण के उपायों पर विचार करते हुए वर्तमान सन्तमत की मान्यताओं का वैदिक स्रोत देखने के उद्देश्य से अनेक उपनिषदों में पराविद्या के पारंगत आचार्यों, ब्रह्मवेत्ता महर्षियों तथा ब्रह्मा-विष्णु-शिव आदि के पवित्र वचनों का मनन किया गया, तत्पश्चात् इस युग के तत्त्ववेत्ता सन्त-सद्गुरुओं के उपदेशों का भी अध्ययन किया गया।

तत्त्वदर्शी महापुरुषों ने अपने सद्गुरु की आज्ञा का पालन करते हुए कठोर साधनामय जीवन बिताया तथा सर्वस्व समर्पण और सेवा द्वारा सद्गुरु के प्रसन्न होने पर उन्होंने उनसे जो कुछ प्राप्त किया वह परमकल्याण मोहान्धकार में डूबे हम दीन दुखी जीवों को भी प्राप्त कराने के लिए उनका हृदय व्याकुल हो उठा और उनका अनुभव उनकी वाणी द्वारा इस प्रकार प्रवाहित हो पड़ा मानो उनका हृदय ही दुखियों के दुख से पिघलकर बह चला हो।

इन उपदेशों को प्रकट करने का उनका उद्देश्य हमें सत्य से परिचित कराकर सुखी बनाना मात्र है, उनका अपना कोई स्वार्थ नहीं है। नित्यतृप्त, महायोगमाया के स्वामी, सदा तुरीय अवस्था में विहार करनेवाले, अपने शरीर के भीतर विराजमान सच्चिदानन्द परमात्मा से एकाकार हुए उन महापुरुषों को संसार में भक्त की दीनता के अतिरिक्त अन्य कोई वस्तु अपनी ओर आकृष्ट नहीं कर सकती, अतः अपनी क्षुद्र बुद्धि द्वारा हम उनकी वाणी की सत्यता में किसी प्रकार का सन्देह करें, उसके विपरीत कोई मिथ्या तर्क उठावें, या उसका अनादर करें, तो यह हमारे लिये विनाशकारी ही होगा, अविद्या के संस्कारों से दबी अपनी मलिन बुद्धि के किसी भी तर्क द्वारा हम उन प्रातःस्मरणीय महापुरुषों के विद्यालोकों के दिव्य अनुभव का खण्डन कैसे कर सकते हैं। अतः हमें तो अपनी तुच्छ बुद्धि का अभिमान छोड़कर उनके उपदेशों को सदा सत्य मानकर स्वीकार कर लेना चाहिए, भले ही अपने कुसंस्कारों की प्रबलता के कारण हम उनके अनुसार आचरण न कर सकें।

इस दृष्टि से, पराविद्या के महत्त्व पर प्रकाश डालनेवाले उपनिषद्-वाक्यों तथा विभिन्न देश-काल के सन्तों की एक जैसे अर्थवाली वाणियों को देखने से

सुनिश्चित होता है कि मनुष्य-शरीर ही परमात्मा का सर्वश्रेष्ठ मन्दिर है। प्रत्येक मनुष्य की नासिका के ऊपर दोनों भौंहों के मध्यभाग में सत्य-राज्य स्थित है। वहीं परमात्मा का निवास है। सुरति या ध्यान द्वारा जीव को ईश्वर का साक्षात्कार वहीं प्राप्त होता है, इस देह के बाहर कहीं भी इन बाहरी नेत्रों से ईश्वर का दर्शन नहीं होता। इस शरीर में मस्तक के भीतर दिव्यदृष्टि से परब्रह्म परमात्मा के दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार होना ही ब्रह्मज्ञान है, आत्मज्ञान है, यही स्वरूप-लाभ है, और यही मनुष्य-योनि में जन्म प्राप्त करने का मुख्य लक्ष्य है, सर्वोच्च आदर्श है।

परमात्मा कहाँ रहता है, उसका क्या स्वरूप है तथा वह कैसे प्राप्त होता है, इसी विषय पर मुख्य रूप से उपनिषदों में विचार किया गया है। इसी विषय पर तत्त्वदर्शी महापुरुषों, सन्त-सद्गुरुओं के भी अनुभवपूर्ण विचार तथा उपदेश हैं। अन्तर यही है कि उपनिषदों में जो बात अत्यन्त संक्षेप में, सूत्ररूप से संकेतिक है उसे सन्त-सद्गुरुओं नें विस्तार से, सबके समझने योग्य अत्यन्त सरल भाषा में सीधे-सीधे स्पष्ट रूप में कह दिया है। इसलिये तत्त्व को समझने तथा पाने के लिये आज सन्त-सद्गुरुओं की अनुभवपूर्ण वाणी सर्वाधिक उपयोगी है।

उपनिषद् कहते हैं 'जो ब्रह्म को जानता है वह ब्रह्म ही होता है।' सन्त-सद्गुरु कहते हैं कि तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु ही मूर्तिमान ब्रह्म हैं। सर्वदेशी (व्यापक) ब्रह्म की उपासना सम्भव नहीं है, एकदेशी ब्रह्म सन्त-सद्गुरु की सेवा-पूजा से ही सब मनोरथ सिद्ध हो जाते हैं। वात एक ही हुई। उपासना (उप + आसना) तथा उपनिषद् (उप+नि+षद्) दोनों में उप का अर्थ है समीप, और आसन तथा सद् का अर्थ है बैठना। ये दोनों शब्द किसी साकार व्यक्ति की ओर संकेत करते हैं जिसके चरणों में बैठकर ब्रह्मविद्या जानी जा सके। वह साकार व्यक्ति तत्त्वदर्शी सद्गुरु के अतिरिक्त भला और कौन हो सकता है।

उपनिषदों का शब्दब्रह्म ही सन्त-सद्गुरु के शब्दों में 'नाम' है। यह शब्द-ब्रह्म या नाम केवल तत्त्वदर्शी सन्त-सद्गुरु ही जानते हैं, अतः यह केवल उन्हीं से प्राप्त हो सकता है। इसके प्रयोग यानी भजन-अभ्यास की अपनी अनुभूत विधि भी केवल वही वतला सकते हैं, और इस नाम का अर्थ क्योंकि वे स्वयं होते हैं इसलिये ध्यान तथा पूजा-उपासना भी उन्हीं की होती है।

शिष्य का मन यदि निर्वात (पवनरहित) स्थान में स्थित दीपक की लौ

के समान अपने सद्गुरु के ध्यान में स्थिर हो जाय और सद्गुरु उसकी दीनता और निरभिमानिता से द्रवित तथा प्रेमपूर्ण सेवा से सन्तुष्ट हो जायँ तो वे उसके अन्तःकरण में अपने दिव्य, तात्त्विक, मायातीत स्वरूप को प्रकट कर देते हैं और शिष्य कृतकृत्य हो जाता हैं, फिर उसके लिये कुछ करना शेष नहीं रह जाता।

यदि अपने सद्गुरु से उसे जीवों को उपदेश (परानाम की दीक्षा) देने का आदेश प्राप्त हो जाता है तो वह देहपात होने तक सन्त-सद्गुरु के रूप में जीवोद्धार के कार्य में संलग्न रहता है। अन्यथा जीवित रहते स्वयं भक्ति द्वारा मुक्ति का आनन्द लेते हुए अपना कल्याण कर लेता है, परमपद को प्राप्त हो जाता है, जन्म-मरण के चक्र से सदा के लिये छूट जाता है।

जैसे गन्दे और चंचल जल में हम अपना सही रूप नहीं देख सकते इसी प्रकार मलिन और चंचल चित्त में आत्मा या परमात्मा का दिव्य स्वरूप कभी नहीं देखा जा सकता। सद्गुरुदेव से परानाम का उपदेश प्राप्त किए बिना हमें उस अभ्यास-विधि का ज्ञान नहीं हो सकता जिसमें सद्गुरुदेव की चरणरज के घर्षण से मन का मैल क्रमशः उतरने लगता है। और यदि प्रमादवश हम उस निर्दिष्ट अभ्यास में ढील न आने दें तो गुरुदेव की दया से निश्चय ही यह मन स्वच्छ भी हो जायगा और स्थिर भी। यह बात सदा सत्य है।

पीछे हम श्रीकृष्ण के इस कथन पर विचार कर चुके हैं कि ईश्वर सभी मनुष्यों के हृद्देश में विराजमान रहता है। यह बात विश्व के किसी भी भाग में रहनेवाले किसी भी कोटि के मनुष्य मात्र के लिये सत्य है और हृद्देश में स्थित उस परमात्मा तक पहुँचने की यह सन्तमत-सम्मत प्रक्रिया भी समान रूप से विश्व के सभी प्राणियों के लिये एक ही है, जैसे संसार के सभी मनुष्य आँखों से ही देखते हैं, कानों से ही सुनते हैं। जब परमात्मा एक है, सभी मनुष्यों की संरचना एक जैसी है, तो उन मनुष्यों के भीतर निवास करनेवाले परमात्मा को प्राप्त करने के उपायों में अन्तर होने की वात कैसे सोची जा सकती है। अतः अपना लौकिक-पारलौकिक कल्याण चाहनेवाले मनुष्य को प्रत्यक्ष वर्तमान तत्त्वदर्शी सद्गुरु से नाम का उपदेश प्राप्त कर लेना चाहिए — श्रुति-शास्त्र-सन्त-सम्मत यही सिद्धान्त, यही विधान शाश्वत हैं, सनातन हैं। यह विधान किसी देश-जाति-वर्ण-सम्प्रदाय आदि के नहीं, मनुष्य मात्र के कल्याण का हैं।

आध्यात्मिक ग्रन्थों में प्रायः सर्वत्र ईश्वर का निवास-स्थान अथवा ईश्वर के स्मरण-चिन्तन-ध्यान आदि के विधान का क्षेत्र मनुष्य-शरीर के भीतर हृद्देश यानी हृदय बतलाया गया है। वक्षःस्थल के भीतर बाएँ भाग में स्थित, रक्तसंचारवश धड़कनेवाले मांसपिण्ड को ही लोग हृदय शब्द का अर्थ मानते हैं। किन्तु सन्तमत-सम्मत उपासना-विधि में हृदय शब्द का अर्थ मस्तक के भीतर इड़ा-पिंगला-सुषुम्णा नाड़ियों के मिलनबिन्दु त्रिकुटी को माना गया है। वहीं ब्रह्म का, सद्गुरुदेव के मायातीत स्वरूप का अन्तःसाक्षात्कार होता है – 'ब्रह्म झलक्कै सीस'। उपनिषदों में भी यहीं उपासना का संकेत है। वहाँ दोनों भौंहों के ऊपर मूर्धान्त (शिखा तक के) भाग को ही आकाश, गुहा, हृदयगुहा, दहर, पुण्डरीक आदि कहा गया है।

योगवासिष्ठ में वसिष्ठजी श्रीराम को हृदय का स्वरूप बतलाते हुए कहते हैं कि हृदय दो प्रकार का होता है। उनमें से एक, जो छाती के बाईं ओर मांसपिण्ड-रूप में स्थित है, वह त्याज्य है, अध्यात्म-विचार में उसका कोई उपयोग नहीं है। दूसरा, जो संवित् यानी चेतना का केन्द्र है, वही हृदय साधना में उपयोगी है। वह चेतनारूपी हृदय बाहर भी है और भीतर भी, तथा न बाहर है न भीतर। सम्पूर्ण पदार्थ उसी में इस प्रकार प्रतिबिम्बित होते हैं जैसे दर्पण में। सम्पूर्ण आध्यात्मिक सम्पत्ति का भण्डार यही हृदय है –

साधो जगति भूतानां हृदयं द्विविधं स्मृतम्।
उपादेयं च हेयं च विभागोऽयं तयोः शृणु ॥ ३३ ॥
इयत्तया परिच्छिन्ने देहे यद्वक्षसोऽन्तरम्।
हेयं तद् हृदयं विद्धि तनावेकतटे स्थितम् ॥ ३४ ॥
संविन्मात्रं तु हृदयमुपादेयं स्थितं स्मृतम्।
तदन्तरे च वाह्ये च न च वाह्ये न चान्तरे ॥ ३५ ॥
तत्तु प्रधानं हृदयं तत्रेदं समवस्थितम्।
तदादर्शः पदार्थानां तत्कोशः सर्वसम्पदाम् ॥ ३६ ॥

– योगवासिष्ठ, उपशम प्रकरण, सर्ग ७८

हृदय, मन, मानस, अन्तस्, चित्त, ये सभी शब्द परस्पर पर्यायवाची हैं –

चित्तं तु चेतो हृदयं स्वान्तं हृन्मानसं मनः।

– अमरकोष ४।३१

तदनुसार आध्यात्मिक साधना के प्रसंग में प्रयुक्त हृदय शब्द का अर्थ संवित्, चेतना अथवा मन ही समझना उचित है। अध्यात्म-विचारकों ने उपासना में उपयोगी हृदय का स्थान दोनों भौंहों की सन्धि से ऊपर मस्तक के मध्य माना है। श्रीकृष्ण द्वारा कहा गया ईश्वर का अधिष्ठान हृद्देश यही स्थान है।

उपनिषद् कहता है कि सभी प्राणियों को अभीष्ट फल प्रदान करनेवाला परमात्मा मानव-शरीर में बहत्तर हजार नाड़ियों का भेदन करके मूर्धा यानी मस्तक के भीतर सबको व्याप्त करके विराजमान है –

द्विसप्ततिसहस्राणि नाड़ीं भित्त्वा तु मूर्धानि।
वरदः सर्वभूतानां सर्वं व्याप्यावतिष्ठति॥

– ब्रह्मविद्योप० ११

श्वेताश्वतर उपनिषद् का कथन है कि उस अक्षरब्रह्म को कोई इन नेत्रों से नहीं देख पाता। हृदय में विराजमान उस परमात्मा को हृदयरूप मन के द्वारा ही जो लोग सद्गुरु द्वारा उपदेश की हुई विधि से जान लेते हैं वे अमर हो जाते हैं –

न चक्षुषा पश्यति कश्चनैनम्।
हृदा हृदिस्थं मनसा य एन-
मेवं विदुरमृतास्ते भवन्ति॥

– ४।२०

इस विधान में सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण बात है अपने सद्गुरु की प्रसन्नता, उनकी कृपा। सम्पूर्ण साधना तथा उपासना का यही प्राण है, यही फल है। यदि सद्गुरु की प्राप्ति हो जाय और उन पर पूर्ण विश्वास हो जाय तो उसके बाद प्रमाद का परित्याग करके, तन-मन-धन से उनकी सेवा करके, उनकी आज्ञाओं का समुचित पालन करके उन्हें सन्तुष्ट कर लेना ही परम कर्तव्य है। त्याग और बलिदान की भावना के बिना सच्ची सेवा नहीं हो सकती। सद्गुरुदेव की छोटी से छोटी इच्छा पूर्ण करने के लिये अपने बड़े से बड़े सुख और आराम की उपेक्षा कर देना त्याग है और इस कार्य में अपने प्राणों की भी परवाह न करना बलिदान है।

सद्गुरुदेव के शील, स्वरूप, दया, क्षमा आदि सद्गुणों का बार-बार स्मरण करने से उनके प्रति मन में प्रेम उत्पन्न हो जायगा, और तब प्रयत्नपूर्वक, डर के साथ की जानेवाली उपर्युक्त प्रकार की सेवा सहज होने लगेगी, उसमें प्रेम और मधुरता

समा जायगी। ऐसा न होने पर काम तो सब होता रहेगा पर वह मशीन के कार्य की तरह नीरस होगा, उसमें सरसता नहीं आ पावेगी। वास्तव में सद्गुरु के प्रति सेवक के हृदय का प्रेम ही तो उसके भीतर विराजमान सद्गुरु के दिव्य स्वरूप को प्रकट कर देता है –

प्रेम तें प्रगट होहिं मैं जाना।

प्रेम की सहजता प्राप्त करने के लिये सन्त-सद्गुरुदेवों ने अन्य सभी भावों में कान्ताभाव की उपासना को विशिष्ट माना है और अपनाया भी है, यह हम सन्तवाणी के अध्ययन में जगह-जगह देख चुके हैं। इसका कारण यही है कि स्त्री के स्वभाव में कोमलता, सेवाशीलता, सहनशीलता, समर्पण आदि की भावना सहज होती है, अतः सेवक जब मन ही मन अपने जीव को कल्पित नारी रूप में अपने सद्गुरुदेव की सेवा में प्रस्तुत करता है तब सम्पूर्ण सेवा सहज हो जाती है, रसमय हो जाती है, उसमें उत्कृष्टता का समावेश हो जाता है।

एक दूसरी दृष्टि भी है। ऐसे परम भाग्यशाली विरक्त धीर पुरुष कम ही होते हैं जो नारी-सौन्दर्य के प्रति कामभाव से आकृष्ट न होते हों। अधिक संख्या हम जैसे विषयासक्त जनों की ही देखी जाती है जो नारी के समादरणीय जननीभाव को भूलकर उसके रूप-सौन्दर्य पर निन्दित और अवैध कामभाव से आकृष्ट होते रहते हैं और सद्गुरु-चरणों से विमुख रहकर निरंकुश मनमुखी आचरण करते रहते हैं। क्या करें, वे चाहते हुए भी उस आकर्षण से बच नहीं पाते, विवश हैं। सन्त तुलसीदास कहते हैं –

पुरुष त्याग सक नारिहिं जो बिरक्त मति धीर।
न तु कामी विषया बिबस बिमुख जो पद रघुवीर॥

कान्ताभाव की उपासना से यह समस्या ही समाप्त हो जाती है। इस समस्या की ओर ध्यान देने की आवश्यकता ही नहीं पड़ती। किसी स्त्री में दूसरी परम सुन्दरी स्त्री के अत्यन्त समीप रहने पर भी कामभाव उत्पन्न नहीं हो सकता। अतः सेवक जब अपने सद्गुरुदेव को पति मानकर स्वयं कल्पित पत्नीरूप होकर उनकी भोजन-शय्यासनादि मानसिक सेवा करने लगेगा, तब अनायास सद्गुरुदेव के प्रति स्वाभाविक आकर्षण तथा प्रेम सहज ही बढ़ने लगेगा और वह उनकी उत्तरोत्तर अधिक समीपता का अनुभव करने लगेगा। जिस क्रम से सद्गुरुदेव के प्रति प्रेम बढ़ेगा उसी

क्रम से सांसारिकता के प्रति आसक्ति कम होती जायगी।

इस प्रसंग में मठ गड़वाघाट आश्रम (वाराणसी) के हमारे स्वामी सद्गुरुदेव के कुछ स्वानुभवपूर्ण बचन दर्शनीय हैं जो उन्होंने मानसिक सेवा का महत्त्व और भक्ति का स्वरूप बतलाने के सन्दर्भ में कहे हैं —

> कैसा हूँ ज्ञानी होय, स्त्री का संग होने पर फँस जाता है। भक्ति के करनेवाले नहीं फँसते क्योंकि वह खुद स्त्री हैं।
>
> — दासनदास भजनमाला, भाग १, पृ० २०

> इसलिये नाम अन्दरी सेवा है, मूर्ति धारण कर स्त्री जीव को बनाय के सेवा जो स्त्री-पुरुष का है सो सेवा करना। इसी का नाम भक्ति है। यह बहुत गुप्त भेद है, खोला कोई नहीं, लेकिन हम खोलकर लिखा है कि सबके समझ आ जाय।
>
> — वही, पृ० ७३

> यही गुप्त भेद कहा जाता है। पहले हम कह चुके हैं। इसका कारण यह है कि संसार में स्त्री-पुरुष से जगत भया है, पुरुष-प्रकृति से और उसका नाश होगा स्त्री-पुरुषें से। x x x गुरु बहुत हैं संसार में, जो इल्म और जो देवता का आराधना बताया सो गुरु भया। ऐसे गुरु को नहीं, जो गुरु सतगुरु हैं, जो अपनै मानस बताया कि गुरु की मूरत शिर पर धारणा अंदर करो, जैसे स्त्री अपने पति की पूजा, मान-जान करती है तैसे करो जीव को स्त्री बनाय के। जीव सबका स्त्री है, परा प्रकृति से जीव है इसलिये स्त्री है, शरीर का मालिक जेतना कुटुंवी जिस योनि में हैं सो सब हैं। जीव का मालिक पुरुष है जो तत्त्वज्ञान प्राप्त किया है, इसलिये दास कहा है, पुरुष कोई-कोई होता है। जो तत्त्वज्ञानी की मूर्ति वसाय लेता है तो वो ही रूप होता है। उसकी सेवा करने से अन्दर में संकल्प-विकल्प का नाश होता है, चौरासी संचित दग्ध हो जाता है। ये ही से सन्त सब गुप्त गूढ़ कहे हैं। जहाँ ऐसा शब्द होय तहाँ एही समझ लेना। इसी से भक्ति का साधन सब साधन से बढ़कर है। सब साधन इसी भक्ति के लिये हैं।
>
> — वही, पृ० ७४

नाम उसको कहते हैं जो गुरु का रूप सिर पर देखाने लगा तो जानो कि नाम पाये और भक्ति उसको कहते हैं कि सिर पर जीव स्त्री बन गुरु का सेवा अन्दर करता है, वो ही भक्ति है, और एक पर रहना, दूसरे तरफ ख्याल न करना वो ही धर्म है। कलि में एही हो सकता है और साधन करना सब निष्फल है, जेतनी मेहनत करो वो ही फल समझो।

— वही, भाग ४, पृ० १८

तत्त्वदर्शी परम सन्त हमारे स्वामीजी की उपर्युक्त पंक्तियाँ प्रतिपाद्य विषय का मर्म प्रकाशित करने के लिये पर्याप्त हैं।

वेद, उपनिषद्, पुराण, वेदान्त – सांख्य आदि शास्त्र-सबमें इस बात का उपदेश है कि ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है, अतः ब्रह्मज्ञान प्राप्त कर लेना परम पुरुषार्थ है जों केवल मनुष्य-शरीर द्वारा ही सम्भव है, शेष सभी योनियाँ भोगयोनियाँ हैं, अतः विषयों से विरक्त रहकर ईश्वर की भक्ति करके जन्म सार्थक कर लेना चाहिए, इत्यादि। जगह-जगह सत्कथाओं, प्रवचनों का भी आयोजन होता है जहाँ भक्तिमय जीवन बिताने की प्रेरणा प्राप्त होती है। हम भी जब बोलने लगते हैं तो तर्क और युक्तियों से सजाकर उपर्युक्त विषय पर प्रभावपूर्ण भाषण दे डालते हैं। किन्तु इस सबसे चित्त पर जो प्रभाव पड़ता है वह कुछ ही देर के लिये होता है, स्थायी नहीं होता, मन फिर भटकना शुरू कर देता है। जैसे शवदाह देखने के बाद उत्पन्न बैराग्य प्रायः स्थायी नहीं होता।

कारण स्पष्ट है। यदि हम गुलाब का खिला हुआ फूल कहीं से लाकर गुलाब की ही डाली में बाँध दें तो वह धीरे-धीरे मुरझाकर नष्ट हो जायगा। जो कली उसी डाली में से उत्पन्न होकर बढ़ेगी वही क्रमशः विकसित होकर फूल बन पायेगी। इस प्रकार विकसित हुआ पुष्प ही अपनी अवधि तक टिकाऊ रह सकेगा। उपर्युक्त प्रकार का सारा ज्ञान आरोपित ज्ञान है, ऊपर से लादा हुआ है, उसे स्थिर रहने के लिये कोई पकड़ नहीं मिलती, जीव की मूल प्रकृति से उसका कोई संवन्ध स्थापित नहीं हो पाता, फलतः वह टिकाऊ नहीं होता।

जब सद्गुरुदेव दया कर प्राप्त होते हैं तो वे जीव की मूल प्रकृति में ही दीक्षा द्वारा भक्तिबीज (परानाम) का वपन कर देते हैं, उसे बो देते हैं। इसके बाद

शिष्य के श्रद्धा-विश्वास, उसकी सेवा-भक्ति का अनुकूल संयोग सहयोग पाकर वह भक्तिबीज अंकुरित होता है। सन्त कहते हैं कि अनुकूलता प्राप्त न होने पर भी यह भक्ति बीज कभी नष्ट नहीं होता, यह अमर बीज है, यह तो कभी न कभी अंकुरित होगा ही –

भक्ति बीज बिनसै नहीं, जो जुग जायँ अनंत।

ऐसा भक्ति-अंकुर बढ़ने के बाद उसमें ज्ञान-वैराग्य आदि के जो फूल-फल लगते हैं वे उत्तरोत्तर बढ़ते ही जाते हैं, कभी नष्ट नहीं होते।

ग्रन्थों को पढ़कर या विभिन्न मत-पन्थों के साधुओं से थोथे निर्देश पाकर कोई भक्ति पाना चाहे तो यह सम्भव नहीं है क्योंकि स्मरण, ध्यान, सेवा, पूजा, उपासना के लिये प्रत्यक्ष वर्तमान चेतन आधार की आवश्यकता होती है, कल्पित आधार की नहीं। इसीलिये सन्त-सद्गुरु जीवों के प्रति करुणावश कष्ट, अपमान तथा विरोध सहकर भी अपना अनुभूत सत्य बतलाते ही रहते हैं कि भाई, तत्त्वदर्शी, अपने भीतर ब्रह्म का साक्षात्कार किए हुए प्रत्यक्ष वर्तमान समय के सद्गुरु की खोज करें, जो पृथ्वी पर सदा वर्तमान रहते हैं। उनसे भक्तिबीज (परानाम) का उपदेश प्राप्त करने और उनके द्वारा निर्दिष्ट उपासना-विधि अपनाने पर ही सच्ची साधना का श्रीगणेश होगा और वास्तविक सुख-शान्ति-समृद्धि आदि की समीपता का अनुभव शुरू होगा। ज्यों-ज्यों सद्गुरु की प्रभुता-दयालुता आदि गुणों पर विश्वास दृढ़ होता जायगा, भजन-अभ्यास में दृढ़ता आती जायेगी, त्यों-त्यों मन-बुद्धि पर छाई हुई दूषित संस्कारों की धुन्ध छँटती जायगी और सद्गुरु की दया और कृपा का अनुभव भी बढ़ता जायगा।

सन्त-सद्गुरुदेवों के इस निजी अनुभव पर अविश्वास करने या उसे नकारने का कोई कारण नहीं हो सकता। जिन प्रातःस्मरणीय महापुरुषों के नाम पर आज पन्थ और सम्प्रदाय चल रहे हैं वे भला किस पन्थ के थे, इस प्रश्न का समाधान पाने का प्रयास करें तो उनकी वास्तविकता स्पष्ट हो जायगी और हमारी भ्रान्तियाँ दूर हो जायेंगी।

पीछे हम यह भलीभाँति समझा आये हैं कि जन्म-जन्मान्तरों में निष्काम भाव से किए गए विभिन्न जप-तप, दान-धर्म आदि से उत्पन्न पुण्य साधन हैं जिनके फल स्वरूप सन्त-सद्गुरुदेव का दर्शन होता है –

पुन्य पुंज विनु मिलहिं न संता।

पुण्यों का फल सुख ही तो है, इसीलिये अत्यन्त उत्कट पुण्यराशि के फलस्वरूप अनन्त सुख के स्रोत सन्त-सद्गुरु की प्राप्ति हो जाती है –

संत मिलन सम सुख जग नाहीं।

जिन्हें वह सुख प्राप्त है वे भी उसका यथार्थ वर्णन नहीं कर पाते, थककर कह देते हैं – वह अनिर्वचनीय है। प्रभु ही जानें वह सुख हमें कभी प्राप्त होगा या नहीं। किन्तु सद्गुरुदेव द्वारा दिया गया शब्द कान में पड़ते ही हम उस पंक्ति में, सबके अन्त में ही सही, अवश्य खड़े हो जाते हैं, जिस पंक्ति के लोगों को अब मनुष्य-योनि (कर्मयोनि) के अतिरिक्त अन्य किसी भी योनि में जन्म नहीं लेना पड़ेगा. यही क्या कम सुख की बात है !

यह मान्यता कोरी कल्पना नहीं है। हम इस तथ्य को श्रीमद्भगवद्गीता के वचनों द्वारा प्रमाणित भी कर चुके हैं और सन्तों के वचनों द्वारा इस पर सत्यता की मोहर भी लगा चुके हैं।

किन्तु इसे भी छोड़कर धरती के सुख-दुखों पर विचार करें तो हम देखते हैं कि धर्म, सम्प्रदाय, जाति, ऊँच-नीच, छुआछूत, चोरी-डकैती, लूट-मार, अराजकता, नशाखोरी, जुआखोरी, निरंकुश यौनाचार, बढ़ती आबादी आदि का भयानक जहर जहाँ इस धरती पर कहर बनकर छाया हुआ है वहीं सद्गुरुदेव का वह आश्रम; जहाँ समय के सद्गुरुदेव विराजमान हैं, वहाँ उपर्युक्त क्लेशों में से एक का भी दर्शन नहीं होता। आश्रम में प्रवेश करते ही अपूर्व शान्ति का अनुभव होता है, मन सात्त्विक भावों से भर उठता है। सद्गुरु का आदेश मानकर चलनेवाले किसी भी शिष्य को ऊपर उल्लिखित कोई भी दुर्गुण स्पर्श भी कैसे कर सकता है। ऐसा व्यक्ति तो जहाँ भी रहता है, अपने आसपास के वातावरण को, अपने सम्पर्क में आनेवाले प्रत्येक व्यक्ति को भी प्रभावित किए विना नहीं रह सकता।

हम प्रायः समाजसुधार की उड़ती बातें किया करते हैं। समाज व्यक्तियों का समूह ही तो है। यदि एक-एक व्यक्ति सुधर जाय तो समाज-सुधार तो हो ही जायगा। इसीलिये सद्गुरुदेव समाजसुधार की बातें नहीं करते, समीप आए हुए प्रत्येक जीव को नामदान कर देते हैं और दूसरों से ध्यान हटाकर उसे आत्मकेंन्द्रित करने का प्रयास करते हैं। सन्त नारायण कहते हैं –

जो जे भावै सो करौ, भलो बुरो संसार।
नारायण तू बैठ के, अपनो भवन बुहार ॥

इस संसार का निर्माण ही भलाई और बुराई के मिश्रण से हुआ है। सन्त तुलसीदास कहते हैं —

जड़ चेतन गुन दोष मय, बिस्व कीन्ह करतार।
संत हंस गुन गहहिं पय, परिहरि बारि बिकार ॥

इस सृष्टि का एक-एक परमाणु जड़-चेतन और गुण-दोष का मिश्रण है। उसमें से किसी एक को भी हम कैसे अलग कर सकते हैं। ईश्वर का निर्माण है यह संसार। और हमें आवश्यकता भी क्या है यह सब करने की। हमें मात्र अपनी जरूरत पूरी करनी है, जितने दिन हम इस संसार में हैं। हंस दूध और पानी को अलग करने के चक्कर में कभी नहीं पड़ता, न ही दूध में पानी मिलानेवालों के विरुद्ध आन्दोलन छेड़ता। उसे जब भूख लगती है, वह अपनी चोंच डुबाकर दूध पी लेता है, पानी छोड़ देता है। नामदान द्वारा सद्गुरुदेव इस प्रकार के उपदेश देकर एक-एक जीव के सुधार में अहर्निश लगे रहते हैं, समाजसुधार अनायास, अपने आप होता रहता है।

सन्त-सद्गुरु का आश्रम ही वह स्थान है, जहाँ दीन-हीन, असहाय, समाज द्वारा तिरस्कृत, उपेक्षित अथवा परित्यक्त लोगों को समानता से आश्रय प्राप्त होता है। सन्त-सद्गुरु का आश्रम ही एक मात्र ऐसा स्थान है जहाँ कोई कहीं रुपया-पैसा चढ़ाने या देने को नहीं कहता। हम भले ही संकुचित हों कि हमारे पास भी खूब होता तो हम भी और लोगों की तरह गुरुदेव को कुछ सेवा समर्पित करते। विशुद्ध सन्त-सद्गुरु का आश्रम ही ऐसा स्थान है जहाँ इतना अधिक व्ययभार होते हुए भी साधु-शिष्य कभी भिक्षा नहीं माँगते, किसी से कुछ माँगना जहाँ निषिद्ध माना जाता है। जहाँ के सदस्य अपने खाने-पहनने के लिये कठोर श्रम-साधना द्वारा स्वयं उपार्जन करते हैं और आगन्तुकों को भी खिलाते हैं।

इस कोटि के विशुद्ध सन्त-गुरुदेव हमें कैसे प्राप्त हों ? इस प्रश्न पर दो बातें कही जा सकती हैं। या तो हमारे जन्म-जन्मान्तरों की संचित उत्कट पुण्यराशि का फल देने का समय आ गया हो, तो हमारे मन में सद्गुरु को प्राप्त करने की तीव्र आकांक्षा प्रबल हो जाए और तब अन्तर्यामी गुरुदेव हमें सुलभ हो ही जायेंगे —

पुन्य पुंज बिनु मिलहिं न संता।

अथवा असंख्य जन्मों से इस भवसागर में डूबते-उतराते हमारी दीनदशा पर उनका हृदय द्रवित हो जाए तो वे हमारी कुपात्रता को ही हमारी पात्रता समझ लें और हमें सुलभ हो जाएँ –

जब द्रवै दीनदयालु राघव साधु संगति पाइये।

पहली परिस्थिति का बनना कठिन लगता है। आज के सद्गुरु-दरबार को देखकर यही लगता है कि वे अपनी अहैतुकी करुणा से विवश होकर ही हम पापी जीवों के उद्धार के लिए अहर्निश प्रयत्नशील हैं।

पूर्ण सन्त-सद्गुरु के प्राप्त हो जाने पर भी उन्हें पहचान पाना कठिन है, उन्हें अपने जैसा देहधारी देखते हुए भी उनकी ब्रह्मरूपता पर विश्वास होना बहुत कठिन बात है। हमारे जटिल कुसंस्कार तथा परम्परा से प्राप्त धारणाएँ उन्हें सच्चिदानन्द परमात्मा का मूर्तिमान् स्वरूप मानने में बाधा उपस्थित करती हैं। यहाँ पूर्वोक्त उपनिषद् के सूत्रवाक्यों तथा सन्तवाणी पर पूर्वाग्रह से मुक्त विचार हमारे लिए सहायक सिद्ध हो सकता है।

सद्गुरुदेव के महाराजाओं के समान उच्चकोटि के वस्त्राभूषण, वैभव आदि देखकर यह समझने की भूल नहीं होनी चाहिए कि ये तो महान् भोगी दिखाई देते हैं, योगी कैसे हो सकते हैं क्योंकि सद्गुरु तो भक्ति के मूर्तिमान् स्वरूप होते हैं। भक्तों के लिए सन्त तुलसीदास कहते हैं –

सुर दुर्लभ सुख करि जग माहीं।
अंतकाल रघुबर पुर जाहीं॥

इस संसार में रहते हुए देवदुर्लभ सुख सबको सुलभ नहीं हो सकता। ऐसा सुख तो किसी धर्मशील महापुरुष के पास ही देखने को मिलेगा –

तिमि सुख संपति बिनहिं बोलाए।
धरम सील पहिं जाहिं सुभाए॥

यही तो उनकी पहचान है। यह उनका भूषण है, दूषण नहीं।

सद्गुरुदेव के दरबार में न पंचदेवोपासना का, न यज्ञ-दान-व्रत-जप-तप का ही कोई आयोजन देखने को मिलता अतः उन्हें अधार्मिक अनीश्वरवादी, अवैदिक आदि समझने की भूल नहीं कर बैठना चाहिए। वे ये सब किसलिए

करें ? ये सब तो साधन हैं — सकाम होने पर विविध भोगमय स्वर्ग आदि पुण्य-लोकों को प्राप्त करने के तथा निष्काम होने पर ज्ञान प्राप्त होने के। वे तो सब साधनों द्वारा साध्य, सब सुखों की खान, सब ज्ञान-विज्ञान की अधीश्वरी भक्ति प्राप्त कर चुके हैं। अपने परम आराध्य सद्गुरुदेव की उन्होंने अक्लान्त भाव से जिस तन्मयता के साथ सेवा की है उसके फलस्वरूप उनके सद्गुरुदेव उन्हीं में समाए बैठे हैं, उन्हें उन्होंने अपना ही स्वरूप प्रदान कर दिया है। अब वे अपने भीतर प्रकट अपने सद्गुरुदेव को छोड़कर किसकी सेवा-पूजा करने लगें, क्यों करने लगें ?

सद्गुरुदेव का भव्य उज्ज्वल वेष देखकर लग सकता है कि ये कैसे सद्गुरु हैं ? न ब्रह्मचारी लगते, न गृहस्थ, न वानप्रस्थ, न संन्यासी। कौन सा आश्रम है, इनका ? शास्त्र का तो आदेश है कि मनुष्य को अनाश्रमी नहीं रहना चाहिए पर ऐसा सोचना गलत होगा क्योंकि सद्गुरुदेव तो इन सभी आश्रमों द्वारा पाई जानेवाली हरिभक्ति प्राप्त कर चुके हैं। वे सभी आश्रमों से ऊपर की परमहंस अवस्था को प्राप्त कर चुके हैं। अब वे उदासीन (उत् + आसीन, सर्वोपरि विराजमान) हैं। तो अब उक्त चारों आश्रमों का कष्ट क्यों पालें ? किसी वाहन से गन्तव्य तक पहुँचकर हम उस वाहन को छोड़ ही तो देते हैं —

जिमि हरि भगती पाइ श्रम तजहिं आश्रमी चारि।

सद्गुरु दरबार में जाति, धर्म आदि का भेदभाव छोड़कर मानव मात्र एक पंक्ति में बैठकर प्रसाद ग्रहण करते हैं — यह बात भी हमारे गले के नीचे नहीं उतरती किन्तु हमें समझना चाहिए कि जाति-वर्ण आदि का प्रयोजन समाज की व्यवस्था का सुचारु संचालन मात्र है। तत्त्वविचार के प्रसंग में, जीव-कल्याण के विचार में इन शब्दों का कोई अर्थ नहीं है।

इस प्रकार उपनिषदों और सन्तवाणियों के साक्ष्य से स्पष्ट हो जाता है कि वर्तमान सन्तमत में हमारे वेदों, उपनिषदों, शास्त्रों तथा पुराणों के ही सनातन सिद्धान्त स्पष्ट व्यावहारिक रूप में समाए दृष्टिगोचर होते हैं। अतः सन्तमत को अवैदिक, अशास्त्रीय अथवा सनातन धर्म के विपरीत समझने की भूल नहीं करनी चाहिए।

सम्पूर्ण विचार का सार यही है कि यदि हमें इस मायामय त्रिगुणात्मक संसार में रहते हुए भी उसके प्रपंच से अप्रभावित रहने की युक्ति जानने की इच्छा हो,

यदि इस शरीर के भीतर विराजमान सच्चिदानन्द परमात्मा का साक्षात्कार कर आनन्द-समुद्र में निमग्न हो जाने की अभिलाषा हो, यदि हम कीट-पतंगादि विभिन्न योनियों में जन्म-मरण के चक्र से मुक्ति चाहते हों तो वर्तमान काल में पृथ्वी पर विराजमान, ब्रह्म का साक्षात्कार कर ब्रह्मस्वरूप हुए सद्गुरु की खोज कर उनसे उपदेश (परानाम की दीक्षा) प्राप्त करके सब प्रकार से उनकी सेवा-आराधना करने में ही हमारा कल्याण है।

ऐसी धुन तुममें लगै, जैसे तन में प्राण।
एकौ पल विसरूँ नहीं, हे परिपूरण काम ॥

